कोसल

जर्नल ऑफ़

दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी ऑफ़ अवध

(भारतीय विद्या को समर्पित)

JOURNAL

of

THE INDIAN RESEARCH SOCIETY OF AVADH

(DEDICATED TO INDOLOGY)

Volume III | July 1980 & January 1981 | Nos. I & II

EDITORIAL BOARD

Chief Editor—	Dr.	J. P. Sinha
Co-Editors—	Dr.	Swaminath Pandey
	Dr.	Gauri Shankar Tiwari
	Dr.	C. S. Singh
	Sri	Harish Chandra Mishra
Managing Editor—	Dr.	Hausila Prasad Singh

Rama Shankar Mishra
(Editor-in-charge)

कोसल

जर्नल ऑफ़
दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी ऑफ़ अवध
(भारतीय विद्या को समर्पित)

JOURNAL
of
THE INDIAN RESEARCH SOCIETY OF AVADH
(DEDICATED TO INDOLOGY)

1222, Delhi Darwaza, Faizabad-224001

Volume III | July 1980 & January 1981 | Nos. I & II

Published by

The Indian Research Society of Avadh
1222, Delhi Darwaza, Faizabad-224001
INDIA.

Price :

Annual Rs. 20.00 or S 7.00
Current Volume Rs. 20.00 or S 7.00
Back Volumes Rs. 25.00 or S 8.50 (each)

Printed at

Oudh Printing Press
Rekabganj, Faizabad-224001
INDIA

अनुक्रम

I सम्पादकीय

II लेख (Articles)

1. *Indian Theories of Beauty*— Dr. K. Krishnamoorthy, Prof. and Head, Deptt. of Sanskrit, Dharwar University, Karanatak. 1
२. ब्राह्मण्य और श्रामण्य की सगोत्रता— डा० हर्षनारायण, रीडर, दर्शन-विभाग, नार्थ ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी, शिलांग (मेघालय) ७
३. श्रावस्ती का सांस्कृतिक गौरव— प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी, भूतपूर्व टैगोर प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्वविभाग, सागर वि०वि०, सागर (म० प्र०) २३
४. हिन्दी लोकगीतों का छन्द: एक नया दृष्टिकोण— डा० राम बहाल तिवारी, रीडर, बंगला-विभाग, विश्वभारती, शान्ति निकेतन २७
५. हिमाचल में विष्णु और सूर्य-पूजा— डा० ललता प्रसाद पाण्डेय, प्रोफ़ेसर, इतिहास-विभाग, हिमाचल प्रदेश वि० वि०, शिमला ३३
६. वेदों में राष्ट्रीय भावना— डा० मानसिंह, रीडर, संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश वि० वि०, शिमला ३९
७. महात्मा तुलसीदास की काव्य-चेतना (एक तान्त्रिक दृष्टि)—डा० शिवशंकर अवस्थी, रीडर, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर ४५
८. उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक भूगोल— डा० शिवप्रसाद नैथानी, इतिहास-विभाग, गढ़वाल वि०वि०, श्रीनगर ५३
९. बौद्धधर्म में नारी— डा० कोमल चन्द्र जैन, संस्कृत-विभाग, बी० एच० यू०, वाराणसी ५५
१०. मारिशस के जनकवि : अभिमन्यु अनत— श्री श्यामधर तिवारी, हिन्दी-विभाग, गढ़वाल वि० वि०, श्रीनगर (गढ़वाल) ५९
११. वैष्णव तन्त्रों में समता का स्वरूप— डा० अशोक कुमार कालिया, संस्कृत-विभाग, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ ६५
१२. शकुन्तला का मदनलेख : एक सांस्कृतिक मूल्याङ्कन—डा० राजेन्द्र मिश्र, संस्कृत-विभाग, प्रयाग वि० वि०, इलाहाबाद ७३
१३. हिन्दी का व्यावसायिक लेखन— डा० सूर्य प्रकाश दीक्षित, रीडर, हिन्दी-विभाग, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ ७९

१४. हिन्दू शब्द की परिभाषा—प्रो० उद्धव आ० आसरानी, भूतपूर्व प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान-विभाग, काशी हिन्दू वि० वि० ,वाराणसी ८

१५. फैजाबाद जनपद का एक स्वल्प चर्चित प्रेमाख्यान— डा० शिव बालक शुक्ल,भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, केन सोसाइटी नेहरू महाविद्यालय, हरदोई ९

१६. कला का प्राण'रस'— श्रीमती क्षमा उपाध्याय, प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व-विभाग, मुनेश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़ ९

१७. ठक्-ठिकण् की वैज्ञानिकता— डा० दामोदर महतो, संस्कृत-विभाग, भागलपुर वि०वि०, भागलपुर, बिहार १०

१८. प्राचीन भारत में अप्सराओं की स्थिति— कु० आशा त्रिवेदी, शोध-छात्रा, (प्राचीन-इतिहास),अवध वि० वि०,फैजाबाद १०

१९. सुदूरपूर्वदेशेषु संस्कृतस्य प्रसारः— डा० श्रीपति अवस्थी, सहनिदेशक, उ० प्र०संस्कृत अकादमी, लखनऊ १०

२०. अद्वैतवाद और शून्यवाद की दार्शनिक पद्धति—कु० मञ्जु, शोध-छात्रा, (दर्शन शास्त्र), काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी ११

२१. सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता—डा० ओम् प्रकाश पाण्डेय,संस्कृत-विभाग ,केन सोसाइटी नेहरू महाविद्यालय, हरदोई ११

२२. अवध के हास्य साहित्यकार:जी०पी० श्रीवास्तव का समाजधर्म— डा० हौसिला-प्रसाद सिंह, हिन्दी–विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद १२

२३. अयोध्या में राम की मधुरोपासना— डा० कृष्णचन्द्र लाल, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर वि० बि, गोरखपुर १२

२४. गढ़वाल हिमालय में विद्युत-विकास की सम्भावनायें- श्री त्रिलोकी प्रसाद पन्त, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र-विभाग, गढ़वाल वि० वि०, श्रीनगर (गढ़वाल) १३

२५. शाण्डिल्यगोत्रीय ब्राह्मणों के केन्द्र- डा० गौरीशंकर तिवारी, (प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व),साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद

२६. मानस का मर्म — आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, लब्धप्रतिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी १४

२७. यशस्तिलकचम्पू में ओज गुण - कु० सत्यभामा श्रीवास्तव, शोध-छात्रा (संस्कृत), अवध वि० वि०, फ़ैजाबाद १५

28. *Bhitari Pillar Inscription : Some New Interpretations :* Dr. V.C. Pandey, Prof. and Head, Deptt. of Ancient History, Culture and Archeology, Punjab University, Chandigarh. 155

29. *Pottery Yard and its Functions in the Excavation* : Sri V. K. Tiwari, Dy. Director, Archeology, U. P. Govt., Jawahar Bhawan, Lucknow. 157

30. *Coins of Northern India :* (11th-12th Century) – Sri Tribhuwan Natha Pande, Deptt. of Cultural Affairs, Jawahar Bhawan, Lucknow. 163

31. *Two Controversial Aspects of Bharata's Theatre :* Dr. Radha Vallabh Tripathi, Reader, Deptt. of Sanskrit, Sagar University, Sagar, (M.P.) 167

32. *A Buddhist Critique of the Sphota Doctrine :* Dr. Karunesh Shukla, Reader, Deptt. of Sanskrit, Gorakhpur University, Gorakhpur. 175

33. *Vedanta : Tradition, Philosophy and Contemporary Significance :* Dr. S. D. Mishra, Assistant Professor of Sanskrit, Birla Institute of Technology and Science, Pilani, (Rajasthan). 183

34. *Tragedy and Indian Drama :* Dr. Swami Nath Pandey, Deptt. of Sanskrit, Saket P. G. College, Faizabad. 191

III. *BOOK-REVIEWS*

1. *The Krama Tantricism of Kashmir*, Vol. I by Navajivan Rastogi, Ph.D. : Sri Rama Shankar Mishra. 205

2. *Sun Worship in Ancient India* by Dr. Lalta Prasad Pandey : Dr. Gauri Shankar Tiwari. 206

३. नवाष्टकमालिका– अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र : श्री रमाशंकर मिश्र २०८

४. आर्यान्योक्तिशतकम् ,, ,, २०९

५. साहित्य मञ्जरी – पं०बटुकनाथ शास्त्री : डा० रुद्रदेव त्रिपाठी २१०

६. सूर-काव्य–मीमांसा– डा० हौसिला प्रसाद सिंह : डा० त्रिभुवन सिंह २११

७. मत्कुणायनम्— डा० शिवप्रसाद भारद्वाज : श्री गंगाप्रसाद २१२

८. हूणपराजयम्— ,, ,, २१२

९. वैश्वानर (काव्य)–श्री मृत्युञ्जय उपाध्याय : डा० हौसिला प्रसाद सिंह २१३

१०. आचार्य विद्यानन्द प्रणीत प्रमाण–परीक्षा–सम्पादक–डा. दरबारी लाल कोठिया– पं. रामनारायण त्रिपाठी २१४

११. प्रौढमनोरमाशब्दरत्नयोर्विचारभेदनां युक्तायुक्तत्वसमीक्षा— डा. सुधीरनारायण ठक्कुर : पं. रामनारायण त्रिपाठी २१५

१२. बाल समस्या–विशेषांक– सम्पादक-डा. सरयूप्रसाद चौबे : श्री गौरीशंकर पाण्डेय २१५

१३. अद्वैत वेदान्त में आभासवाद— डा० सत्यदेव मिश्र : श्री रमाशंकर मिश्र २१६

१४. वैदिक संस्कृति और दर्शन— डा० विश्वम्भर दयाल अवस्थी : श्री रमाशंकर मिश्र २१७

१५ जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र परिशीलन– डा. दरबारी लाल कोठिया : श्री रमाशंकर मिश्र २१८

16. *Navarasamanjari* and *Suryodaya* by *Narahari* and *Hari* : Edited by Prof. P. G. Lalye : Sri Rama Shankar Mishra. 219

१७. श्रीहर्ष प्रणीत नाटिकायें : एक सांस्कृतिक अध्ययन–श्री अशोक पाराशर : श्री रमाशंकर मिश्र २२१

IV. आवश्यक सूचना २२२

सम्पादकीय

कोसल का तृतीय-चतुर्थ संयुक्ताङ्क विद्वद्वर्ग के सम्मुख है। अत्यन्त सीमित साधनों के बीच 'कोसल' का प्रकाशन एक दुःसाहस ही है, किन्तु जिस स्वप्न के साथ इसका जन्म हुआ, उसके साकार होने की दिशा में दो-एक कदम बढ़ाने में यदि 'कोसल' सफल हुआ हो तो इसका समस्त श्रेय उन लेखक-पाठक-निर्देशक-प्रोत्साहक-महानुभावों का है, जिन्होंने अपने स्नेह-सीकर से इसे सींच रहे हैं।

राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति-प्राप्त विद्वानों ने अपने-अपने लेखों से इस अङ्क को गौरवान्वित किया है। परामर्शदात्री समिति के विद्वन्मूर्धन्य सदस्यगण से निरन्तर मिलने वाला प्रोत्साहन, निर्देशन एवं संवर्धन हम लोगों के लिये 'घनान्धकारेषु दीपप्रदर्शनम्'- तुल्य रहता है। आशा है कि विद्वज्जनों का उदार सहयोग तथा मार्गदर्शन भविष्य में भी 'कोसल' को प्राप्त होता रहेगा।

'अवध प्रिंटिंग प्रेस, फैजाबाद' के स्वामी बन्धुवर श्री सीताराम जी श्रीवास्तव और उनके सहयोगियों का अविचल धैर्य एवं अनुराग भी 'कोसल' के मुद्रण में बहुत सहायक रहा है। एतदर्थ वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

INDIAN THEORIES OF BEAUTY

Dr. K. Krishnamoorthy

Though the Indian quest for beauty is at least as old as the Vedas, we see formulation of æsthetic concepts only during historical times. It is a subject which has not received adequate attention by modern scholars in spite of its intrinsic interest. The reason is to be found not in its lack of importance, but in the paucity of material to build up a systematic line of thought. To Prof. M. Hiriyanna of Mysore goes the credit of initiating these studies from a philosophical perspective; while Rabindranath Tagore typified in himself not only the best in our classical literature but also the very cream of Indian æsthetic thought. At the outset, I should express my indebtedness to both as my thoughts are influenced by them to a considerable extent, though I shall try to restate the Indian theories of beauty in my own way.

The modern civilization geared to science and technology is no friend of beauty. Way back as 1852, Flaubert expressed his fear that "perhaps beauty will become a sentiment for which mankind has no further use and art will be something half-way between Algebra and music" (correspondence). But Goethe about the same time was far more optimistic. His study of history showed that art was an expression of the inmost human spirit and its victory over matter. He observes—

> "Whoever has truly grasped the meaning of history will realise in a thousand examples that the materialization of the spirit or the spiritualization of matter never rests, but always breaks out, among prophets, believers, poets, orators, artists and lovers of art".

The Indian speculations on beauty confirm the optimism of Goethe.

In the Rigveda itself we have the self-conscious use of the word *aramkriti*(VII-29.3) which is cognate with the later word *alamkriti* or *alankara* and which gives rise to the Indian name of æsthetics, namely, *Alankarashastra*. The Vedic term has a double connotation- one aesthetic and the other magical. The strength of a thing makes it an amulet and also an ornament. We have an analo-

gy in the English word "Charm" wherein both the magical and æsthetic shades are equally blended. In the Vedic usage *Aramkriti* and *Samskriti* are interchangeable terms which connote perfected creations, an once correct, beautiful and magically effective.

Before the age of thinkers who have given us several *darashanas* or well-ordered systems of philosophy, we have the creative period of the *Upanishads* and the *Bhagvadgita* who regard beauty as divine in essence. The absolute Reality is not only *sat* or Ever-existent and *cit* or all-knowing, but also *ananda* or spiritual bliss. The *Ananda* is characterised as the very joy of life, in all beings as they emerge from it and merge again into it.

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दात्

ह्येवं खल्विमानि भूतानि जायन्ते;

आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दम

प्रयन्त्यभिसम्विशन्ति ।

(*Taittiriya Upanishad*, III. 6.)

What is even more noteworthy, this all-embracing or universal *ananda* is said to be a resultant of *rasa*, the veritable bliss of *Brahman*.

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति ।

(Ibid. II. 7).

A commentary on another *upanishad* makes it clear that while *ananda* is the absolute source and end of all life, its manifestation as the external world and inner realm of mind is by way of beauty:

या या प्रकृतिरुदारा यो योऽप्यानन्दसुन्दरोभावः ।

यत्किञ्चिद् रमणीयं वस्तु शिवस्तत्तदाकारः ॥

(Commentary on *Atharvashirsha-Upanishad*

'Whatever is striking in Nature, whatever feeling or being is charming and joy giving, in short, whatever object is beautiful-all are so many manifestations of God Himself'.

Shri or *Lakshmi* is the name of beauty in general in Sanskrit and when personified, we have the Goddess of Beauty. Its general use is seen in the *Gita* which declares—

यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं

श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं
मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
(X. 41)

Whatever object in the universe is imposing, beautiful or spirited, take it to be a product of my own brilliant aspect !'

This theistic concept of beauty is further elaborated in many a *stotra* or religious hymn of praise. We may note here one or two examples: The great *Shankaracharya* has called one of his most celebrated hymns by the name *Saundaryalahari* and the goddess of beauty has such names as *Lalita* and *Tripurasundari* besides *Lakshmi*. The beauty of the goddess is such that it is beynod the imagination of ordinary beings and even Lord *Brahma*, the Creator, should strain himself to comprehend it. Celestial nymphs like *Rambha* and *Urvashi* too fail to realise it, and imaginatively become one with Shiva so that they might catch a glimpse of that Universal Beauty—

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चिप्रभृतयः ।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥
(Ibid, V. 12)

Similarly, in another hymn *Shrivatsanka Mishra* states– "Whatever glory the Lord enjoys, whatever beauty, grace and goodness are manifest in the universe– all that is dependent on you. Hense it is that they are indentified with you and called *Shri* or spoken of as graced with *Shri*—

ऐश्वर्यं यदशेषपुंसि यदिदं सौन्दर्यलावण्ययोः
रूपं यच्च हि मङ्गलं किमपि यल्लोके सदित्युच्यते ।
तत्सर्वं त्वदधीनमेव यदतः श्रीरित्यभेदेन वा
यद्वा श्रीमदितीदृशेन वचसा देवि प्रथामश्नुते ॥
(*Shri Stavam*. V.7)

Such is the religio-philosophical theory of Beauty reflected in Indian Sacred texts.

II

We might now turn to secular beauty. Our classical poets like *Kalidasa* and *Bhavabhuti* are seen depicting the beauty of Nature in general, and of feminine beauty in particular, in keeping with the religious backgro-

und noted above. *Bharavi* says that beauty is inherent in nature and do not depend upon any imposed feature:—

No birds are seen flying about
No clouds limned with rainbow,
Yet the sky is most beautiful
Natural beauty needs no adornment.

पतन्ति नास्मिन् विशदा. पतत्रिणो
धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः ।
तथापि पुष्णाति नमः श्रियंपराम्
न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥

(*Kiratarjuniya*, IV.23)

Almost all our poets echo this idea that natural beauty is in no need of artistic embellishment. *Magha* goes even a step further and adds that even distortion of natural beauty remains beautiful:—

रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति

(*Shishupalvadha*, V.5)

That is why in the classical convention of poets we have eighteen heads of natural description sea, city, mountain, season, sunrise, sunset, moonrise, water-sport, excursions, etc. Coming to creation of beauty, both *Kalidasa* and *Bhavabhuti* agree that a creator should be endowed with a divinely aesthetic temperament. That is why *Kalidasa* observes that a beauty-queen like Urvashi could have been conceived in the mind of only celestial connoisseurs like the shining moon, the love-god *Manmatha*, and the god of fresh spring. The poet cannot believe the story that any sage without taste could have brought her forth.

तस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूत् चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।

(*Vikramorvashiya*, I. 9)

Bhavabhuti echoes this idea in his verse about *Malati*—

सा रामणीयकविधेरधिदेवता वा
सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतनं वा—

(*Malatimadhava*, I.21)

Kalidas reiterates this in another way when he says that Parvati's beauty must have been fashioned by the Creator with special effort, combining in

proper proportion the ideal points of excellence in diverse objects, in order that a specimen of perfect beauty might emerge:-

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नाद् एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयैव
(*Kumara sambhava*, I. 49)

The creative artistic principle of combining the best things in the best things in the best order is evidenced here while the ever ravishing nature of beauty and its abiding value are brought out in his description of a hero as an embodiment of handsomeness, appearing fresh at every new look even like the ocean. This is echoed by *Magha* in his oft-quoted saying—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।
(*Shishupalavadha*, IV. 17)

The Mountain Raivataka renews its charming appeal, the more it is looked at by Krishna. The poet generalises that it is of the very essence of beauty that is appears new, each time it is observed, and it can never cloy.

III

From poets we might now turn to theorists on poetry. It is often thought that art is difficult to create but easy to discuss. But it is not a fact. Formulation of aesthetic theories took several centuries after our best epics and plays were composed. The poets in the meanwhile were developing as it were a vast repertoire of symbols and myths about beauty. All the mythological associations of *Lakshmi*, the goddess of beauty, with her brothers, namely, the moon and nectar, and her pet flower, the *padma* or lotus, became the standards for judging earthly beauty also. The love-god was armed with five flower - arrows- the *aravinda*, the *ashoka*, the *cuta*, the *navamalika* and the *nilotpala*. The very names have an enchanting association of a world of ideal of beauty. The spring rain-cloud and the southern wind were hailed as excitants of love. The bow of the love-god is a sugar-cane, and a row of bees his bow-string. The flower-arrows are shot unfailingly at the hearts of young lovers to cause sweet agony. Birds like the *cakravaka*, the *cacora*, the parrot and the swan, as well as animals like the deer, and the young elephant are depicted as if giving lessons in love to man. It is all a world of ethereal beauty and love created by the mytho-poeic imagination of our poets.

Our theorists too were steeped in this mytho-poeic background of beauty in their quest for principles underlying artistic creation. Their quest for beauty

down the centuries led them to formulate æsthetic concepts like *alankara*, *rasa*, *guna*, *aucitya*, *dhvani* and *vakrokti* and Their analysis of failure on the part of artists brought them to the concept of *Doshas* or defects. Broadly, we might say that *gunas* or excellent qualities relate to structural beauty of an art-work, while *alankaras* relate to ornamental beauty. More than these, however, is the principle of *rasa-dhvani* which points to symbolic beauty and is held as the very soul of all poetry and art in India.

Art-creation as well as genuine appreciation or heart-felt response demand an artistic or æsthetic imagination which is designated as *Pratibha*. It is a rare sensibility characterised by insight as well as intuition. The Indian turm for an art critic is *sahridaya* or one with a heart akin to the poet's; he is also often called a *rasika* or a man of cultivated taste, sometimes he is also called *bhavaka* or one who can easily fall into the mood of contemplating beauty, divesting himself of personal considerations. The creative poet should be impersonal and detached allowing himself to be possessed by a creative upsurge or afflatus (*rasavesha*) and the reader at the other end should be capable of totally surrendering himself to the contemplation of beauty embodied by the poet in his work. This self-surrender involving impersonal detachment and freedom from any activity as in the work-a-day world leads him to a state of pure enjoyment or relish of *rasa*, because his spirit is freed for the time being from the stresses and strains of an active life, and is characterised by *hridaya--samvada* or heart-felt kinship with the poet's artistic purport and *tanmayibhavana* or identity, as it were, with the art object presented to him, brimming with diverse shades of emotions. This state of æsthetic joy is termed *rasa* because it is akin to spiritual delight on the one hand and religious devotion on the other.

—:o:—

ब्राह्मण्य और श्रामण्य की सगोत्रता

डा० हर्षनारायण

भारतीय दर्शन के इतिहास-लेखन की परम्परा लगभग २०० वर्ष पुरानी है। वैसे दर्शन-संग्रह सम्बन्धी प्रयत्न इस देश में प्रायः १२०० वर्ष से निरन्तर चल रहा है। किन्तु खेद और आश्चर्य का विषय है कि भारतीय दर्शन का समग्र इतिहास आज तक नहीं लिखा जा सका। मैक्स मूलर से लेकर फ्राउवालनर और यदुनाथ सिनहा तक सभी तथोक्त दर्शनेतिहासकार प्रायः दर्शन-संग्रह से आगे नहीं बढ़ सके हैं। यदि उनके विभिन्न दर्शनों से सम्बद्ध अध्याय पृथक् कर दिये जायँ तो वे प्रायः स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में दिखायी देंगे। ऐसा नहीं लगेगा कि किसी एक पुस्तक के विविध अवयव बिखर गये हैं। ऐसे ग्रन्थ इतिहास कहे जाने के सर्वथा अनधिकारी प्रतीत होते हैं। और जब यहाँ दर्शनेतिहास ही नहीं बन सका तो दर्शनेतिहास-दर्शन की क्या कथा? वस्तुतः अब तक भारतीय इतिहास का कोई मीमांसा-शास्त्र भी यहां अब तक नहीं उभर सका है। भारतीय इतिहास के लेखक चाहे जिस पद्धति का अवलम्बन कर इतिहास लिख डालते हैं। स्वगृहीत पद्धति की जाँच पड़ताल की आवश्यकता का उन्हें पता ही नहीं है। अभी हाल में महाभारत-काल-निर्णय सम्बन्धी अधकचरे विचारों से हमारे दैनिक गुञ्जायमान हो रहे थे। कोई कहता था कि इतिहास में पत्थरी प्रमाण ही प्रमाणत्वेन ग्राह्य है। कोई कहता था कि इस सम्बन्ध में हमारे पौराणिक अभिलेख ही एक मात्र प्रमाण माने जाने चाहिए। आदि-आदि। किन्तु भारतीय इतिहास के प्रति दायित्व-चेतना के दर्शन नहीं हुए। भारतीय इतिहास की ज्ञान-मीमांसा प्रमाण-मीमांसा का प्रवर्तन नहीं हो सका।

इस स्थिति को देखते हुए हमें भारतीय दर्शनेतिहास ही नहीं प्राचीन भारतीय इतिहास मात्र के सही अवधारण तथा पुनर्लेखन की सुव्यवस्थित योजना अपेक्षित जान पड़ती है। इस आवश्यकता की यत्किञ्चित् चेतना हमें कार्ल पॉटर में देखने को मिलती है, किन्तु पाटर के पास भी अपेक्षित दृष्टि का प्रायः अभाव ही दिखायी देता है।

हमारी सुचिन्तित स्थापना है कि अन्तिम विश्लेषण में,और बीच-बीच में विरोधी धाराओं के बावजूद, भारतीय दर्शन का इतिहास मूलतः तत्त्वतः वैदिक दृष्टि के व्याख्यान-पुनर्व्याख्यान का इतिहास है। हम यह भी मानते हैं कि उक्त व्याख्यान के प्रयत्न में भारतीय प्रतिभा बुद्धोत्तर युग में अधिकतर मार्ग से स्खलित दिखायी देती है, जिसकी चेतना भारतीय दर्शन के व्याख्याताओं में प्रायः शून्य ही बैठती है।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी उपलब्ध ग्रन्थ को वेद से प्राचीनतर सिद्ध करना कठिन है। वेद का अल्पांश ही सम्प्रति उपलब्ध है, अधिकांश नष्ट हो चुका है। उपलब्ध वेदांश का सूक्ष्म अन्वीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वेद-प्रमाणक दर्शन तो वेद से निःसृत हैं ही, तथोक्त नास्तिक दर्शन का भी उद्गम अन्ततः वेद ही सिद्ध होता है। यह आगे स्पष्ट होगा।

यदि इस धारणा में कुछ बल है तो मानना होगा कि हमारे दर्शनेतिहास का ढाँचा कुछ इस प्रकार का होना चाहिए जिससे यह तथ्य प्रतिफलित हो सके। वस्तुतः इस सिद्धान्त को ग्रहण कर लेने के बाद हमारी इतिहास-दृष्टि आमूल-चूल परिवर्तित हो जायेगी। इस व्यापक परिवर्तन की सम्भावना का विश्लेषण करने के पूर्व हमें अपने सभी दर्शनों की वेदमूलकता के सिद्धान्त को विशद करना आवश्यक है।

हमें यह मानकर ही चलना होगा कि वेद में ऐसे कई प्रतिमान (इन्ट्यूशन) पाये जाते हैं जिनके महत्त्वपूर्ण निहितार्थों और फलितार्थों की कल्पना स्वयं मन्त्रकारों को नहीं थी। उदाहरण लीजिए। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में तथा अथर्ववेद में भी यत्र-तत्र स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि परम तत्त्व ही एकांशेन जगत् हो गया है और उसका शेषांश विश्वातीत है—

एतावानस्य महिमा,ऽतो ज्यायांश् च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि,त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥[1]

गीता में भी इसका अनुवदन करते हुए कहा गया है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत् ॥[2]

बात सीधी-सादी प्रतीत होती है, किन्तु इसके निहितार्थों पर विचार करने पर स्थिति एकदम भिन्न हो जाती है। मंत्र में निगुम्फित दृष्टि उपासना और भक्ति की आधारशिला सिद्ध होती है, वह विश्व-विकास की मूल प्रेरणा का कार्य करती प्रतीत होती है। उसके आधार पर एक वैदिक द्वन्द्व-न्याय (डायलेक्टिक) की प्रतिष्ठा सम्भव और अपेक्षित दीखती हैं, और सबसे बड़ी बात यह है कि वह ब्राह्मण-और श्रमण परम्पराओं की मौलिक एकता का उद्घोष करती जान पड़ती है। इन निहितार्थों पर संयत किन्तु साहसपूर्ण चिन्तन की अपेक्षा है।

भक्ति उस तड़प का नाम है जो भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति पायी जाती है। इस तड़प का कारण क्या है? यदि भक्त और भगवान् सर्वथा भिन्न सत्ताएँ हैं तो प्रथम को द्वितीय के लिए इतनी आतुरता क्यों? भिन्न सत्ताओं का अर्थ है आत्म-पूर्ण,स्वतःपूर्ण सत्ताएँ। इनके आत्मपूर्ण होने की स्थिति में एक की दूसरे के प्रति तड़प का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे पता चलता है कि भक्त और भगवान् में अंशांशि-भाव का सम्बन्ध है। अंश किसी प्रकार अंशी से बिछुड़ गया है, और पुर्नमिलन के लिए बेताब है। हाफिज का शेर है:—

ताइरे गुल्शने कुद्सऽम चि दिहम र्शहि फिराक
कि दर ईं दाह-गहे हादिसः चूँ उफ्तादम्?

अर्थात् मैं भगवद्-वाटिका का पक्षी हूं, नहीं जानता कि उससे पृथक् कैसे हो गया। स्पष्ट है कि भक्त भगवान् का ही बिछुड़ा हुआ अंश है। श्री अरविन्द ने वैष्णव तथा ईसाई भक्तों का किञ्चित् अनुगमन करते हुए माना है कि भक्ति की तड़प एकपक्षीय नहीं होती, उभय-पक्षीय होती है।

मुम्किन नहीं कि आग इधर हो उधर न हो

यह अवश्य कहा जा सकता है कि अंश में अंशी के प्रति तड़प अधिक होती है। लगता है कि इसमें व्याकरण-महाभाष्य में निरूपित आन्तर्य-नियम कार्यशील है, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने मूल की ओर उन्मुख होती है। अग्नि का मूल सूर्य है, अतः वह ऊर्ध्वोन्मुख पाई जाती है। पार्थिव पदार्थों का मूल पृथ्वी है, अतः वे निम्नग होते हैं।[3] इस नियम के प्रतिरूप

इस्लाम[4] और यूनानी दर्शन[5] में भी प्राप्त होते हैं। इसका चरम मूल वैदिक वाङ्मय प्रतीत होता है।[6]

पुरुष-सूक्त के उपर्युदाहृत मन्त्र में एक गम्भीर द्वन्द्व-न्याय अन्तर्निहित है। उसके अनुसार एक ही पुरुष विश्व-पुरुष और विश्वातीत पुरुष के रूप में विभक्त है। ऐसी दशा में, जैसा ऊपर इङ्गित किया गया है, उभय-पुरुषांश पुनर्मिलन के लिए बेताब होने ही चाहिएँ। इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति जगत् के कण-कण में किसी न किसी रूप में दिखायी देती ही है। जगत् प्रतिक्षण परिणामी पाया जाता है। लगता है कि वह किसी भी स्थिति में पूर्णतः संतुष्ट नहीं है। मानव के स्तर पर एतादृश असंतोष भीषण रूप धारण कर लेता है। वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर की खोज में निरन्तर बेचैन रहता है। हाली का शेर है:—

है जुस्तजू कि खूब से है खूबतर कहाँ
अब देखिए ठहरती है जाकर नजर कहाँ

वस्तुतः यही तड़प सामान्यतः जागतिक और विशेषतः मानवीय विकास का मूल है। होता यह है कि पूर्वावस्था उत्तरावस्था को जन्म देती है जो पूर्वावस्था की प्रतियोगी के रूप में उभरती हैं। पुनः ये दोनों अवस्थाएँ सम्मिलित रूप से एक पूर्णतर तृतीय अवस्था का कारण बनती हैं। इसी प्रकार तृतीय अवस्था भी अपने प्रतियोगी का कारण बनती है, और दोनों अवस्थाएँ मिलकर एक समन्वित तथा पूर्णतर अवस्था की उद्भावना करती हैं। इस क्रम को पश्चिमी द्वन्द्व-न्याय की भाषा में थीसिस, ऐन्टीथीसिस, और सिन्थेसिस कहते हैं, जिनके भारतीय प्रतिरूप इस प्रकार बनते हैं:—

स्थापना	प्रतिस्थापना	समन्वय
वाद	प्रतिवाद	संवाद
स्थापना	आक्षेप	सिद्धान्त
पूर्वपक्ष	उत्तरपक्ष	सिद्धान्तपक्ष
अनुयोगी	प्रतियोगी	समन्वय
सङ्कल्प	विकल्प	अध्यवसाय
विसेध	निषेध	प्रसेध

वस्तुतः वैदिक वाङ्मय में ढेरों त्रिक भरे पड़े हैं जो उक्त द्वन्द्व-न्याय के उदाहरण प्रतीत होते हैं। खेद है कि इन त्रिकों के व्यवस्थित अध्ययन की ओर दो सम्मान्य अपवादों– मधुसूदन ओझा और भगवान्दास – को छोड़कर दार्शनिकों का प्रायः ध्यान ही नहीं गया है। यह संतोष का विषय है कि उक्त दो अपवादभूत मनीषियों ने इन त्रिकों की मीमांसा में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। ओझा अश्रुतपूर्व वैदिक विद्वान् थे। भगवान्दास ने वेदज्ञता का दावा तो कभी नहीं किया, किन्तु उन्होंने त्रिकों के सूत्र को मजबूती से पकड़ा था। उनका सारा दर्शन त्रिक-दर्शन अथवा त्रैराशिक दर्शन कहा जा सकता है।

अस्तु एक दृष्टि से विश्व का समूचा इतिहास विश्व-पुरुष और विश्वातीत पुरुष की द्वन्द्वमूलक क्रिया-प्रतिक्रिया का इतिहास है। मानव की चरम सिद्धि इसी तत्त्व के साक्षात्कार में निहित कही जा सकती है।

विश्व-पुरुष और विश्वातीत पुरुष को हम द्वन्द्व-न्याय की भाषा में क्रमशः स्थापना और प्रतिस्थापना कह सकते हैं। इनका समन्वय जिस पुरुष में होता है उसे गीता में उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम की संज्ञा दी गयी है। यह बात आगे स्पष्ट होगी। इस प्रकार वैदिक द्वन्द्व-न्याय का मौलिक रूप इस प्रकार बनता है:—

विश्व-पुरुष	विश्वातीत पुरुष	उत्तम पुरुष

हमारा यह निष्कर्ष ठोस आधार रखता है। शुक्लयजुर्वेद-संहिता के अन्तिम, चालीसवें अध्याय में, जिसका नाम ईशावास्योपनिषद् पड़ा है, द्वन्द्व-न्याय का एक अपूर्व रूप प्राप्त होता है जो पुरुष-सूक्त के उपर्युक्त द्वन्द्व-न्याय से निःसृत प्रतीत होता है। उसे हम इस प्रकार निरूपित कर सकते हैं:—

सम्भूति	असम्भूति	उभयंसह
अविद्या	विद्या	उभयंसह

इस सूची में हम अन्य श्रोतों से एक और प्रकार के त्रिक जोड़ सकते हैं:—

कार्य-ब्रह्म	कारण-ब्रह्म	पर-ब्रह्म
अपर-ब्रह्म	पर-ब्रह्म	परात्पर-ब्रह्म
सगुण-ब्रह्म	निर्गुण-ब्रह्म	पर-ब्रह्म

कहा गया है कि वे लोग अन्धकार में प्रवेश करते हैं जो सम्भूति तथा अविद्या की उपासना करते हैं और घोरतर अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं जो असम्भूति तथा विद्या की उपासना करते हैं:—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः ॥
अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥[7]

इससे कोई यह न समझ बैठे कि सम्भूति और असम्भूति, विद्या और अविद्या, दोनों ही हेय पदार्थ हैं, अतः आगे यह जोड़ा गया है कि सम्भूति और अविद्या का फल और है तथा असम्भूति और विद्या का फल और ही। अर्थात् इनमें से कोई भी अपने में हेय नहीं:—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥
अन्यदेवाहुर् विद्यया, अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस् तद् विचचक्षिरे ॥[8]

इस प्रकार एक ओर सम्भूति और अविद्या तथा दूसरी ओर असम्भूति और विद्या परस्पर प्रतियोगी के रूप में उभरती हैं। इसके तुरन्त बाद उनके समन्वय का भी प्रतिपादन मिलता है— इस प्रकार कि, जो असम्भूति और सम्भूति, विद्या और अविद्या, का समन्वय करके चलता है वह (अन्धकार में प्रवेश न करके) अविद्या और सम्भूति द्वारा मृत्युञ्जय बनकर सम्भूति और विद्या द्वारा अमृत की प्राप्ति कर लेता है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस् तद् वेदोमयंसह
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या ऽमृतमश्नुते ॥

विद्यां चाविद्यां च यस् तद् वेदोमयंसह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया ऽमृतमश्नुते ॥[9]

कुछ इसी आशय का एक मंत्र अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है—

विद्याश् च वा अविद्याश् च यच् चान्यदुपदेश्यम्
शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋक्, साम, अथो यजुः ॥[10]

इस मन्त्र में भी शुक्लयजुर्वेदीय त्रिक का सगोत्र त्रिक दिखायी देता है—

विद्या	अविद्या	अन्य उपदेश्य
ऋक्	साम	यजुः

यहाँ भी स्पष्ट है कि विद्या और अविद्या दोनों ही उपदेश्य हैं और दोनों के परे भी कुछ है जो उपदेश्य है। हम यजुर्वेद से प्रेरणा लेकर इस तृतीय उपदेश्य को पूर्वोक्त उपदेश्यद्वय का समन्वय मान सकते हैं। आथर्वण मन्त्र की विशेषता यह है कि उसमें इस त्रिक का सम्बन्ध क्रमशः ऋक्-साम, और यजुः से जोड़ा गया है। यह सम्बन्ध विचारणीय है,किन्तु इस विचारणा को हम स्थगित करते हैं।

इस प्रकार वैदिक द्वन्द्व-न्याय एक गम्भीर समन्वय-दृष्टि, सर्वाङ्गीण चिन्तन, पर प्रतिष्ठित प्रतीत होता है। यह समन्वय-दृष्टि हमें अतिवादों से बचाती है।

ऐसा आभास होता है कि आदि वैदिक युग में समग्र पुरुष ज्ञानियों द्वारा समग्र और संश्लिष्ट रूप से उपास्य था। क्रमशः विश्वपुरुष और विश्वातीत पुरुष की स्वतन्त्र कल्पना का विकास हुआ, और विश्वपुरुष की कल्पना प्रवृत्ति–दृष्टि की तथा विश्वातीत पुरुष की कल्पना निवृत्ति-दृष्टि की जनक बनी। पहले ये दोनों दृष्टियाँ एक-दूसरे की पूरक के रूप में उभरीं, और पूर्णतः वैदिक मानी जाती थीं। उदाहरण लें—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैः श्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥[11]
उभयं वेदवचनं—कुरु कर्म त्यजेति च ॥[11क]
एवं विदित्वा सर्वार्थिनारभेतेति वैदिकम्
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥[12]

प्रवृत्ति-दृष्टि से कर्म-पथ, यज्ञ-पथ, धर्म-पथ, प्रशस्त हुआ, और निवृत्ति-दृष्टि से ज्ञान-पथ, ब्रह्म-पथ, प्रसङ्गतः, यह विभाग वैदिक परम्परा में ही नहीं, अन्यत्र भी। देखने को मिलता है, यथा सुत्तनिपात में।[13] हम विश्व से बरतते हैं और विश्वातीत से ज्ञान का सम्बन्ध रखते हैं, उसकी ओर उड़ान भरते हैं। इस प्रकार कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों ही परस्पर पूरक के रूप विकसित हुए। दोनों मिलकर एक सुव्यवस्थित, समन्वित, संश्लिष्ट जीवन के निर्माण के साधन बने। कालान्तर में कर्म-मार्ग की संज्ञा 'योग' पड़ी और ज्ञान-मार्ग की साङ्ख्य। इन्हें लेकर दो प्रवृत्तियाँ पनपीं – योग और साङ्ख्य।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञान-योगेन साङ्ख्यानां, कर्म-योगेन योगिनाम् ।।[14]

ये दोनों सम्प्रदाय मूलतः पृथक् अथवा प्रतिद्वन्दी नहीं थे। दोनों की चरम परिणति एक थी दोनों का पर्यवसान एक सुघड़ जीवन के विकास में होता था। —

साङ्ख्य-योगौ पृथग् बालाःप्रवदन्ति, न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।
यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।[15]

वस्तुतः कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों ही उभमात्मक थे, भेद केवल प्राधान्य-अप्राधा का था। कर्म-मार्ग में भी ज्ञान था, किन्तु कर्म का प्राधान्य था, ज्ञान-मार्ग में भी कर्म था, कि ज्ञान का प्राधान्य था।

प्रसङ्गतः वेद में एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ आदि संख्याओं को प्रती प्रहेलिका, कूट आदि के रूप में प्रयुक्त करके विविध तत्त्वों का भूरि-भूरि प्रतिपादन प्राप्त होता है इन सङ्ख्याओं के रहस्योद्घाटन के विना वेदार्थ का उद्घाटन कठिन है। हमारी धारणा है संङख्या-विचार द्वारा वेदार्थ के उद्घाटन का आद्य सुव्यवस्थित प्रयत्न ही साङ्ख्य-शास्त्र, साङ्ख् दर्शन, के जन्म का कारण हुआ।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त समन्वयकारी देशना के बावजूद वैदिक युग में कुछ अतिवाद उभरने लगे थे, जिन्हीं के प्रति प्रतारणा का भाव यजुर्वेद के उक्त स्थलों में प्रा होता है। कुछ लोग विश्व-पुरुष को अतिशय महत्त्व देने लगे होंगे और फलतः भौतिक शक्ति कार्य-ब्रह्म, की उपासना आरम्भ हो गयी होगी। अन्य लोग विश्वातीत पुरुष, कारण-ब्रह्म, को सब कुछ समझने लगे होंगे। हम समझते हैं कि साङ्ख्य-योग में प्रकृति-लय की चर्चा इन्हीं के सन्दर्भ में आयी है।

साङ्ख्य-योग-परम्परा के अनुसार पुरुष-तत्त्व के ज्ञान से शून्य वैराग्य की साधना का फल प्रकृति-लय और राग का फल है संसार—

वैराग्यात् प्रकृति-लयः, संसारो भवति राजसाद् रागात्
ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात् तद्विपर्यासः ।।[16]

यहाँ 'प्रकृति' के अंतर्गत अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, महाभूत, और इन्द्रियों का समावेश है 'प्रकृति-ग्रहणेन प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषुलयः।'[17] यह कहा गया है कि इन्द्रियोपासक दस मन्वन्तर तक जन्म नहीं लेते, महाभूतोपासक सौ वर्ष तक, अहङ्का रोपासक सहस्र वर्ष तक, महत्तत्त्वोपासक दस सहस्र वर्ष तक, और अव्यक्त के उपासक एक लाख व तक जन्म नहीं लेते—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः,
भौतिकाश् च शतं पूर्णं, सहस्रं त्वाभिमानिकाः,
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः,
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।

इसके तुरन्त बाद यह भी जोड़ा है कि निर्गुण पुरुष की प्राप्ति हो जाने के बाद काल की कोई सङ्ख्या ही नहीं रहती—

निर्गुणं पुरुषं प्राप्य काल-सङ्ख्या न विद्यते ॥[18]

अतः प्रकृति-लीन की अन्ततः संसार में पुनरावृति अवश्यम्भावी है। उनके संस्कार क्षीण नहीं होते, अतः उनमें राग की पुनरुत्पति सम्भव हो जाती है।[19] जैसे जल-मग्न पुरुष पुनः ऊपर आता है, वैसे ही प्रकृति-लीन पुरुष पुनः आविर्भूत होता है— 'न कारण-लयात् कृतकृत्यता, मग्नवदुत्थानात्।[20] ऐसे पुरुष के विषय में कहा गया है कि वह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होता है— 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता।'[21] यदि उसे ईश्वर की संज्ञा दी जाय तो साङ्ख्यप्रवचनसूत्र-कार को कोई विप्रतिपत्ति नहीं— 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'।[22] तथापि जब तक निर्गुण पुरुष का बोध नहीं होता, तब तक उक्त प्रकारक ईश्वर को भी संसार के बन्धन में फँसना ही पड़ता है। प्रकृति-लयत्व एक प्रकार का अनित्य कैवल्य माना जा सकता है। 'भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृति-लयानाम्' [23] सूत्र के व्यासभाष्य में कुछ ऐसा ही सङ्केत प्राप्त होता है—'प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्तियावन् न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच् चित्तम्। [24]

अस्तु, इन उपासकों द्वारा विश्व-पुरुष की और अन्यों दारा विश्वातीत पुरुष की उपेक्षा आरम्भ हो गयी होगी। इस प्रकार के अतिवादों की भर्त्सना ही उक्त वैदिक मन्त्रों में विवक्षित जान पड़ती है। सम्भवतः विश्व-पुरुष को ही पुरुष मानने वाला समुदाय भी कालान्तर में दो भागों में बँट गया—एक घोर अतिवादी सम्प्रदाय जो विश्व का अर्थ प्रत्यक्ष जगत् समझ कर धर्म की मूल, भूमा-दृष्टि से दूर जा पड़ा और दूसरा द्रव्ययज्ञवादी सम्प्रदाय। घोर अतिवादी इहलोकवादी बनकर रह गये। यज्ञवादी इस लोक के परे भी किसी लोक की सत्ता मानते थे, किन्तु वे उसे भी अन्ततः सीमित ऐहिकता से मण्डित कर देते थे। अर्थात् उनके लिए परलोक इहलोक का ही प्रलम्बित रूप है, इहलोक के ही भोग परलोक में प्राप्त होते हैं, यद्यपि अधिक मात्रा में। इहलोकवादी परम्परा को हम लोकायत नाम से जानते हैं। पाणिनि के 'अस्ति, नास्ति,दिष्टं मतिः[25]'सूत्र से यही ध्वनित होता है। यज्ञवादी परम्परा वेदवादरतों की परम्परा थी, भोगैश्वर्यप्रसक्तों की परम्परा थी। ये दोनों सम्प्रदाय नान्यदस्तीतिवादी सम्प्रदाय थे, जिनकी निन्दा गीता के विविध स्थलों में प्राप्त होती है। [26]

ये दोनों सम्प्रदाय बुभुक्षुओं के सम्प्रदाय थे, प्रवृत्तिमार्गियों के सम्प्रदाय थे। इनकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी और वह मुमुक्षुओं अथवा निवृत्तिमार्गियों के सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुई।

उक्त अतिवादों से बचने के प्रथम सशक्त प्रयत्न के दर्शन हमें उपर्युदाहृत यजुर्वेदीय मन्त्रों में होते हैं। सम्भवतः इसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मण-क्षत्रिय द्वन्द्व प्रकट हुआ, जिसके दोनों अङ्ग—ब्राह्मण का कर्म-काण्ड और क्षत्रिय का ज्ञान-काण्ड—परस्पर पूरक के रूप में उभरे और याज्ञवल्क्य प्रभृति के समन्वित प्रयत्नों के रूप में सामने आये। कालान्तर में साङ्ख्य घोर नैष्कर्म्यमूलक निवृत्ति-मार्ग का पोषक बना और योग-परम्परा ने कर्मकाण्ड-मूलक प्रवृत्ति-मार्ग का रूप लिया। इस प्रकार ब्राह्मण-श्रमण-द्वन्द्व का सूत्रपात हुआ। कभी ब्राह्मण और क्षत्रिय परम्पराएँ परस्पर भिन्न और अपेक्षया स्वतन्त्र थी। गीतोक्त कर्मयोगराजर्षियों में विकसित हुआ था,[27] और ब्रह्मविद्या के अनेक गूढ रहस्य ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से सीखे—'इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिश्चन

ब्राह्मण उवास । तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि ।' 'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति । तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियादधस्तादुपास्ते राजसूये ।' 'इयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति ।' [28]

श्रमण-परम्परा का मूल उत्स साङ्ख्य ही प्रतीत होता है । मौलिक्य साङ्ख्य-परम्परा दो प्रवृत्तियों का कारण बनी । एक प्रवृत्ति मध्यकालीन साङ्ख्य में दृष्टिगत होती है । मौलिक्य साङ्ख्य और मध्यकालीन साङ्ख्य में स्पष्ट भेद हो जाता है । मौलिक्य साङ्ख्य वस्तुतः वेदान्त था, जब कि उत्तर साङ्ख्य अद्वैत से नाता तोड़ चुका प्रतीत होता है । यदि उसमें परम पुरुष, परब्रह्म, की सत्ता का सर्वथा लोप अथवा निषेध न भी हो, तो तत्सम्बन्धी चिन्तन का अभाव तो स्पष्ट ही है। मौलिक्य साङ्ख्य की दूसरी धारा श्रमण धारा है, जो भी ब्रह्म-तत्त्व के प्रति उदासीन अथवा उससे विमुख दीखती है । आदि काल में ब्राह्मण और श्रमण में उतनी प्रतिस्पर्धा अथवा शत्रुता नहीं थी जितनी बाद में दिखायी देती है । बुद्ध ब्राह्मण-श्रमण पद का प्रचुर प्रयोग करते हैं और दोनों का उल्लेख अधिकतर आदर-पूर्वक करते हैं ।[29] वे वैदिक ऋषियों को भी उच्चकोटि के मानव समझते प्रतीत होते हैं और स्थान-स्थान पर उनकी प्रशस्ति करते पाये जाते हैं ।[30] किन्तु शायद उनके अनुयायियों की अतिवादिता, पाली में शास्त्र-रचना, और अब्राह्मणों के उत्कर्ष के फलस्वरूप ब्राह्मण और श्रमण एक दूसरे के शत्रु बन गये, यहाँ तक कि महाभाष्यकार को ब्राह्मण और श्रमण में अहि-नकुल भाव का सम्बन्ध दिखायी देने लगा— "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" [अष्टाध्यायी २.४.९] इत्यस्यावकाशः— श्रमणब्राह्मणम् ।'[31]

बुद्ध और उनसे प्राचीनतर श्रमणों में कई ऐसे मिलते हैं जिनका वैदिक परम्परा से अच्छा सम्बन्ध प्रतीत होता है । जैनों के आदितीर्थङ्करद्वय ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती वर्णव्यवस्था के प्रतिष्ठापक के रूप में सामने आते हैं । ऋग्वेद में 'मुनयो वातरशनाः' की चर्चा है, जिनके प्रति वहाँ घृणा की गन्ध भी नहीं है ।[32]

साङ्ख्य और योग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, की बढ़ती हुई खाई के पाटने का द्वितीय सशक्त प्रयत्न गीता में देखने को मिलता है । जिसे वेद में सम्भूति और असम्भूति कहा है उसे गीता ने क्षर और अक्षर की संज्ञा दी है । वैदिक द्वन्द्वन्याय का तृतीय घटक अनिर्दिष्ट छोड़ दिया गया है, जब कि गीता में उसे उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम का लाक्षणिक अभिधान प्रदान किया गया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश् चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥[33]

इसी प्रकार, वेद में विद्या और अविद्या के समन्वयकारी तृतीय तत्त्व को अनिर्दिष्ट अथवा अनभिहित छोड़ दिया गया है, जब कि महाभारत में इस त्रैत का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टाऽन्यैर् मोक्षवित्तमैः—
ज्ञानं लोकोत्तरं यच् च, सर्वत्यागश् च कर्मणाम् ॥
ज्ञान-निष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः
कर्म-निष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः
प्रहायोभयमप्येवं ज्ञानं कर्म च केवलम्
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥[34]

हां ज्ञान-निष्ठा,कर्म-निष्ठा और एक तृतीय निष्ठा का सङ्केत है। इसके पूर्व साङ्ख्यज्ञान,योग, और हीपाल-विधि नामक त्रिविध मोक्ष-धर्म का उपदेश है—

साङ्ख्यज्ञाने च, योगे च, महीपाल-विधौ तथा
त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः ।।[35]

हीपाल-विधि अर्थात् क्षत्रिय का तत्त्वज्ञान । स्पष्ट है कि क्षत्रिय की ब्रह्मविद्या कभी ब्राह्मण और मण, योग और साङ्ख्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय पर प्रतिष्ठित थी।

क्षर पुरुष को सब कुछ मान कर कर्म-काण्ड में ही रत रहने वाले सम्प्रदाय को गीता के काल में भी योग ही कहते थे, और अक्षर को सब कुछ मान कर चलने वाले सम्प्रदाय का नाम ाङ्ख्य था। ये दोनों सम्प्रदाय परस्पर पूरक होकर पुरुषोत्तम में पर्यवसित होते थे, किन्तु ये ालान्तर में पृथक् और प्रतिद्वन्दी बन गये। अतः गीता उनके मौलिक स्वरूप का स्मरण करते हुए हती है—

साङ्ख्य-योगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः ।[36]
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।[37]

यह समन्वयवाद बाद में ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद के रूप में वेदान्त की परम्परा में पुनः पुनः कट होता है। किन्तु अन्ततः वह भी अपना स्वरूप खो कर एक नये निवृत्ति-मार्ग का ही पोषण रने लग जाता है। इस नये निवृत्ति-मार्ग का नाम भक्ति-मार्ग है। भक्ति-परम्परा अरवाड़ सन्तों के ाथों परवान चढ़ती हुई वैष्णव धर्माचार्यों के काल में यौवन को प्राप्त हुई। चूँकि यह परम्परा ोक को लोक से अन्ततः विमुख अथवा निवृत्त ही करती है, लौकिक कर्म-साधना से पराङ्मुख ही रती है, अतः इसे निवृत्ति-मार्ग की ही शाखा-विशेष मानना उचित है। भक्ति-परम्परा को निवृत्ति-रक मान कर ही विष्णुपुराण में कभी कहा गया था—

स्वधर्म-कर्म-विमुखाः कृष्णकृष्णेति राविणः
ते हरेर् द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ।।[38]

देश लगभग एक सहस्राब्दी से ज्ञान-मूलक अथवा भक्ति-मूलक निवृत्ति-मार्ग की साधना के द्वारा अपना सर्वनाश करता रहा है। इस वस्तुस्थिति की चेतना सबसे पहले शायद दयानन्द को हुई, उसके बाद तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द, और गांधी को; यद्यपि विवेकानन्द के आध्यात्मिक गुरु रामकृष्ण स्वयं उक्त भक्ति-परम्परा के ही पोषक थे। लोकव्यवस्था की वैदिक विचारसरणि में बद्ध-मूल किन्तु सर्वथा अभिनवीकृत एक स्वस्थ योजना के प्रचारक भगवान्दास भी दयानन्द और गांधी की श्रेणी में ही आते हैं। अरविन्द का दर्शन इस समस्या को और गहराई से देखने की चेष्टा करता है और ज्ञान और कर्म से आगे बढ़ कर पुरुषोत्तम-केन्द्रक दिव्य कर्म का उपदेश करता है; यद्यपि श्री अरविन्द आश्रम तथा उनके अनुयायियों के व्यवहार में ऐसी किसी भी विशेषता के दर्शन नहीं होते और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि वे भी जाने-अनजाने एक प्रकार के निवृत्ति-मार्ग का ही पोषण करते हैं।

वैदिक दर्शन में हमें क्रमविकास के दर्शन होते हैं। यह समझना भूल है कि औपनिषद दर्शन संहिता-दर्शन के विरोध में प्रवर्तित हुआ था। संहिताओं में लगभग वे सारे मूलभूत सिद्धान्त बीज-रूप में पाये जाते हैं जो उपनिषदों में उपनिबद्ध हैं। बल्कि हमारी तो धारणा है कि संहिता-दर्शन की

पृष्ठभूमि में ही औपनिषद दर्शन को समझा जा सकता है। वेद-ज्ञान के विना वेदान्त-ज्ञान असम्भव है ठीक ही कहा गया है—

तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः ।[39]

वस्तुतः संहिताओं में अनेक सूक्त ऐसे पाये जाते हैं जो ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में उपनिषदों से हो लेते हैं— जैसे पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त, अस्यवामीय सूक्त, स्कम्भ-सूक्त, ओदन-सूक्त, उच्छिष्ट-सूक्त।

एक अन्य विधि से भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि श्रमण-दर्शन का विकास वैदिक दर्शन से ही हुआ है। वेदों की शताधिक-सहस्र शाखाओं में से कम से कम एक शाखा का सम्बन्ध बौद्ध परम्परा से जुड़ा हुआ है। उस शाखा का नाम है निमित्त-शाखा, जिसकी सूचना हमें शान्तरक्षित के तत्त्वसङ्ग्रह में प्राप्त होती है। शान्तरक्षित लिखता है कि वेद की निमित्त-शाखा में किसी सर्वज्ञ कृपात्मा बोधिसत्त्व का उल्लेख आता है, जिसके आधार पर बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि की जा सकती है—

किन्तु वेदप्रमाणत्वं यदि युष्माभिरिष्यते
तत् किं भगवतो मूढैः सर्वज्ञत्वं न गम्यते ?
निमित्त-नाम्नि सर्वज्ञो भगवान् मुनि-सत्तमः
शाखान्तरे हि विस्पष्टं पठ्यते ब्राह्मणैर् बुधैः ॥[40]

इस पर टीका करते हुए कमलशील लिखता है कि निमित्त-शाखा में भगवान् शाक्यमुनि सर्वज्ञ कहे गये हैं—'निमित्त' नाम शाखान्तरमस्ति, तत्र स्फुटतरमयमेव भगवान् शाक्यमुनिः सर्वज्ञः पठ्यते।[41] शान्तरक्षित ने निमित्तशाखान्तर्गत वचन का सारांश भी देने की चेष्टा की है, जो इस प्रकार है—

योऽसौ षड्दन्तमात्मानमवदातद्विपात्मकम्
स्वप्ने प्रदर्श्य सञ्जातो बोधिसत्त्वो गुणोदधिः
विघुष्ट-शब्दः सर्वज्ञः कृपात्मा स भविष्यति
प्राप्तामृतपदः शुद्धः सर्वलोकपिताऽपि च ॥[42]

यदि कोई निमित्त-शाखा के शाखात्व में सन्देह करे, तो शान्तरक्षित कहेंगे कि स्वर आदि श्रुति भावी धर्म, श्रुतित्व-सूचक चिह्न, इसमें भी घट सकते हैं, अतः इसके वेदशाखात्व में सन्देह का अवकाश नहीं—

अथ शाखान्तरं नेदं वेदान्तर्गतमिष्यते
तदत्र न निमित्तं वो द्वेषं मुक्त्वाऽवधार्यते ॥
स्वरादयश् च ते धर्माः प्रसिद्धाः श्रुतिभाविनः
कर्तुमत्रापि शक्यास् ते नरेच्छामात्रसम्भवात् ॥[43]

प्रसङ्गतः, 'विघुष्ट' शब्द का अर्थ, कमलशील के अनुसार, है 'सकलजगत्प्रख्यातकीर्तिः' जिसे वह बुद्ध का विशेषण मानने के पक्ष में है।[44]

हम समझते हैं कि आगे चलकर बुद्ध में अवतारत्व का जो आधान किया गया है उसका मूल निमित्त-शाखा होनी चाहिए।

यास्क से बहुत पूर्व एक वार्ष्यायणि नामक आचार्य हो गये हैं जो बौद्धों के समान सत्ता को प्रवाहमयी मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। यास्क का प्रसिद्ध वाक्य है– 'षड् भाव-विकारा भवन्तीति

वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति ।'[45] यास्क 'भाव' के दो भेद करता है, पूर्वापरीभूत (क्रमिक) और मूर्त, सत्त्वभूत (सिद्ध), जिनमें से प्रथम भेद आख्यान का विषय है और द्वितीय भेद नाम का ।[46] इस प्रकार वस्तुएँ क्रिया के ही निबिडरूप सिद्ध होती हैं । यास्क के व्याख्याकार दुर्ग का कहना है कि वार्ष्यायणि के अनुसार क्रियार्थक भाव सभी वस्तुओं का मूल है, जो द्रव्य, गुण, और क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार भाव कारणात्मक और कार्यात्मक दो प्रकार का होता है— 'स च पुनरुभयातमा भावः कार्यात्मा कारणात्मा च । ......तद्विकारा एव हि द्रव्यगुण-कर्मभावेनावस्थिताः सन्तो नामाख्यातोपसर्गनिपातैरभिधीयन्ते स्थितिकाले ।'[47] पाणिनि, कात्यायन, और पतञ्जलि 'भाव' शब्द को मुख्यतः क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं ।[48] और भाव की क्रियात्मकता ही बौद्ध समय है । इस सम्बन्ध में मैंने अन्यत्र किञ्चित् विस्तार से विचार किया है ।[49] 'जगत्' और 'संसार' शब्द भी सत्ता को प्रवाहमयी होने की घोषणा करते हैं ।

ऋग्वेद की उपलब्ध संहिता में एक स्थान पर असत् से सत् की उत्पत्ति की चर्चा आयी है—

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥[50]
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।[51]

लगता है कि अभाव, असत्, अथवा शून्य से सृष्टि मानने वाले वैदिक-औपनिषदिक काल में भी वर्तमान थे,[52] जिनके खण्डन में छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि भला असत् से सत् कसे उत्पन्न हो सकता है— 'कथमसतः सज् जायेत' ।[53] असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त बौद्धों में इसी परम्परा से गया प्रतीत होता है ।

महाभारत की छानबीन से बौद्धों की अनेक मूलभूत विशेषताओं का मूल वैदिक परम्परा में मिल जाता है । बौद्ध धर्म-दर्शन की सर्वाधिक मौलिकता उसकी निर्वाण-दृष्टि मानी जाती है । किन्तु महाभारत में हमें उसके बीज सद्यः प्राप्त हो जाते हैं । महाभारत-गत निर्वाण-विषयक सामग्री के पर्यालोचन से यह भी पता चलता है कि वह बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत गठित नहीं हुई है । साङ्ख्य के आचार्य पञ्चशिख को महाभारत में भिक्षु कहा गया है । उनके वचनों में निर्वाण-सिद्धान्त सुस्पष्ट दीखता है । वे उच्छेद-निष्ठा और भाव-निष्ठा की चर्चा करते हैं—

उच्छेद-निष्ठा नेहास्ति, भाव-निष्ठा न विद्यते
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम्
वर्तते पृथगन्योन्यमप्यपाश्रित्य कर्मसु ॥[54]
एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ? ॥[55]

वस्तुतः निर्वाण में जिस प्रकार व्यक्तित्व का लय हो जाता है उसी प्रकार के सत्त्व-संक्षय की चर्चा पञ्चशिख ने भी की है —

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर् जहति नाम च
नदाश् च ता निमज्जन्ति, तादृशः सत्त्व-संक्षयः ॥
एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर् भवेत्
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ? ॥[56]

ठीक ऐसी ही उपमा उपनिषद् में भी प्राप्त होती है। उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिल कर उससे एक हो जाती हैं, उनके नाम और रूप खो जाते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु ब्रह्म से एकीभूत हो जाता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम-रूपे विहाय,
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।[57]

उपनिषद् में मुक्त जीव का अव्यय के साथ एकीभाव भी इन शब्दों में निर्दिष्ट किया गया है—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा, देवाश् च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश् च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ।।[58]

इसी प्रकार मोक्ष को परम साम्य की अवस्था बतलाते हुए कहा गया है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं, पुरुषं ब्रह्मयोनिम्,
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।[59]

उपनिषद् के अनुसार जीव ब्रह्म-रूपी अग्नि से निःसृत विस्फुलिङ्ग मात्र है। इससे यह अर्थापन्न होता है कि ये विस्फुलिङ्ग अन्ततः ब्रह्म में ही विलीन हो जाने वाले हैं। पूरा उपनिषन्मन्त्र इस प्रकार है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः,
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियान्ति ।।[60]

महाभारत में भरद्वाज के मुख से कहलाया गया है कि जिस प्रकार इन्धन समाप्त हो जाने के बाद अग्नि का लोप हो जाता है उसी प्रकार जीव का भी लोप हो जाता है। इस पर भृगु का वक्तव्य है कि इन्धन के चूक जाने पर अग्नि दुर्ग्राह्य और निराश्रय अवश्य हो जाती है, किन्तु उसकी सत्ता बनी रहती है। उसी प्रकार शरीरान्त के बाद जीव की भी सत्ता बनी रहती है—

समिधामुपयोगान्ते यथाऽग्निर् नोपलभ्यते,
आकाशानुगतत्त्वाद् धि दुर्ग्रह्यो हि निराश्रयः,
तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः,
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर् न संशयः ।।[61]

महाभारत में ही अन्यत्र कहा गया है कि जीव सङ्कल्प-क्षय के बाद निरिन्धन अग्नि के समान शनैः शनैः 'निर्वाण' को प्राप्त हो जाता है—

विहाय सर्वसङ्कल्पान् बुद्ध्या शारीर-मानसान्,
शनैर् निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ।।[62]

महाभारत में अन्यत्र भी बौद्ध निर्वाण से मिलते-जुलते निर्वाण का उल्लेख प्राप्त होता है—

निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता
तस्मान् निवृत्तिमापन्नश् चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ।।[63]

ऐसा भी कहा गया है कि मुक्तावस्था में जीव 'अलिङ्ग' हो जाता है—

यदा ह्यसौ सुख-दुःखे जहाति मुक्तस्, तदाऽग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ।।[64]

एतादृश अलिङ्गता का उल्लेख योग-भाष्य में भी मिलता है। बल्कि वहां तो प्रधान (प्रकृति) को

ही सदसत् से परे और अलिङ्ग घोषित किया गया है—'यत् तं निः सत्ता(ऽ) सत्तं, निःसदसद्, अव्यक्तलिङ्गं प्रधानं तत् प्रतियन्तीति।......अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः।'[65]

चरक-संहिता में भी एक प्रकार का निर्वाण-सिद्धान्त पाया जाता है, जो भी बौद्ध निर्वाण-सिद्धान्त से सादृश्य रखता प्रतीत होता है। संहिता कहती है कि मुक्तावस्था परमनिवृत्ति की अवस्था है जो ब्रह्मभूत होकर सभी भावों से निर्मुक्त हो जाती है, न उसका कोई चिह्न दिखाई देता है और न उसका उपलम्भ होता है—

तस्मिंश् चरमसँन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः
असंज्ञा ज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥
अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते
निःसृतः सर्वभावेभ्यश् चिह्नं यस्य न विद्यते ॥[66]

चरक की एक यह भी विशेषता है कि उसमें अमृत, ब्रह्म, शान्ति, आदि को निर्वाण का पर्याय बतलाया गया है—

विपापं, विरजः, शान्तं, परमक्षरमव्ययम्,
अमृतं, ब्रह्म, निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥[67]

बुद्ध के निर्वाण-सिद्धान्त का सम्बन्ध पुराणों और साङ्ख्य के 'कृत्स्नक्षय' सिद्धान्त से भी प्रतीत होता है। वायु-पुराण का वचन है—

पूर्वं वियोगो ज्ञानेन, द्वितीयो राग-संक्षयात्
लिङ्गाभावात् तु कैवल्यं कैवल्यात् तु निरञ्जनम्।
निरञ्जनत्वाच् छुद्धस् तु ततो नेता न विद्यते।
तृष्णा-क्षयात् तृतीयस् तु व्याख्यातं मोक्ष-कारणम्॥[68]

तत्त्वसमास में 'त्रिविधो बन्धः, त्रिविधो मोक्षः'[69] कहा गया है। इनमें से तृतीय को भावागणेश ने 'कृत्स्न-क्षय' ही माना है।[70] कपिलासुरि-संवाद में भी सम्यग्दर्शन का फल कृत्स्नक्षय बतलाया गया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कृत्स्नक्षयमवाप्नुयात्।
कृतस्नक्षयं न चाप्नोति असम्यग्दर्शने रतः॥[71]

प्रकृत प्रसङ्ग में हमें गीता में भी एक सङ्केत प्राप्त होता है। उसमें 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द का चार बार प्रयोग हुआ है,[72] जो पूर्वोक्त औपनिषद परम्परा की चरम परिणति प्रतीत होता है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है ब्रह्म-विलय, सूफी-परम्परा की भाषा में 'फना-फिऽल्लाह'। इस सन्दर्भ में प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य का स्मरण हो आता है— 'एतस्मान् न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः।'[73] यहाँ 'निरोध' पद निर्वाण की स्मृति जगा देता है।

वस्तुतः वैदिक परम्परा में निर्वाण-सिद्धान्त के इतने प्रतिरूप प्राप्त होते हैं कि उन्हें बौद्ध निर्वाणवाद का बीज, प्रेरक, अथवा प्रेरणा-स्रोत मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती। यहाँ उल्लेखनीय है कि बुद्ध, निर्वाणवाद को कहीं स्वोपज्ञ नहीं मानते। इसके विपरीत, त्रिपिटक में ऐसा इङ्गित प्राप्त होता है कि निर्वाणवाद बुद्ध के पहले से चला आ रहा है।[74]

इसी प्रकार बुद्ध अष्टाङ्गिक मार्ग को स्वोपज्ञ नहीं अपितु प्राचीन मार्ग, 'पुराणं मग्गं' बतलाते हैं, जिसका अनुगमन पूर्व के सम्यक्सम्बुद्ध किया करते थे— 'एवमेव ख्वाहंभिक्खवे ! अद्दस पुराणं मग्गं, पुराणं जसं, पुब्बकेहि सम्मासम्बुद्धेहि अनुयातं । कतमो च सो भिक्खवे ! मग्गो पुराण जसो……अनुयातो ? अयमेव अट्ठंगिको मग्गो ।'[75] और हम महाभारत में अष्टाङ्गिक मार्ग का एक रूप पाते हैं, जो बुद्ध से प्राचीनतर मार्ग का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है । महाभारत के आदि-पर्व में अष्टाङ्ग मार्ग के अनुसरण का उपदेश पाया जाता है—

अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत् ।[76]

वे आठ अङ्ग कौन-कौन से हैं ?—सम्यक्सङ्कल्प, सम्यक् इन्द्रियनिग्रह, सम्यक् व्रत, सम्यक् गुरु-सेवा, सम्यक् आहार, सम्यक् अध्ययन, सम्यक् कर्मसन्यास, और सम्यक् चित्त-निरोध—

सम्यक्सङ्कल्पसम्बन्धात्, सम्यक्चेन्द्रियनिग्रहात्
सम्यक्व्रतविशेषाच् च, सम्यक् च गुरुसेवनात्,
सम्यगाहारयोगाच् च, सम्यक् चाध्ययनागमात्
सम्यक्कर्मोपसंन्यासात्, सम्यक् चित्तनिरोधनात् ।।[77]

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर ब्राह्मण्य और श्रामण्य की सगोत्रता स्पष्ट हो जाती है ।

टिप्पणियाँ

1. ऋ० १०.९०.३
2. गीता १०.४२
3. महाभाष्य १.१.५०
4. अल्-बकर: ४६, १५६; अल्-अंबिया ५३; अल्मोमिनून ६०
5. Lincoln Barnett The Universe and Dr. Einstein (NewYork William Sloane Associates, 1948)p.7.
6. यजु० १३.५३; अथर्व० १०.५.२३; शतपथ-ब्राह्मण ७.५.२.५८; वायु-पुराण १.२७. २६-२७
7. यजु० ४०.९,१२
8. यजु० ४०.१०,१३
9. यजु० ४०.११,१४
10. अथर्व० ११.८.२३
11. मनु० १२.८८—८९

11.क महाभारत, शान्ति-पर्व १९.१

12. तत्रैव २६८.१५
13. सुत्तनिपात ५.४.७०; ४.११.१०३
14. गीता ३,३
15. गीता ५.४—५
16. साङ्ख्य-कारिका ४५
17. तत्त्ववैशारदी ४५
18. योगवार्तिक १.१९ में वायुपुराणोक्त कह कर उद्धृत, किन्तु न तो वायु-पुराण में प्राप्य और न शिवपुराणान्तर्गत वायवीय संहिता में
19. साङ्ख्यप्रवचन-भाष्य ३.५४
20. तत्रैव
21. साङ्ख्यप्रवचन-सूत्र ३.५६
22. तत्रैव ३.५७
23. योग-सूत्र, समाधि-पाद १९
24. व्यासभाष्य, समाधि-पाद १९
25. अष्टाध्यायी ४.४.६०
26. गीता २.४२—४४
27. गीता ४.१—२; ९.२

28. बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.११; ६.२.८; छान्दोग्योपनिषद् ५.३.७
29. उदाहरणतः दीघ-निकाय, पाथिक-वग्ग, सिङ्गाल-सुत्त, पृ. १४८; मज्झिम-निकाय, मज्झिम-पण्णसक, अम्बलट्ठिकराहुलोवाद-सुत्त, पृ० ९८-९९
30. उदाहरणतः सुत्तनिपात, उरग-वग्ग, ब्राह्मणधम्मिक-सुत्त, पृ० ३११ और आगे
31. महाभाष्य २.४.१२.२
32. ऋ० १०.१३६.२
33. गीता १५.१६
34. महाभारत शान्ति-पर्व ३२०. ३८–४०
35. तत्रैव ३२०.२५
36. गीता ५.४
37. गीता ५.५
38. भट्ट कमलाकर द्वारा विष्णुपुराणोक्त कह कर उद्धृत श्लोक, जो वर्तमान विष्णु-पुराण में अप्राप्य है।
39. तत्रैव
40. तत्त्वसंग्रह ३५११–३५१२
41. तत्त्वसङ्ग्रह-पञ्जिका ३५१२
42. तत्त्वसङ्ग्रह ३५१३–३५१४
43. तत्रैव ३५१५–३५१६
44. तत्त्वसङ्ग्रह-पञ्जिका ३५१४
45. निरुक्त १.१.१
46. तत्रैव
47. निरुक्त-वृत्ति १.१.१
48. अष्टाध्यायी, कात्यायन-वार्तिक, महाभाष्य २.३.३७
49. हर्षनारायण, Process View of Existence and Its Buddhist Developments' Review of Darshana I, l, (July 1980) P.P. 61–68
50. ऋ० १०.७२.२
51. ऋ० १०.७२.३
52. तैत्तिरीयोपनिषद् २.७.१
53. छान्दोग्योपनिषद् ६.२.१
54. महाभारत, शान्ति-पर्व २१९.६
55. तत्रैव २१९.४१
56. तत्रैव २१९.४२–४३
57. मुण्डकोपनिषद् ३.२.८ तु० प्रश्नोपनिषद ६.५
58. तत्रैव ३.२.७
59. तत्रव ३.१.३
60. तत्रव २.१.१
61. महाभारत, शान्ति-पर्व १८७.५–६
62. तत्रैव आश्वमेधिक-पर्व १९.१२
63. तत्रैव, शान्ति-पर्व ३३९.६७
64. तत्रैव २१९.४५
65. व्यासभाष्य २.१९
66. चरक-सहिता, शारीर-स्थान १.१४५–१५५
67. तत्रैव ५.२१
68. वायु-पुराण १.१०२.८०
69. तत्त्वसमास-सूत्र २१–२२
70. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन २२
71. महाभारत, शान्ति-पर्व (कुम्भकोण-संस्करण), कपिलासुरि-संवाद। द्रष्टव्य तत्त्व-समास-सूत्र, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन-टीका सहित सं० रामशङ्कर भट्टाचार्य, २२ पृ० २३, टि.५
72. गीता २.७२; ५.२४,२५,२६
73. प्रश्नोपनिषद् १.१०
74, 'निब्बानं निब्बानं ति, आवुसो सारिपुत्त पुच्चति। कतमं नु खो, आवुसो ! निब्बानं ति'? संयुत्त-निकाय, सलायतन-वग्गो, जम्बु-खादक-संयुत्त, निब्बानपञ्हा-सुत्त, पृ. २२३; सामण्डक-संयुत्त, सामण्डक-सुत्त, पृ. २३३
75. संयुत्त-निकाय, (पी. टी. एस. संस्करण) निदान-वग्ग, पृ० १०६-१०७
76. महाभारत, वन-पर्व २.७७
77. तत्रैव २.७८–७९

श्रावस्ती का सांस्कृतिक गौरव

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

श्रावस्ती नगरी उत्तर प्रदेश के गोण्डा–बहराइच जिलों की सीमा पर प्राचीन अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। इसे आजकल 'सहेत–महेत' कहते हैं। यहाँ प्राचीन नगरी के भग्नावशेष एक विस्तृत क्षेत्र में स्थित हैं। उत्तर–पूर्वी रेलवे की गोण्डा–गोरखपुर लाइन पर बलरामपुर स्टेशन से श्रावस्ती १६ किलो मीटर उत्तर–पश्चिम है। बलरामपुर से श्रावस्ती तक अच्छी पक्की सड़क है। श्रावस्ती पहुंचने का अन्य मार्ग बहराइच–नानपारा सड़क पर इकौना ग्राम से है, जहाँ से श्रावस्ती केवल आठ किलोमीटर पूर्व में है। परन्तु पहला मार्ग अधिक सुविधाजनक है।

श्रावस्ती नाम वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण–ग्रन्थों तथा जैन एवं बौद्ध-साहित्य में बहुत मिलता है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार सूर्य की दसवीं पीढ़ी में राजा युवनाश्व हुए। उनके पुत्र श्रवस्त या श्रावस्त द्वारा एक नगरी स्थापित की गई, जिसका नाम श्रावस्ती हुआ। रामायण में श्रीराम के पुत्र लव द्वारा श्रावस्ती के बसाये जाने का उल्लेख मिलता है।[1]

बुद्धघोष के अनुसार सवत्थक नामक ऋषि के निवास–स्थान होने के कारण इस नगर का नाम 'सावत्थी' (संस्कृत नाम श्रावस्ती) पड़ा।

प्राचीन पालि-टीकाओं में नगर के नामकरण के संबन्ध में मिलता है कि जहां सब वस्तुएँ सुलभ हों वह नगर सावत्थी है।[2] 'पपंच सूदनी टीका' में श्रावस्ती की तुलना देवताओं की पुरी अलकनन्दा से की गई है।[3] अन्य अनेक पालि–प्राकृत ग्रन्थों में भी श्रावस्ती की श्रेष्ठता का वर्णन मिलता है। गुप्तकालीन कई अभिलेखों में 'श्रावस्ती–भुक्ति नाम मिला है।

जैन-साहित्य में सावत्थी अथवा सावत्थिपुर के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। जैन धर्म का यह स्थान एक महत्वपूर्ण तीर्थ था। तृतीय तीर्थंकर भगवान् संभवनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक वहीं सम्पन्न हुए थे। वहीं उनके द्वारा धर्मचक्र–प्रवर्तन किया गया। तिलोय पण्णत्ति, वरांगचरित, पद्म, हरिवंश तथा उत्तरपुराण आदि में श्रावस्ती–विषयक विस्तृत विवरण उपलब्ध है। एक मत के अनुसार धर्मराज के चित्रगुप्त के पुत्र श्रीवास्तव द्वारा इस नगर की स्थापना की गई, जिसके कारण इसका नाम श्रावस्ती हुआ। जो भी हो, यह निश्चित है कि श्रावस्ती नगर बहुत समय तक विभिन्न विचारधाराओं का संगम–स्थल रहा और उसकी धवल कीर्ति चतुर्दिक् फैली। समृद्धशाली नगर होने के कारण लोग उसे 'सावत्थी महती' (श्रेष्ठ श्रावस्ती) कहने लगे। यही बाद में बिगड़कर सहेत–महेत हो गया।

चीनी यात्री हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में श्रावस्ती का नाम शीली–फु–शीटी दिया है। उसने नगर का वर्णन किया है। अपने गौरवपूर्ण दिनों में श्रावस्ती एक विशाल एवं समृद्ध शाली नगर था। उसमें सुदृढ़ दुर्ग, भव्य राजप्रासाद तथा बहुसंख्यक देवालय थे। जैन, बौद्ध तथा वैदिक साहित्य में श्रावस्ती नगर को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

पुराणों के अनुसार श्रावस्ती नगर की स्थापना श्रवस्त, श्रावस्त या श्रावस्तक द्वारा की गयी। वायु-पुराण के अनुसार इच्छ्वाकु के पुत्र विकुक्षि की छठीं पीढ़ी में श्रावस्त हुए। कुछ पुराणों में श्रवस्त को युवनाश्व का पुत्र और आर्द्र का पौत्र कहा गया है।[4] महाभारत में श्रावस्तक को युवनाश्व का पौत्र और श्राव का पुत्र लिखा है। परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों में श्रावस्ती के अनेक राजाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। हर्षचरित में श्रुतवर्मा, कथासारितसागर, में देवसेन और दशकुमार-चरित में धर्मवर्धन आदि श्रावस्ती के नरेशों के उल्लेख उपलब्ध हैं।

वाल्मीकि रायायण से ज्ञात होता है कि अयोध्या-नरेश श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ द्वारा विस्तृत क्षेत्र में अपनी प्रभुता स्थापित करने के पश्चात् कोसल राज्य को दो भागों में बाँट दिया। एक भाग उत्तर कोसल कहलाया, जिसकी राजधानी श्रावस्ती हुई। उसका शासन उन्होंने अपने पुत्र लव को सौंपा। दूसरा भाग दक्षिण कोसल हुआ, जिसकी राजधानी कुशवती कहलाई। इसके शासक श्रीराम के दूसरे पुत्र कुश हुए।[5]

श्रावस्ती नगर वैदिक संस्कृति का केन्द्र था। वहाँ जाणुस्सोणि, आश्वलायन, ताल जंघ, आकाशगोत्र आदि प्रकांड वैदिक विद्वान् रहते थे। पिछले दोनों कोसल-नरेश प्रसेनजित् के राजपुरोहित कहे गये हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में कोसल महाजनपद की राजधानी श्रावस्ती की गणना बौद्ध धर्म के आठ महातीर्थों में की गई है। नगर के समीप दक्षिण दिशा में राजकुमार जेत का प्रसिद्ध उद्यान था। श्रावस्ती के धनी सेठ अनाथपिण्डिक ने राजकुमार जेत से उद्यान की भूमि पर सिक्के बिछाकर उसे खरीदा; फिर वहाँ विहार बनवाकर पूरे उद्यान को बुद्ध को दान कर दिया। उससे कुछ दूर नगर-श्रेष्ठि भिगार की वधू विसाखा ने पूर्व्वाराम विहार निर्मित करवाया था।

भगवान् बुद्ध ने श्रावस्ती में २४ बार वर्षावास करके जनता को सद्धर्म का उपदेश दिया। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मज्झिम निकाय' के १५० सूत्रों में से ६५ तथा 'विनयपिटक' के ३५० शिक्षा पदों में से २९४ यहीं निर्मित हुए।

बौद्ध गन्थों से विदित होता है कि श्रावस्ती उत्तर भारत का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था। बड़े राजमार्गों द्वारा वह उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ के अनेक बड़े नगरों से जुड़ा हुआ था। इन नगर की आर्थिक उन्नति का मुख्य कारण उसका व्यापारिक केन्द्र होना था।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु जी का जन्म श्रावस्ती में हुआ था। भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण यहाँ कई बार हुए। इससे जैन धर्म के प्रति इस क्षेत्र में आकर्षण बढ़ा। श्रावस्ती के महाश्रेष्ठि नन्दिनी प्रिय, नागदत्त आदि ने जैनधर्म की वृद्धि में योगदान किया। दूर-दूर से लोग जैन धर्म के अध्ययन के निमित्त श्रावस्ती आते थे। इनमें कश्यप के पुत्र कपिल एवं जैन विद्वान् केशी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

श्रावस्ती में प्राचीन जैन मंदिरों के जो अवशेष मिले हैं उनसे पता चलता है कि एक दीर्घ-काल तक उस नगर में जैन धर्म का विकास होता रहा। यहाँ भगवान् महावीर द्वारा प्रचलित जैन सिद्धान्तों के प्रचार का प्रमुख केन्द्र कोत्थक चैतिय नामक विहार था। वहाँ संभवनाथ जी का भव्य मन्दिर था, जिसका विवरण जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' में दिया है। आजीविक सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य मंखलिपुत्र गोसाल को श्रावस्ती में ही ज्ञान-प्राप्ति हुई, ऐसा कथन मिलता है। धीरे-धीरे श्रावस्ती आजीविक शाखा का प्रचार-केन्द्र बना।

श्रावस्ती का क्रमबद्ध इतिहास ई० पू० छठीं शती से प्राप्त होता है। महात्माबुद्ध के समय में कोसल जनपद की गणना देश के तत्कालीन सोलह महाजनपदों में की जाती थी। इन सोलह मे से चार प्रमुख राज्य थे-मगध, कोसल, वत्स तथा अवन्ति। भगवान् महावीर के जीवनकाल में इन महाजनपदों में साम्राज्य-विस्तार और सत्ता-हेतु पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता चलती रही। उस समय कोशल का सम्राट् प्रसेनजित् (पसेनदि) था, जो शक्तिशाली होने के साथ धार्मिक उदारता के लिये प्रसिद्ध था। आसपास के अनेक शासक उसकी सत्ता स्वीकार करते थे। काशी का राज्य बहुत समय तक कोसल के अधीन रहा। तत्कालीन मगध सम्राट् बिम्बिसार के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर प्रसेनजित् ने मगध के साथ अपने संबंध मजबूत किये। दहेज में काशी का राज्य मगध-नरेश को प्राप्त हुआ।

'महापरिनिब्बान-सुत्त' में कोसल की राजधानी श्रावस्ती की गणना उत्तर भारत की पाँच महानगरियों में की गई।

प्रसेनजित् के समय श्रावस्ती एक प्रमुख व्यापारिक नगर होने के अतिरिक्त विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का भी केन्द्र था। यह नगर उस विशाल साम्राज्य कोसल की राजधानी था, जिसकी पूर्वी सीमा पर मगध-साम्राज्य तथा गंगा, उत्तर पूर्व में लिच्छवि और मल्लों के गणराज्य, उत्तर में शाक्य, पश्चिम में शूरसेन और दक्षिण तथा पश्चिम में वत्स राज्य स्थित थे। प्राचीन साहित्य के अनुसार नगर में सत्तावन हजार कुटुम्ब रहते थे। श्रावस्ती नगर रक्षा-दीवाल (प्राकार) तथा जल-युक्त खाई (परिखा) से घिरा था। नगर के प्रत्येक ओर एक मुख्य द्वार था। नगर-रचना अत्यन्त सुरक्षित थी। फाह्यान ने दक्षिणी और हुएनसाँग ने पूर्वी प्रवेश द्वारों का उल्लेख किया है। फाह्यान के समय श्रावस्ती में विहारों की संख्या लगभग एक सौ थी। परन्तु हुएनसाँग के समय उनकी संख्या अत्यन्त छँट गयी।

११ वीं शती में श्रावस्ती के प्रतापी नरेश सुहृदध्वज (सुहलदेव) ने बाहरी आक्रांताओं से अपने नगर की रक्षा की। उसके कुछ समय बाद तक यहाँ के अनेक प्राचीन जैन तथा बौद्ध स्मारक सुरक्षित रहे। अलाउद्दीन खिलजी के समय में भारतीय संस्कृति के इस प्रमुख केन्द्र की बड़ी बरबादी हुई। आज यहाँ के अनेक टीले और स्मारक श्रावस्ती की प्राचीन यशोगाथा की स्मृति बनाये हुए हैं।

श्रावस्ती के खंडहरों के उत्खननों से पुरातात्त्विक महत्त्व की बहुमूल्य सामग्री मिली है, जो राज्य संग्रहालय, लखनऊ तथा राष्ट्रीय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित है। यह सामग्री मूर्तियों, सिक्कों, मुहरों, पुरालेखों आदि के रूप में है। प्राचीन जैन तथा बौद्ध साहित्य में वर्णित अनेक मंदिरों, विहारों आदि की पहचान भी कर ली गयी है। इनमें जेतवन, गंधकुटी, कोसंबकुटी, पूर्वाराम, भगवान् संभवनाथ-देवालय आदि उल्लेखनीय हैं।

भारत की प्रमुख धार्मिक विचारधाराओं का श्रावस्ती में एक लम्बे समय तक साथ-साथ विकास होता रहा। भारतीय समन्वयात्मक दृष्टिकोण यहाँ सुष्ठुरूप में चरितार्थ हुआ।

१. श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ।।
अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तथा । (रामायण, उत्तराकाण्ड १०८, ५)

२. "यं किंचि मनुस्सानं उपभोगपरिभोगं सव्बमयेत्थ अत्थीति सावत्थी ।
सत्थ सम्भोगे च किं भण्डम् अत्थीति पुच्छिते सब्बं अत्थीति सावत्थी ।।"

३. "कोसलानं पुरं रम्मं दस्सनेयं मनोरमं……अलकनन्दा च देवनं सावत्थीपुरं उत्तमन ति ।"

४. ब्रह्मपुराण, ६, ५३; मत्स्य-पुराण १२, २९-३०

५. कोसलेषु कुशं वीरं उत्तरेषु तथा लवम् ।
अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ ।।
(रामायण, उत्तरकाण्ड १०७, १७)

हिन्दी लोकगीतों का छन्द : एक नया दृष्टिकोण

डॉ० रामबहाल तिवारी

प्राचीन ऐतिह्य तथा संस्कृति का दर्पण है लोकसाहित्य। अपनी समृद्धि तथा विशेषताओं के कारण भारतीय लोक साहित्य की महत्ता विदेशों में भी बढ़ती जा रही है। देश की भौगोलिक विशालता व विषमता भाषाओं की अनेकता एवं विविध वैचित्र्य के साथ ही सांस्कृतिक एकता ने भारतीय लोक साहित्य को विशिष्टता प्रदान की है। भारत की विभिन्न भाषाओं के लोक-साहित्य के समन्वय को ही भारतीय लोक साहित्य मानना चाहिए। इस समन्वय में हिन्दी लोक साहित्य की देन ही सबसे अधिक होगी। भारतीय लोक साहित्य की भांति हिन्दी लोक साहित्य भी विभिन्न आंचलिक लोक साहित्य का समन्वय है। हिन्दी भाषी क्षेत्र का विस्तार ही शायद इसका मुख्य कारण है। व्रजभाषा, भोजपुरी, मैथिली, मालवी, राजस्थानी, अवधी तथा मगही आदि भाषाओं के लोक साहित्य ही वास्तव में हिन्दी के लोक साहित्य हैं। अगर इनका समन्वय हो सके तो और भी अच्छा हो।

लोककथा "व्रतकथा", लोकगीत, लोककथागीत, लोकनाटयगीत, लोकगाथा, कहावतें, मुहावरे और पहेलियाँ आदि लोक साहित्य की विभिन्न शाखायें हैं। इनमें लोकगीत या गीतशाखा की ही प्रमुखता है। विचित्र नैसर्गिक वातावरण में जने-पले, जीते-जागते, भोले-भाले जन-समुदाय के धर्म विश्वास तथा परम्पराओं पर आधारित जन-मानस के भावचित्रों का प्रतिफलन है लोकगीत। जो अनपढ़-गँवार सीधे-सादे लोक-हृदय के रस से अभिषिंचित है। रचयिता के मुख से निकलकर बहुत दिनों तक गवैयों के कण्ठ में बसेरा लेना पड़ा था इन्हें। कोई लिखित रूप न रहने से इनमें बराबर परिवर्तन होता रहा। आजकल लोकगीतों का संकलन छप रहा है। नये लोकगीत लिखे भी जा रहे हैं। लोकगीतों के विषय में भी काफी चर्चा हो रही है। लोकगीतों के विषय में शोध-कार्य भी हो रहे हैं। पर लोकगीतों का कलापक्ष अभी तक अछूता ही रह गया है। यहाँ-वहाँ कुछ प्रासंगिक आलोचना होने पर भी लोकगीतों के छन्द अलंकार आदि की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। हमारी कला-विरूपता ही शायद इसका मुख्य कारण है। पहले सोचा जाता था कि लोकगीतों में छन्द ढूंढ़ना बेकार है। पर लोकगीतों में भी छन्द हैं। यह दृढ़ता के साथ स्वीकृत हो चुका है।[1] कारण छन्द तथा छन्दविधान आदि का पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान न रहने पर भी सफल गवैये के सधे कंठ से निकले गीतों की उच्चारण-ध्वनि के उतराव-चढ़ाव, संकोचन तथा विस्तार आदि को बार-बार परखकर अनपढ़ पर आग्रही गीतकारों के कान इतने अनुभवी तथा निपुण हो उठते कि उनके गीतों में छन्द माधुरी अपने आप आ बसती थी। बनजफूलों की भाँति छन्द लोकगीतों में अनायास पनपते तथा खिलते थे। अतः छन्दः शास्त्र की दृष्टि से उनमें त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। गवैये के कण्ठ-नैपुण्य से ये त्रुटियाँ ढँक जाती हैं।

लोकगीतों में प्रयुक्त सबसे पुराना उपलब्ध भारतीय छन्द शायद "सोहर" है। सन्त कवि तुलसीदास ने "रामललानहछू" में सोहर का प्रयोग किया है। आम तौर पर इस छन्द को

अर्थात् छन्दोवन्ध (Verse Form) को मात्रावृत्त-श्रेणी में रखा जाता है। इसके हर चरण में २ मात्रायें हैं। पर उत्तरकालीन "सोहर" छन्दों में इसका अपवाद मिलता है। गांवों में गाया जा वाला "सोहर" मात्रावृत्त या मात्रिक छन्द में रचित होने पर भी उसमें प्रयुक्त देहाती जनता भाषा तथा उच्चारित ध्वनियों से कुछ और ही संकेत मिलता है। आमतौर पर लोक गीतों ध्वनियाँ ह्रस्व स्वरान्त कम होती हैं। अतः हलन्त एकाक्षर शब्द या शब्दांश (Closed Syllable उच्चारण-काल-मापक इकाई (Unit of measure) बन जाता है। ध्यान देने की बात है-बो चाल के दौरान साधारणतः मुक्ताक्षर (Open Syllable) तथा युक्ताक्षर (Closed Syllable के उच्चारण-काल में कोई खास अन्तर नहीं पड़ता। दीर्घस्वर तथा युक्ताक्षर भी मुक्ताक्षर समय-सीमा में ही उच्चरित होते हैं। लौकिक छन्द की इस विशेषता को एक उदाहरण से समझ की कोशिश की जा सकती है—

ढुनमुन ढुनमुन। कवन देई। हाथ के डलिया। या लेले हो।
ऐजी उ च। लली फुल वा। रिया त फूल वा। लोढ़ेली। हो॥
फाँड़ भरि ्लि। ढ़ेली फुफड़। भरि अवरु चँङेली भरि। हो।
ओहि फुल व।•रिया के लाल। भँवरवा चाँचर धरि विला। मावेलाहो।[2]

सोहर की ये चारों पंक्तियाँ असम हैं। इनमें क्रमशः ३०, २९, २७ तथा ३५ मात्रायें हैं। पर दी स्वरों को दो मात्राओं का मूल्य देने से गायन जैसा भी हो पढ़ने में कृत्रिमता फूट निकलती है दीर्घस्वर को कहीं दीर्घ "द्विमात्रक" तथा कहीं ह्रस्व "एक मात्रक" पढ़ा जाय तो पर्वों में (लय या वर्तमनी) ४, ५ तथा ६ मात्रायें भी अनिश्चित तौर पर मिलेंगी। पर किसी एक गेय पाठ्य रचना के पर्वों (Foot) की आकृतियों का विभिन्न रूप होना सराहनीय नहीं है। अगर गु लघु या ह्रस्व दीर्घ के संस्कार को भूलकर सामान्य उच्चरित एक-एक "सिलेवल" को इकाई मा कर देखें तो हर एक लय खंड या पर्व में चार मात्रायें मिलेंगी। उद्धृत चार पंक्तियों में चा मात्राओं के क्रमशः ४; ४; ४ तथा ५ पूर्ण पर्व तथा दूसरी और तीसरी पंक्ति के अन्त में अ रिक्त एक मात्रा पाई जाएगी। अर्थात् १६, १७, १७ तथा २० मात्रायें हैं चारों पंक्तियों मे मात्रिक रीति के विश्लेषण से लौकिकवृत्त का विश्लेषण कहीं अधिक साम्य दर्शाता है।[3] अ आलोच्य "सोहर" की प्रवणता लौकिक (Syllabic) छन्द की ओर ही है–यह स्वीकारा सकता है। यद्यपि कुछ असामान्य रह ही जाता है। फिर भी चार मात्राओं के पर्व तथा उच रित ध्वनि के अनुसार पर्व निर्माण–इस छन्द की एक खास खूबी है। हमें यह भी नहीं भूल चाहिए कि यह विश्लेषण गेय-ध्वनि पर नहीं, वाच्य या पाठय-ध्वनि पर आधारित है। इस सं में डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कहा है– "वस्तुतः सोहर एक तालवृत्त है, जिसका माप पृथक्-पृथक् मात्रायें और वर्ण नहीं, वरन् लयवद्ध बलाघात पूर्ण इकाइयाँ ही हो सकती हैं।''' प्रत्येक इकाई की उच्चरित अविस्थति समतोलक बनी रहती है।"[4]

इस उद्धरण की 'समान मात्राओं द्वारा नियंत्रित समतोलक उच्चरित अवस्थिति वा वलाघातपूर्ण इकाइयाँ'-और चार मात्राओं के उद्दिष्ट पर्व एक ही वस्तु है। अतः सोहर मात्रिक रीति का छन्द न कह कर "लौकिक छन्द" या लौकिकवृत्त" नाम का एक अलग छ मानना ही सही जँचता है। हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त छन्दोवन्ध (Verse Forms) चाहे जि भी हों-छन्दोरीतियाँ (Verse Styles) तीन के स्थान पर अब चार हो गईं-वर्णिक, घनाक्षरी, मात्रा

तथा लौकिक वृत्त। अर्थात् हिन्दी जगत् की सारी कवितायें इन्हीं रीतियों में ही लिखी जाती हैं। सोहर की तरह ही अन्य संस्कार गीत भी इस लौकिक छन्द में हीं लिखे गये हैं। आल्हा, विरहा, कजरी, झूमर, नकटा, लोरी, तथा निर्गुण के छन्द भी लौकिक छन्द की कोटि में आते हैं। कभी-कभी तो ये नाम ही छन्द के पर्यायवाची माने जाते हैं। फिर भी इन नामों से छन्द की आकृति का ही संकेत मिलता है–रीति का नहीं। आकृति से अलग-अलग होने पर भी ये सब के सब रीति या प्रकृति से एक हैं और उस प्रकृति का नाम है–लौकिकवृत्त।

संस्कृत तथा हिन्दी काव्यों की भाँति हिन्दी लोक गीतों में भी भाव-अनुयायी छन्द प्रयोग की प्रवणता पाई जाती है। आमतौर पर सोहर"शोकहर" > सो अहर > सोहर का व्यवहार खासकर शोक हरणकारी आनन्दाभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। वीरत्व व्यंजक तथा प्रोत्साही भाव के लिए "आल्हा" तथा हर्ष-आनन्द के लिए नकटा, झूमर, विरहा आदि का व्यवहार होता है। पर आजकल बात कुछ और ही पाई जाती है। करुण, उत्साह, रति प्रभृति भावों के लिए भी सोहर का प्रयोग हो रहा है। नकटा, झूमर आदि से निर्दिष्ट भावों के आलावा अन्य भाव भी व्यक्त किये जाते हैं। इसका मुख्य कारण है–सबमें एक ही छन्दोरीति का होना। कविता में छन्दो-रूप की महत्ता रहने पर भी प्रमुखता छन्दोरीति की ही रहती है। पर हमें इसका ख्याल ही नहीं रहता। अब एक"कजरी" गीत के छन्द-रूप तथा छन्द-रीति को समझने की चेष्टा की जा सकती है—

रामा गरजे कारा। बदरवा। झरझर दयवा। बरसेना।
रामा बन में बोले। कोइलिया। मोरा मनवा। तरसेना॥
रामा पापी पपी। हरा बोले। मोर। जियरा। डोले ना।
रामा भीजइ मोर। चुनरिया। बदरा झमझम। बरसे ना॥
रामा चमचम चमके। बिजुरिया। मोरा मनवा। धड़के ना।
रामा सन्सन् चले। पवनवा। मोरा तनवा। काँपे ना॥

इस उद्धरण में हर पंक्ति के प्रारम्भ में दो मात्राओं का एक अतिरिक्त ध्वनिबंध या पर्व है। मूल वक्तव्य के साथ इसका कोई खास सरोकार न रहने पर भी ध्वनिलहरी को स्पष्ट करने में इसकी महत्ता रहती है। ऐसे प्रयोग को अतिपर्व (Anacrusis) कहा जा सकता है। इन पंक्तियों में ४; ४;४; ३ के क्रम से ध्वनियाँ विन्यस्त हैं। आँखों से देखने से किसी पर्व में ५ तो किसी में ६ मात्राओं के होने की भी आशंका पनप सकती है। पर स्वाभाविक उच्चारण से हर पर्व में ४ सिलेवल ही मिलते हैं। अतः हर पंक्ति में ४ पर्व तथा पूर्ण पर्व में ४ मात्राओं का होना लौकिक वृत्त का परिचायक माना जा सकता है।[५क]

एक लोरी की दो पंक्तियाँ देखिए:—

चन्ना मामा चन्ना मामा हंसुआ द।
ऊँ हँसुआ काहें के खरई कटावे के॥......

यहाँ भी पहली पंक्ति में ४ मात्राओं के तीन पर्व हैं। दूसरी पंक्ति में ४ पर्व हैं, जिनमें दो पर्व दृश्यतः तीन–तीन मात्राओं के–से लगते हैं। "काहे के" तथा "खरई" पर उच्चारण की ओर ध्यान देने से इनमें भी चार-चार मात्रायें मिलती हैं। काहेके का "के" तथा "खरई" के "ई" के उच्चारण प्रसारित तथा द्विमात्रक हैं। अतः दृश्यतः मात्राहानि महसूस होने पर भी वास्तव में बात

ऐसी नहीं है। आवश्यकता अनुसार समेट कर या खींचकर पढ़ने की सुविधा लौकिक वृत्त की एक अलग विशेषता है।

प्रसिद्ध लोकगीत "आल्हा" की प्रत्येक पंक्ति में हिन्दी पिंगल शास्त्र के अनुसार ३१ मात्रायें होती हैं एवं ८, ८, १५ या १६, १५ पर यति पड़ती है। अन्त में गुरु–लघु का विधान है। पर आल्हा में भी लौकिकवृत्त का ही प्रयोग हुआ है। और उसी में आल्हा का अपना रूप अनायास झलक उठता है। जैसे—

खट् खट् खट् खट् । तेगा बाजै ।
बाजै छपकि । छपकि तलवार ।
धड़् धड़् धड़् धड़् । गोला छूटै ।
धूँवा धूरि । एक ह्वै जाय ।

यहाँ लय अति द्रुत है। हर पर्व में ध्वनियाँ सिमट कर ४ मात्राओं में आ जाने से ही यह संभव हो पाया है। [5]ख अब यह सुस्पष्ट है कि हिन्दी लोक गीतों के छन्द मात्रावृत्त, वर्णवृत्त तथा घनाक्षरी से अलग कोटि के हैं। आलोचना तथा समय की सुविधा का ध्यान रखते हुए इसे "लौकिकवृत्त" के नाम से ही अभिहित किया जा सकता है। आजकल हिन्दी साधु साहित्य की कविताओं में भी लौकिक छन्द का प्रयोग कभी कमार मिल जाता है।

आधुनिक युग के कवि "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" ने अपने "प्रेम तरङ्ग" काव्य में "लावनी" तथा "कजरी" लिखकर लोक छन्द की ओर अपनी रुचि दिखाई है। कवि बदरी नारायण चौधुरी "प्रेमधन" ने भी लौकिक छन्द लिखने की कोशिश की थी।। उत्तर काल में कवि जयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" तथा महादेवी वर्मा की प्रमुख रचना में लौकिक गीत की नई झलक मिलती है। इन गीतों में मात्रावृत्त का प्रयोग दीखता है। पर प्रवणवता चार मात्राओं के पर्व वाले लौकिकवृत्त की तरह ही है। जैसे—

डाल पर बोलता । है पपीहा
हो भला प्राण–धन । तुम कहाँ हो ?

—प्रसाद झरना "पी कहाँ"

चरणों में दो-दो पर्व हैं। तीन पर्वों में ४–४ मात्रायें, पर एक में "हो भला प्राण–धन" ५ मात्रायें हैं। उच्चारण वाक्छन्द पर आधारित है। "निराला" जी की एक रचना देखिए:—

श्याम गगन नव । घन मँडराये
कानन गिरिवन । आगन छाये
लगे बाग आ । मोंके पर से
धानों के खे । तों पर बरसे,
युवती निकली । अपने घर से
पुरवाई के । झोंके खाये ।।

—निराला : "गीतगुंज"

हर चरण में दो पर्व तथा हर पर्व में चार मात्रायें हैं। केवल एक पर्व "कानन गिरिवन" में पाँच मात्रायें हैं। अब महादेवी वर्मा जी की एक रचना देखी जाय:—

मैं न यह पथ जानती री
धूम हों विद्युत् शिखायें
छा भले लें आज अग–जग
वेदना की घन घटायें ।
सिहरता मेरा न लघु उर
काँपते पग भी न मृदुतर
सुरभि मैं पथ में सलोने
स्वजन की पहचानती री ॥
—महादेवी : दीपशिखा

इस गीत के चरण भी दो–दो पर्वों से बने हैं । पर्वों में लौकिक छन्द के विधान-अनुसार चार-चार अक्षर (Syllable) मात्रायें हैं । पर तीसरे चरण के दूसरे पर्व में "आज अग-जग" तीन ही मात्रायें हैं । फिर भी छन्द निर्दोष माना जा सकता है । यहाँ तीन युक्ताक्षरों से ही चार मात्राओं का समय उत्तीर्ण हो जाता है ।

अतः हम कह सकते हैं प्रसाद, निराला तथा महादेवीजी की रचनाओं में लौकिक छन्द का प्रयोग हुआ है । उन रचनाओं का विश्लेषण "मात्रावृत्त" पद्धति से भी संभव है । फिर भी चरणों में अक्षर-संख्या की समता तथा चतुरक्षर पर्वों की अधिकता से लौकिक छन्द के प्रति इन रचनाओं का झुकाव सुस्पष्ट होता है ।

केदारनाथ सिंह, रामविलास शर्मा, कुँवर नारायण, भवानी प्रसाद मिश्र तथा हरिवंश राय "बच्चन" आदि की कविता में भी लौकिक वृत्त का सुन्दर प्रयोग मिलता है । जैसे—

पछुवा के हाथों में शाखें हिलेंगी
पुरवा के हाथों में फूल
आनाजी वा दलज सूर ।
—केदारनाथ सिंह : तीसरा सप्तक

इस उद्धरण में ७ पर्व हैं, सातों चतुरक्षर । स्वाभाविक उच्चारण से श्रुतिमाधुरी टपक पड़ती है । नीचे के उदाहरण में चतुरक्षर पर्व के साथ दो या तीन अक्षरों के पर्व-विन्यास से विचित्र ध्वनि-लहरी सुनाई पड़ रही है । इसको सार्थक लौकिक वृत्त का एक सुन्दर आदर्श कहा जा सकता है—

हाथी घोड़ा पालकी, जै कन्हैया लाल की ।
हिन्दू हिन्दुस्तान की, जै हिटलर भगवान की ।
जिन्ना पाकिस्तान की, टोजो और जापान की ।
बोलो वन्देमातरम् सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥
—रामविलास शर्मा : तार सप्तक "१९४३"

४, ४, ४, ३ अक्षर मात्राओं की पंक्तिवाली एक सफल कविता देखिए—

ओ गुड़िया उठ नाच छमाछम,
तू रानी महरानी है ।

गुड्डे दिलको थामे बैठे
तेरी गजब जवानी है ।
—कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक

"ओ" अतिरिक्त ध्वनि या अतिपर्व है ।
इस सन्दर्भ में भवानी प्रसाद मिश्र की "मंगल वर्षा" एवं बच्चन जी की "माटी की मह "छतनार विरवा," "सोन मछरी" तथा "महुआ के तले" आदि कविताओं का उल्लेख किया सकता है ।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि यह लौकिक छन्द हिन्दी भाषा की स्वाभाविक उपज संस्कृत या प्राकृत भाषा की देन नहीं है । इसकी क्षमता, सौन्दर्य, खूबी तथा महत्ता को भ भाँति समझकर साहित्य में खुलेआम इसका उपयोग करना चाहिए । हिन्दी काव्यजगत् स्वाभाविक पुष्टि तथा विस्तार के लिए यह केवल आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है । हम कवि छन्दसिक रवीन्द्रनाथ के दो तथा अंग्रेज विद्वान् एडवर्ड सैपीर का एक बहुमूल्य प्र गिक उद्धरण देकर निबन्ध समाप्त करना चाहते हैं । रवीन्द्रनाथ ने कहा है– "प्रत्येक भाषा चाल में अपनी स्वाभाविक भंगिमा है। उस भंगिमा के अनुसार ही उस भाषा का नृत्य अ उसका छन्द-निर्माण करना चाहिए।" —रवीन्द्रनाथ :छन्द (१९७६), पृ० ३१

स्वाभाविक छन्द उसी को कह सकते हैं जो भाषा की उच्चरित ध्वनि के अनुसार निर्मित त नियंत्रित होता है।" —वहीं, पृ० ४१
एडवर्ड सैपीर ने कहा है—

"Study carefully the phonetic system of a language, above all its dynam features and you can tell what kind of a verse it has developed, or, history has played pranks with its Psychology, what kind of a verse it shou have developed and some day will"— Language (1921) P. 246

१. दे० डा० सम्पति आर्याणी : मगही लोक साहित्य, पृ० ७५
श्री घर मिश्र :भोजपुरी के लोक-गीतों के विविध रूप, पृ० ७०

२. कृष्णदेव उपाध्याय; भोजपुरी लोकगीत पृ० १०५–१०६ "ईषत् परिवर्तित"

३. इस प्रकार के छन्द मात्रा और वर्ण संख्या में पूरे नहीं उतरते हैं परन्तु भाषा की प्रकृति के सार उच्चारण में समान एवं निश्चित ध्वनि-स्थान घेरते हैं । – डा० पुत्तूलाल शुक्ल: हि.छ. पृ० १६

४. मगही संस्कार गीत, पृ० ५१–५२

५क– Encyclopedia of poetry & Poetics, page 498

ख. " लोकगीतों की स्वरपरिधि प्रायः चार अथवा पाँच स्वरों की होती है।"
—महेश नारायण सक्सेना, "संगीत प्रवीण-लोक संगीत की शास्त्रीय समीक्षा," पृ० ४६

हिमाचल में विष्णु और सूर्य-पूजा

डॉ० लालता प्रसाद पाण्डेय

हिमाचल में वैष्णव सम्प्रदाय प्राचीन काल में उतना लोकप्रिय न हो सका जितना कि शैव और शाक्त सम्प्रदाय। वैसे विष्णु की मूर्तियाँ यहाँ गुप्तकाल से ही बनाई जाती थीं और अन्य देवी–देवताओं के साथ उन्हें पूजा जाता था। इस सम्प्रदाय का प्रधान देवता विष्णु था और उसमें आस्था रखने वाले भक्तों के लिए वही जगत् का स्रष्टा, संरक्षक तथा विनाशक था। इसमें विष्णु या उसके अवतारों की पूजा की जाती थी, उनकी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं, उनके लिए मन्दिरों का निर्माण किया जाता था।[1]

भारतवर्ष के अन्य भागों में वैष्णव धर्म का प्रचार ईसवी सन् के कुछ पहले ही हो गया था। विष्णु एक वैदिक देवता था। कृष्ण वासुदेव ने छठी शताब्दी के आसपास या उससे कुछ पूर्व एक नये धर्म का प्रचार किया था, जो वैदिक धारा में एक सुधारवादी आन्दोलन था। पाँचवीं शदी ई० पू० के बाद उसका बड़े जोरों से प्रचार हुआ। यह पहले उत्तर भारत में मथुरा और उसके आसपास लोकप्रिय हुआ और फिर द्वितीय तथा प्रथम शताब्दी ई० पू० तक मध्य प्रदेश और राजस्थान तक प्रचलित हो गया। इसी समय इस धर्म–धारा में प्राचीन देवता नारायण को स्वीकार कर लिया गया। फिर कृष्ण–वासुदेव–नारायण सम्प्रदाय को और भी प्राचीन बताने के लिए उसमें वैदिक देवता विष्णु को समाहित किया गया, जो मूलतः एक सौर मण्डल का देवता था। इस तरह वह वैष्णव धर्म बन गया। इसमें तीसरी–दूसरी ई० पू० में कभी अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, जिसकी पराकाष्ठा गीता में दिखाई गई और कहा गया कि जब–जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का उत्थान होता है तब–तब भगवान् कृष्ण धरती पर अवतार लेकर धर्म और धरती की रक्षा करते हैं। इस तरह उस सम्प्रदाय में अनेक अवतारों की कल्पना करके अन्य धार्मिक धाराओं तथा उनके प्रधान देवताओं को इसमें स्वीकार किया गया।[2] इससे देश के विभिन्न भागों में उसके प्रचार एवं प्रसार में बड़ी सहायता मिली। गुप्तकाल में प्राचीन देवी श्री लक्ष्मी को भी इस धारा में स्वीकार किया गया। उसे विष्णु की पत्नी के रूप में वर्णित करके इस सम्प्रदाय के विस्तार में और भी मदद मिली। इस तरह देखते–देखते वैष्णव धर्म भारत में ही नहीं वरन् दक्षिण पूर्व एशिया में भी फैल गया।[3] उसके प्रसार में पहले रामायण और महाभारत जैसे महान् ग्रन्थों की रचनायें मिलीं और बाद में विभिन्न पुराणों तथा अन्य काव्य ग्रन्थों के प्रणयन से उसे और भी लोकप्रिय बनाया गया। इसमें भक्ति को मोक्ष का साधन बताकर ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना से उसकी पूजा करना ही धर्म का बाह्य कर्म बन गया। इस पौराणिक मान्यता से इसके प्रचार में अत्यधिक मदद मिली। ऐसे सरल साधन द्वारा मोक्ष का द्वार सभी जातियों के लोगों के लिए खोलकर पौराणिक पण्डितों ने इस सम्प्रदाय को लोकप्रिय बनाने में बड़ी मदद की।[4]

हिमाचल प्रदेश में यह धर्म-सम्प्रदाय थोड़ा देर में आया। जनश्रुति है कि विष्णु-पूजा पह मायापुरी (हरिद्वार) से कुलू आई और वहाँ से उसका प्रचार हिमाचल के अन्य भागों में हुआ। सत्य जो भी हो, यहाँ इतना कहना तथ्यपूर्ण है कि विष्णु की प्रतिमा हिमाचल के काँगड़ा-क्षेत्र गुप्तकाल में लोकप्रिय थी। ऐसी एक प्रतिमा वहाँ स्थित फतेहपुर से प्राप्त हुई है, जिस पर ए अभिलेख भी लिखा है, जिसके अनुसार यह प्रतिमा छठीं शताब्दी ई० में निर्मित की गई थी।[6]

हिमाचल के इस क्षेत्र में वैकुण्ठरूप विष्णु की पूजा अत्यधिक लोकप्रिय थी।[7] कहा जाता कि कीरदेश के एक राजा ने प्रतिहार-नरेश को वैकुण्ठ-विष्णु की एक सुन्दर प्रतिमा भेंट में दी थी विष्णु की ऐसी प्रतिमाओं में चार मुख दिखाये जाते हैं, जो उसके चार व्यूह अर्थात् वासुदेव, प्रद्युम्न संकर्षण और अनिरुद्ध के प्रतीक होते हैं। ऐसी प्रतिमायें गुप्तकाल से आगे बनने लगी थीं। हिमा चल के कई स्थानों से ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं। ऐसी ही एक मूर्ति दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुर क्षित है, जो यहीं-कहीं से प्राप्त हुई है।

इस क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रधान केन्द्र मसरूर था,[8] जो काँगड़ा और बैजनाथ के बीच स्थित है। यहाँ चट्टान में काटा गया एक विशाल मंदिर विद्यमान है, जिसे 'ठाकुर द्वारा' कहा जाता है। यह पंचायतन प्रकार में बना इस क्षेत्र का एक अद्भुत वैष्णव पीठ है, क्योंकि उत्तर भारत मे चट्टान में ही कटे मंदिर प्रायः नहीं मिलते हैं।

अन्य प्राचीन वैष्णव मूर्तियों में हम निर्मण्ड से प्राप्त कुछ विष्णु-प्रतिमाओं का उल्लेख कर सकते हैं। इसमें से एक विशाल प्रस्तर प्रतिमा इस समय राज्य संग्रहालय शिमला में सुरक्षित है, जो निर्मण्ड से लाई गई है।[9] यह देवता का चतुर्भुज रूप प्रदर्शित करती है, जिसके हाथों में शंख, चक्र गदा तथा पद्म विशेष रूप से सुशोभित हैं। गले में सुशोभित माला तथा सिर के पीछे बनी प्रभा- वली विशेष रूप से दर्शनीय है। यह प्रतिमा किसी प्राचीन विष्णु-मंदिर की ओर संकेत करती है।

यहाँ बजौरा के विश्वेश्वर महादेव के मंदिर में मिलने वाली विष्णु-प्रतिमा का उल्लेख करना आवश्यक है। यह विष्णु की एक अनूठी प्रतिमाओं में से एक है।[10] यह खड़ी मुद्रा में पत्थर में तराशी गई है, जिसके दोनों तरफ दो द्वारपाल खड़े हैं। यह चतुर्भुज विष्णु का रूप प्रदर्शित करती हैं। दाहिने दो हाथों में चक्र और कमल दिखाये गये हैं और बायें हाथों में गदा और शंख सुशोभित हैं। सिर के पीछे बना प्रभामण्डल मूर्ति की शोभा बढ़ा रहा है, जिसमें दो मूर्तियों के साथ मालायें दर्शाई गई हैं। सिर पर बना ऊँचा मुकुट और कन्धों पर झूलते घुघराले बाल बड़ी बारीकी और सुन्दरता से तराशे गये हैं। शरीर सभी प्रकार के आभूषणों और यज्ञोपवीत से सुशोभित है। एक लम्बी माला गले में पड़ी है जो घुटने तक झूल रही है। दोनों द्वारपाल हाथों में चमर लिए खड़े दिखाये गये हैं।

विष्णु की इस प्रतिमा से कुलू में प्रचलित विष्णु-पूजा की ओर संकेत मिलता है। नवीं शदी में बजौरा में वह गणेश, दुर्गा, सूर्य और शिव के साथ पूजा जाता था, जब कि वहाँ का प्रधान देवता लिंग रूप धारी शिव था, जिसे वह मंदिर समर्पित है। बाद में कुलू का प्रधान देवता राम-रूप में विष्णु बना और मध्यकाल में उसे कुलू का संरक्षक देवता स्वीकार कर लिया गया। इस सिलसिले में जगतसिंह के धार्मिक योगदान का उल्लेख किया जा सकता है, क्योंकि उन्हीं के काल में (१६३७ ई०-१६७२ ई०) रघुनाथ की पूजा अवध (उत्तर प्रदेश) से कुलू लाई गई

बताई जाती है।[11] उसने सुलतानपुर में उसके लिए एक मंदिर का निर्माण करवाया। रघुनाथ की पूजा वहाँ अब भी होती है। वह कुलू का संरक्षक देवता माना जाता है। प्रतिवर्ष दशहरे के अवसर पर उसका रथ निकाला जाता है और उस समय सहस्रों लोग उसका दर्शन करने जाते हैं।

कुलू के अन्य वैष्णव मंदिरों में थावा में स्थित मुरलीधर मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है, जो आधुनिक थावा नामक ग्राम से कुछ दूर पहाड़ पर निर्मित है। कुलू के अन्य वैष्णव मंदिरों में धार में स्थित त्रियुगी नारायण का मंदिर उल्लेखनीय है, जो बजौरा के सामने व्यास नदी के उस पार स्थित है। निर्मण्ड में स्थित परशुराम का मंदिर भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

हिमाचल के चंबा-भरमौर क्षेत्र में भी विष्णु-पूजा प्रचलित थी। वैसे वहां शैव और शाक्त धर्म अधिक लोकप्रिय थे। कुछ विष्णु-प्रतिमायें तो पहले ही इस क्षेत्र में पूजी जाती थीं, लेकिन उसके लिए मंदिर का निर्माण दसवीं शताब्दी में किया गया।[12] युगाकरवर्मा ने चंबा में लक्ष्मीनायायण के मन्दिर का निर्माण करवाया और उसमें पीतल की सुन्दर प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। हरमन गोएट्ज का कहना है कि इस काल में वैष्णव धर्म चंबा का सरकारी धर्म बन गया था।[13] कुछ भी हो, दसवीं शदी में यहाँ इस धर्मसम्प्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप वहाँ विष्णु या उसके अवतारों की अनेक प्रतिमायें बनवाई गईं। यह प्रतिहार-साम्राज्य के यहाँ तक विस्तार का परिणाम माना जाता है, क्योंकि प्रतिहार-नरेश और विशेषकर मिहिरभोज और उसके उत्तराधिकारी विष्णु के उपासक थे। अतः उनके काल में वैष्णव धर्म को अन्य धर्मों के साथ सम्पूर्ण उत्तर भारत में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यहाँ सबसे प्रसिद्ध वैष्णव मंदिरों में चंबा का हरिराय मंदिर है। इसमें प्रतिष्ठित कांस्य की अद्वितीय प्रतिमा प्राचीन काल की एक अमूल्य कृति है। इसमें धोती तथा ऊँचा मुकुट धारण किये हुए देव अत्यन्त सजीव लगते हैं।

ऐसी ही नारायण की एक प्रस्तर-प्रतिमा बेरा परगना में स्थित देवी कोठी नामक-स्थान से मिली है, जिसमें त्रिमुख विष्णु का रूप दिखाया गया है। वराह और नरसिंह आदि अन्य अवतारों को इस प्रतिमा में बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति-कला के विकास के आधार पर इसे बारहवीं शताब्दी की कृति माना जाता है।

चंबा में विष्णु अवतारों की भी पूजा की जाती थी। इस दृष्टि से चंबा में दसवीं शदी में निर्मित नरसिंह मंदिर का उल्लेख करना आवश्यक है।[14] यहाँ के चौरासी क्षेत्र में दक्षिणी तरफ मणिमहेश नाम शैव मन्दिर के सामने पत्थर से बना यह मन्दिर इस क्षेत्र का एक प्रधान पूजा-केन्द्र है। इसमें नरसिंह रूप विष्णु की चतुर्भुज प्रतिमा प्रतिष्ठापित है। इस मन्दिर को चंबानरेश युगाकार वर्मा की पत्नी त्रिभुवनरेखा ने बनवाया था, जैसा कि एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है। यह देखने में मणिमहेश मंदिर से छोटा है, लेकिन सौन्दर्य में उससे कम नहीं है।

चंबा-भरमौर क्षेत्र से मिलने वाले अनेक प्रस्तर-खण्डों पर भी लक्ष्मी-नारायण विष्णु तथा उसके अन्य अवतारों की प्रतिमाएँ मिलती हैं, जिससे इस क्षेत्र में उसकी लोकप्रियता द्योतित होती है। मध्यकाल में यहाँ इसकी पूजा में और भी वृद्धि हुयी और उसके परिणामस्वरूप अन्य मूर्तियाँ भी तराशी गईं। वैसे भरमौर में राम, कृष्ण या लक्ष्मी-नारायण को समर्पित कोई मंदिर नहीं विद्यमान है, परन्तु लोग रामनवमी और जन्माष्टमी के त्योहार वहाँ अब भी मनाते हैं।

अन्य मध्यकालीन वैष्णव मंदिरों में चंबा से तीन मील दूर उसके निचले भाग में

स्थित उदयपुर में निर्मित एक वैष्णव मन्दिर का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे १७२० ई० में राजा उदयसिंह ने बनवाया था।[15] मध्यकाल में यहाँ कृष्ण और उसके विविध रूपों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। इस काल में बने मंदिरों में वंशीगोपाल-मंदिर तथा लक्ष्मी-दामोदर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मंडी-विलासपुर क्षेत्र में भी वैष्णव-धर्म प्रचलित था, लेकिन यह मूलतः शिव और शक्ति-भूमि था। करसोग तहसील में स्थित एक ग्राम से गरुड़ पर आसीन विष्णु और लक्ष्मी की एक मूर्ति मिली है। इस दृष्टि से विलासपुर का रंगनाथ मंदिर भी उल्लेखनीय है, जो पूर्व-मध्यकाल में बनवाया गया था।[16] मण्डी-क्षेत्र में बने वैष्णव मंदिरों में हुरन्ग में निर्मित नारायणदेव का मंदिर प्रमुख है, जिसे मण्डी-नरेश साहिबसेन ने सोलहवीं शताब्दी में बनवाया था। १९वीं शदी में सुकेत-क्षेत्र में बनवाये गये नरसिंह मंदिर का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

सिरमौर-क्षेत्र के वैष्णव मंदिरों में पलीदेउल नामक लक्ष्मीनारायण मंदिर विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जिसे भागीरथी के किनारे सिरमौर-नरेश मल्ही प्रकाश ने तेरहवीं शदी के प्रारम्भ में अपनी राजधानी में बनवाया था। सिरमौर में अन्य अनेक वैष्णव मंदिर पाये जाते हैं, जो मध्यकाल में बनवाये गये। वास्तव में भारत के इतिहास में यह वह काल था जब वैष्णव धर्म सम्पूर्ण देश में अत्यधिक लोकप्रिय हो चला था। तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन से माधवाचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्द, कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास, सन्त तुकाराम, मीराबाई, महाप्रभु चैतन्य तथा दक्षिण भारत के अन्य अनेक सन्तों और महात्माओं की भक्ति के रस से आप्लावित वीणा के मधुर संगीत से सम्पूर्ण वातावरण गुञ्जित हो गया था। जिसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में विष्णु तथा उसके विभिन्न अवतारों की, जिसमें राम और कृष्ण प्रधान थे, न केवल मूर्तियाँ ही बनवाई गयीं या उनके लिए मंदिरों का निर्माण हुआ, वरन भक्तिरस की तरंगिणी ने संस्कृति के अन्य अनेक पक्षों को प्रोत्साहित किया, जिसके परिणामस्वरूप नृत्य, संगीत, चित्रकला, काव्य तथा अन्य ललित कलाओं का अत्यधिक विकास हुआ। इसमें राम से अधिक कृष्ण के ललित व्यक्तित्व ने लोगों को अधिक प्रभावित किया। राधा के साथ उनके प्रेम सम्बन्ध को अधिक स्थान दिया गया क्योंकि तत्कालीन सामन्ती समाज को उससे अधिक राहत मिली। ज्ञातव्य है कि यही वह काल है जब हिमाचल प्रदेश में चित्रकला की अनेक शैलियाँ जन्मीं, जो बाद में अपनी पराकाष्ठा तक विकसित हुईं।

सूर्य-पूजा—

हिमाचल में वैष्णव देवों के साथ-साथ सूर्य की भी उपासना की जाती थी। यह क्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल से वैदिक धर्म के प्रभाव में था, जिसमें सूर्य की भी स्तुति की जाती थी। बाद में जब यहाँ पौराणिक हिन्दू धर्म का विकास होना प्रारम्भ हुआ तो उनमें सूर्य की भी प्रतिमायें बनाई जाने लगीं। उसके लिए फिर मंदिरों का निर्माण किया गया, उसकी उपासना में व्रत रखे गये और उससे सम्बन्धित मेले भी आयोजित किये गये।

कुषाण-काल में संभवतः यहाँ सौर सम्प्रदाय का जन्म हुआ, क्योंकि इस समय भारत के अन्य भागों में भी इसकी लोकप्रियता बढ़ी।[17] वैसे कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि भारत में सूर्य-पूजा कहीं बाहर से आई और उसमें कुषाणों का बड़ा योगदान है। इसके पक्ष में

सूर्य-प्रतिमाओं में मिलने वाली वेशभूषा को विशेष प्रमाण माना जाता है, क्योंकि वह कुषाण सम्राटों की वेशभूषा से मिलती-जुलती है। विशेष करके पैरों में लम्बा जूता, जो अधिकांश उत्तरभारतीय सूर्य-मूर्तियों में मिलता है। इसी प्रकार उसकी कमर में अव्यङ्ग (कटिमेखला) का दिखाना भी विदेशी तत्त्व माना जाता है। यहाँ अधिक विवाद में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि समस्या का यह एक पक्ष है। सूर्य-मूर्तियों में दोनों हाथों में कमल का प्रदर्शन और रथ सहित घोड़ों की सवारी उसकी देशी उत्पत्ति की कहानी कहती है। वैसे ऐसी भी अनेक सूर्य-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनके पैर में जूता नहीं दिखाया गया है। ऐसी मूर्तियों में शुङ्गकालीन प्रतिमायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतएव विदेशी प्रभाव से भी हीन सूर्य-पूजा भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थी। ऐसा ही सूर्य देवता के लिए बने वैदिक मन्त्रों से भी ज्ञात होता है, जिसमें उसके अनेक रूपों की स्तुति की गई है।

भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी सूर्य-मूर्तियाँ कुछ बाद में ही मिलती हैं। वैसे यहाँ तीसरी शदी ई० तक सूर्योपासना का पौराणिक रूप लोकप्रिय मालूम होता है। लाहौर में स्थित चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित मर्कुला देवी के मंदिर में प्राप्त सूर्य-प्रतिमा को गोएट्ज महोदय इस क्षेत्र की सबसे प्राचीन मूर्ति मानते हैं।[18] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत में सूर्य-पूजा का प्रचार करने वाले कृष्ण के पुत्र साम्ब को पहली सूर्य-प्रतिमा चन्द्रभागा नदी में मिली थी, ऐसा अनेक पुराणों में वर्णित है। इस आख्यान से भी इस क्षेत्र में प्रचलित प्राचीन सूर्य-पूजा पर प्रकाश पड़ता है।[19] चंबा-भरमौर क्षेत्र में स्थित गूँ नामक स्थान से प्राप्त एक सूर्य-मूर्ति भी बड़ी प्राचीन मानी जाती है।[20]

यहाँ गुप्त-काल या उसके कुछ बाद का समय सूर्य-पूजा के अधिक लोकप्रिय होने का समय मालूम होता है, क्योंकि इस काल में बने मन्दिरों में कहीं-कहीं सूर्य-प्रतिमायें मिलती हैं। उदाहरणार्थ-बैजनाथ मंदिर में प्राप्त सूर्य-प्रतिमा सम्भवतः इसी काल की मालूम होती है। वहाँ के एक अन्य प्राचीन मंदिर में एक-एक सूर्य-प्रतिमा कनिंघम महोदय को मिली थी। बजौरा से प्राप्त सूर्य-प्रतिमा को कुछ विद्वान् गुप्त-काल में ही बनी बताते हैं।

इस समय यहाँ कुछ सूर्य-मन्दिर भी बनवाये गये थे। नीरत का सूर्य-मंदिर, जो सतलज-घाटी में अब भी स्थित है, इस सम्प्रदाय का विशेष लोकप्रिय केन्द्र मालूम होता है।[22] इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ किसी मूर्ति की प्रस्थापना नहीं की गई थी और उसके स्थान पर एक सूर्य-चक्र की पूजा की जाती थी। यह भारतीय सूर्य-पूजा का प्राचीन रूप था, जिसका थोड़ा सा संकेत स्कंद पुराण में किया गया है। यह मन्दिर उत्तरभारतीय मन्दिर-शैली में निर्मित है, जिसमें सुन्दर ऊँचा शिखर बनाया जाता था। इस क्षेत्र में ऐसे मन्दिर विशेष रूप से गुप्तोत्तरकाल में बनवाये गये। इस कार्य में प्रतिहारों ने बड़ा योगदान किया था, अतएव कुछ विद्वान् ऐसे मन्दिर को प्रतिहार-शैली में बना बताते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रतिहार राजवंश में, जिनका साम्राज्य यहाँ तक विस्तृत था, कई सम्राट् सूर्योपासक थे। इन्होंने इस धर्म-सम्प्रदाय को राजसंरक्षण प्रदान किया था। इनके काल में पड़ोस में स्थित पृथूदक (पहेवा, कुरुक्षेत्र जिला) में भी एक सुन्दर एवं विशाल सूर्य-मन्दिर विद्यमान था,[23] जिसका द्वार-बिम्ब वहाँ आज भी देखा जा सकता है। गढ़वाल और कुमायूँ की पहाड़ियों में भी सूर्य-पूजा प्रचलित थी। जगेश्वर, खेतीखान तथा कटरमल के सुन्दर एवं विशाल सूर्य-

मन्दिर, जो अब भी देखे जा सकते हैं, इसी काल में बनवाये गये थे। कश्मीर की सुनहरी घा सूर्य-पूजा के लिए प्रसिद्ध थी। वहाँ का विश्व-विश्रुत, मार्तण्ड सूर्य-मन्दिर इस क्षेत्र के प्राचीन लो को अवश्य ज्ञात रहा होगा, क्योंकि वहाँ से इस क्षेत्र के लोगों का संपर्क निरन्तर बना रहता था राजतरंगिणी में कश्मीर में पूजित कई सूर्य-प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है।

हिमाचल के किसी अन्य भाग में स्थित किसी भी प्राचीन सूर्य-मन्दिर का ज्ञान हमें न है। लेकिन उसकी प्रतिमायें चम्बा, मण्डी, कुलू तथा हिमाचल के कुछ अन्य स्थानों से भी मि हैं।[24] इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य देवी-देवताओं के साथ उसकी पूजा यहाँ प्रचलित थ जो किसी न किसी हद तक मध्यकाल में भी जीवित रही। मण्डी आदि के देव-मन्दिरों में सप्ता रथ पर आसीन सूर्य-नारायण की प्रतिमायें आज भी मिलती हैं।

References:—

1- Sudhakar Chattopadhyaya, Evolution of Hindu Sects, pp. 24–89.
2- K.M. Sen, Hinduism, pp. 55–57.
3- Hindu Colonies in the Far East, pp. 96–100, 165–170.
4- R. C. Zachner, Hinduism, pp 125–146.
5- J. N. Banerjee, Pauranik and Tantric Religion. pp. 18–21.
6- J. Ph. Vogel, Inscribed Brass Statuette from Fatehpur (Kangra) – ASI 1904–5, pp. 107–109.
7- ASI, Annual Report, Vol. II, p. 240.
8- Ibid, Vol. XV, p. 46, plates 33 and 34c.
9- V. C. Ohri, (ed), Arts of Himachal, State Museum, Simla.
10- J. Ph. Vogel, The Temple of Mahadeo at Bajaira, Kulu, ASI, Annu Report, 1909–10, Calcutta, 1914, pp. 18–21, pl. 7 b.
11- H. Goetz, The Early Wooden Temples of Chamba, p. 64.
12- Ibid, p. 25.
13- Ibid, p. 33.
14- Ibid, p. 33 and p. 66.
15- Himachal Pradesh District Gazetteers, Chamba, 1963, p. 63.
16- Hermann Goetz, op. cit, p. 68.
17- L. P. Panday, Sun–Worship in Ancient India.
18- Ibid, p. 138.
19- H. Goetz, The Early Wooden Temples of Chamba.
20- B. Bhattacharya, Indian Images, Vol. I, pl. XVIII.
21- G. Buhler, Ep. Indica, Vol. I (1892), pp 97–118.
32- W. G. Van Sleen, Four Months Camping in the Himalayas (trans, by M. N. Hoper), p 44.
23- L. P. Panday, Sun–Worship in Ancient India, p. 170.
24- Ibbetson and E. Maclagan, Vol. I, p. 403.

वेदों में राष्ट्रीय भावना

डॉ० मानसिंह

वैदिक काल में समाज के राजनैतिक विकास की पाँच इकाइयाँ थीं—कुल, ग्राम, विश्, जन तथा जनपद अथवा राष्ट्र। सामाजिक संगठन की मूल इकाई कुल थी, जिसके अधिपति पिता अथवा ज्येष्ठ भ्राता को 'कुलप' कहा जाता था। कुल अविभक्त परिवार था। अनेक कुलों से मिलकर ग्राम बनता था, जिसके मुखिया को 'ग्रामणी' कहते थे। ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उसे संगठित करना, ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना उसके प्रमुख कर्त्तव्य होते थे। ग्रामणी की सहायता के लिए ग्राम-सभा होती थी। राजा ग्रामणी के माध्यम से ग्राम से सम्पर्क स्थापित करता था। अनेक ग्रामों से मिलकर 'विश्' बनता था, जिसके सर्वोपरि सत्ताधीश को 'विश्पति' कहा जाता था। उसका मुख्य कर्त्तव्य विश् के अन्तर्गत ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित रखना था। विभिन्न विशों के समुदाय को 'जन' कहा जाता था, जिसका गोप्ता अथवा रक्षक राजा होता था। राजा के अधीन जन जिस देशविशेष में रहते थे उसे 'जनपद' कहते थे। 'ऐतरेय-ब्राह्मण'[1] में यह शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसे ही 'राष्ट्र' भी कहा जाता था। वैदिक वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया गया है।[2] वैदिक युग में भारतवर्ष अनेक जनपदों अथवा राष्ट्रों में विभक्त था, जो भिन्न-भिन्न राजाओं से शासित थे। गान्धार, मूजवत् अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पुरु, भरत, उशीनर, वश, मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी, विदेह आदि ऐसे ही अनेक जनपद अथवा राष्ट्र थे।

वेदकालिक व्यक्ति के हृदय में अपने राष्ट्र का निर्माण उसकी प्रजा से होता है। इसी से आपस्तम्ब, बौधायन तथा कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्रों में 'विश' का अर्थ 'राष्ट्र' माना है। यही बाद 'ऐतरेय–ब्राह्मण' में भी मानी गई है–"राष्ट्राणि वै विशः।[3] राष्ट्र के राजा के अभिषेक का कृत्य मातृभूमि के नमस्कार से प्रारम्भ होता था–"नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या······"[4] और निर्वाचित राजा को वही मातृभूमि राज्य के रूप में बतलाई जाती थी। अभिषेक के बाद राजा वर्णों, ग्रामणी, सभाओं तथा समितियों के सदस्यों और रत्नियों की अधीनता स्वीकार करने से से पूर्व मातृभूमि की अधीनता स्वीकार करता हुआ कहता था—"पृथिवि मातर्मा मा हिं सीर्मा अहं त्वाम्"[5] (हे पृथ्वी माता! तुम मेरी हिंसा मत करो और न मैं तुम्हारी हिंसा करूँ) 'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार पृथ्वी या राष्ट्र तथा राजा में मैत्रीभाव स्थापित हो जाता है। न तो माता अपने पुत्र को पीड़ा पहुचाती है और न ही पुत्र अपनी माता को–"न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम्"।[6] राजा को राष्ट्र या राज्य संचालन, नियमन तथा धारण के लिए और कृषि, क्षेम, सम्पन्नता, पोषण अथवा वर्द्धन के लिए दिया जाता था। 'वाजसनेयि-संहिता' तथा 'शतपथ–ब्राह्मण' के वचन हैं–"······इयं ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा॥"[7] (अर्थात् हे राजा! तुझे यह राष्ट्र या राज्य दिया जाता है, तू संचालक तथा नियामक है, तू ध्रुव (दृढ़) है, धारक है, (तुझे यह

राष्ट्र दिया जाता है) कृषि के लिए, क्षेम के लिए, सम्पन्नता के लिए, पोषण के लिए)। इ
प्रकार प्रजा तथा राजा सभी मातृभूमि के प्रति अगाध भक्ति रखते थे। 'ऋग्वेद' में ब्रह्म
णस्पति से राष्ट्र के प्रति आनुकूल्य की और सपत्नों तथा शत्रुओं के निरसन की प्रार्थना
गई है –

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभिराष्ट्राय वर्तय ।
अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाऽभि यो न इरस्यति ॥
असपत्नः सपत्नहाऽभिराष्ट्रो विषासहि: ।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च ॥[8]

'वाजसनेयि—संहिता' में राष्ट्र के शारीरिक, बौद्धिक तथा प्राकृतिक सुख एवं समृद्धि का अतीव सुन्
शब्दों में कामना की गई है, जिसे हम वैदिक राष्ट्र-गीत कह सकते हैं–

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः
सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य
वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो
न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥[9]

(अर्थात् हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण उत्पन्न हों, शूर, महारथी तथा शस्त्र-विद्या में निष्ण
क्षत्रिय उत्पन्न हों, दुधारु गाएँ, भारवाहक पुष्ट बैल और शीघ्रगामी घोड़े हों; रूपगुणादिसम्
सुशील स्त्रियाँ हों, यजमानों के वीर पुत्र विजयशील, योद्धा तथा सभ्य हों; पर्जन्य हमारी आव
कतानुसार वृष्टि करे, हमारी यवादि ओषधियाँ फलयुक्त होकर पकें; और हमारा योग अ
अलब्ध की प्राप्ति तथा क्षेम अर्थात् लब्ध का परिपालन सम्पन्न हो।)

'ऋग्वेद' के संज्ञानसूक्त तथा 'अथर्ववेद' के सांमनस्य-सूक्त में राष्ट्र के सभी मनुष्यों
क्रियाओं, मन, बुद्धि तथा विचारों के पूर्ण सामञ्जस्य की भावना व्यक्त की गई है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥[10]

(अर्थात् हे लोगों ! तुम सब मिलकर चलो, मिलकर बोलो और तुम्हारे मन मिलकर
बातें जानें, जिस प्रकार देव पहले से यह जानते हुए कि अग्नि में प्रदत्त आहुतिरूप भाग
के लिए है, उसे मिलकर ग्रहण करते हैं। तुम सबका मनन समान हो, समिति समान हो,
समान हो, चित्त समान हो, मैं तुम सबको समान सम्पत्ति देता हूँ, एक समान आहुति अ
भोज्यपदार्थ से तुम्हारा आह्वान करता हूँ। तुम्हारा अभिप्राय अथवा संकल्प समान हो, तुम्
हृदय समान हों, तुम्हारे मन समान हों; जिससे तुम्हारी शोभन संगति हो)। किसी भी रा

के लोगों के मनन, चिन्तन, मन, हृदय एवं संगठन आदि में सामञ्जस्य होना उसकी प्रगति, सुख एवं समृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है।

हृदय तथा मन की समानता और विद्वेषशून्यता की कामना 'अथर्ववेद' में अन्यत्र भी की गई है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
समानी प्रथा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसे वो अस्तु ॥[11]

(अर्थात् मैं तुम्हें समान हृदय तथा मन से युक्त और विद्वेषरहित करता हूँ, तुम एक-दूसरे की कामना उसी प्रकार करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े की करती है। पुत्र पिता का अनुव्रती हो, माता से वह समान मन वाला हो, पत्नी पति से शान्त-सुखद मधुर वाणी बोले। भाई भाई से द्वेष न करे, न ही बहिन बहिन से; समगति तथा समव्रत होकर तुम भद्रभाव से वाणी बोलो। तुम बड़ों की बात मानने वाले, समान चित्तयुक्त, अवियुक्त, तथा समान उद्देश्य वाले बनो, परस्पर प्रिय बोलो; मैं तुम्हें सहकारी तथा समान मन वाले करता हूँ। तुम्हारा पान समान हो, अन्नभाग साथ-साथ हो; मैं तुम्हें समबन्धन में साथ जोड़ता हूँ; जैसे अराएँ चारों ओर से मिलकर केन्द्र में मिलती हैं वैसे ही तुम सब मिलकर अग्नि की सपर्या करो। मैं तुम्हें सहकारित्व, समान मन तथा एकगति से युक्त करता हूँ; अमृत की रक्षा करते हुए देवों की भाँति तुम सायं-प्रातः शुभ मनोभाव युक्त हो)। 'कौशिक-सूत्र'[12] के अनुसार यह सूक्त 'अथर्ववेद' के मानसिक एकता उत्पन्न करने के लिए विनियुक्त सात सूक्तों में से एक है।[13] इन वैदिक मन्त्रों में राष्ट्र के सदस्यों के मानसिक, हार्दिक तथा कर्म-सम्बन्धी समभाव की महनीय कल्पना है।

भूमि की सर्वाधिक पूर्ण, महिमामण्डित तथा भावप्रवण स्तुति 'अथर्ववेद' के भूमिसूक्त[14] में प्राप्त होती है। इसमें ऋषि ने समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा सब प्राणियों एवं पदार्थों की पोषिका के रूप में मातृरूपिणी वसुन्धरा की स्तुति की है और उससे प्रजा को समस्त दोषों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने और सुख-समृद्धि प्रदान करने के लिए प्रार्थना की है। ऋषि की दृष्टि पृथ्वी के सभी रूपों— उसकी मिट्टी, पर्वतों, वनों, नदियों, उँचे-नीचे तथा समतल देशों, कृषि-सम्पत्ति, पशु-पक्षियों, वृक्षों एवं ओषधियों, ऋतुओं, यज्ञवेदियों एवं यूपों, सभा-समि-

तियों, और नाना भाषाओं के बोलने वाले तथा अनेक धर्मों से सम्बद्ध मनुष्यों पर गई है। भूमि की माता के रूप में मान्यता 'ऋग्वेद' में भी दिखलाई पड़ती है— "उप सर्प मातरं भूमिम्[15]" (माता भूमि के पास जाओ); "माता पुत्रं यथा सिचा"[16] (माता जैसे पुत्र को) तथापि 'अथर्ववेद' के इस सूक्त के जैसे गहन ममता के उद्गार अन्यत्र दुर्लभ हैं— "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः"[17] (भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ); "सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः"[18] (वह भूमि माता मुझ पुत्र के लिए दूध का विसर्जन करे)। हिरण्यवक्षा पृथ्वी विश्वम्भरा, वसुधानी, प्रतिष्ठा तथा जगत् की निवेशनी है— "विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।"[19] वह अदिति, कामनाओं का दोहन करने वाली, विस्तृत तथा प्राणियों का बीज-वपन करने वाली है— "त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।"[20] माता भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए विस्तृत स्थान प्रदान करे— "उरुं लोकं पृथिवी न कृणोतु";[21] वह हमें ऐश्वर्य तथा वर्चस्व दे— "भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु";[22] हमारे लिए धन धारण करे— "भूमिः — — — द्रविणे नो दधातु";[23] हमें वृद्धि प्रदान करे— "सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना";[24] वाणी का मधु दे— "वाचोः मधु पृथिवि धेहि मह्यम्";[25] हमसे कोई द्वेष न करे— "मा नो द्विक्षत कश्चन";[26] और अपने शिव-कारक तत्त्वों से हमें सुखी करे— "यच्छिवं तेन नो मृल।"[27] साथ ही प्रार्थना की गयी है कि वह हमारे सपत्नों को भगाकर हमें असपत्न करे— "सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु";[28] और हमारे उत्तम राष्ट्र में कान्ति तथा बल का आधान करे— "सा नो भूमिस्त्विषिं बलंराष्ट्रे दधातूत्तमे।"[29] शान्त, सुरभित, सुखकरी, अमृत से परिपूर्ण स्तनों वाली, पयस्वती तथा महती भूमि से दुग्ध सहित अनुग्रहभाव की कामना की गयी है—

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥[30]

मातृभूमि का उपासक प्रण करता है कि मैं क्रोध करने वाले अन्य (शत्रुओं) को नीचे गिरा मारूँ — "अवान्यान् हन्मि दोधतः।"[31] वह अपने आप को सर्वतः विजयशील, सर्वजयी और प्रत्येक दिशा को वश में करने वाला उद्घोषित करता है —"अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।"[32] मातृभूमि का यह यशोगान वीरता की भावना तथा विलक्षण राष्ट्र भक्ति एवं राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित है।

इस प्रकार वेदों में देश प्रेम, राष्ट्रभक्ति तथा राष्ट्रीय भावना का समृद्ध अंकन है। वैदिक काल में यद्यपि भारत अनेक राज्यों में विभक्त था तथापि सभी का निर्विवाद लक्ष्य समुद्रपर्यन्त भूखण्ड पर एक ही राष्ट्र की स्थापना करना था। यह 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के "आऽन्तादा परार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकरालिति'[33] शब्दों से सुस्पष्ट है।

सन्दर्भिका—

* आकाशवाणी, शिमला के सौजन्य से ।

१. सं० मार्टिन हॉग, दिल्ली: भारतीय पब्लिशिङ्ग हाउस, पुनर्मुद्रित १९७६, भाग १, ८/१४

२. द्रष्टव्य ऋग्वेद ४/४२/१; १०/१७३/१, ५; वाजसनेयि-संहिता ९/२३, २२/२२; अथर्ववेद १२/१/८, २०/१२७/९, १०; शतपथ-ब्राह्मण ५/३/४/६,२१ आदि

३. ८/२६

४. वाजसनेयि-संहिता ९/२२

५. शतपथ-ब्राह्मण ५/४/३/२०

६. वही, ५/४/३/२०

७. वाजसनेयि-संहिता ९/२२; शतपथ-ब्राह्मण ५/२/१/२५

८. ऋग्वेद १०/१७४/१–२,५

९. वाजसनेयि-संहिता २२/२२

१०. ऋग्वेद १०/१९१/२–४; अथर्ववेद ६/६४/१–३

११. अथर्ववेद ३/३०/१–३,५–७

१२. १२/५

१३. ३/३०; ५/१५; ६/६४,७३,७४,९४; ७/५२

१४. अथर्ववेद १२/१

१५. ऋग्वेद १०/१८/१०

१६. वही १०/१८/११

१७. अथर्ववेद १२/१/१२

१८. वही १२/१/१०

१९. वही १२/१/६

२०. वही १२/१/६१

२१. वही १२/१/१

२२. वही १२/१/५

२३. वही १२/१/६

२४. वही १२/१/१३

२५. वही १२/१/१६

२६. वही १२/१/१८,२३–२५

२७. वही १२/१/४६,४७
२८. वही १२/१/४१
२९. वही १२/१/८
३०. वही १२/१/५९
३१. वही १२/१/५८
३२. वही १२/१/५४
३३. ८/१५

महात्मा तुलसीदास की काव्य-चेतना

(एक तान्त्रिक दृष्टि)

डॉ॰ शिवशङ्कर अवस्थी

काव्यशास्त्र की विवेचना करने वाले भले ही सहमत न हों, किन्तु कवि-समुदाय की ऐसी मान्यता रही है कि काव्य की आत्मा या चेतना रस है । यह रस चिद्विशिष्ट[1] स्थायी-रूप हो सकता है अथवा स्थायीविशिष्ट[2] चिद्रूप । तुलसीदास की दृष्टि भिन्न है। वे नामब्रह्म के उपासक हैं । उनके लिए नाम और नामी एक हैं, तो भी नामी या रूपब्रह्म पर वे उतना बल नहीं देते जितना नामब्रह्म पर—

नास भरोस, नाम बल, नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनन्दन, तुलसिहिं देहु ।।
— बरवै रामायण

तुलसीदास मुक्ति नहीं चाहते । उन्हें अनेक जन्म मिलें कोई चिन्ता नहीं । जन्म-जन्मान्तर में केवल नाम पर उनकी अडिग आस्था, नाम का ही बल और नाम के प्रति स्नेह बना रहे यही याचना है । क्यों ? किनलिए ? परमोपाय तथा चरम उपेयरूप जिस नामब्रह्म में निगूढ़ रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के महदैश्वर्य का साक्षात्कार करके जिन्होंने परम विश्राम पाया था उसे यों ही भुला देना क्या सम्भव है ? जन्म एवं मृत्यु की अटूट तथा अतलस्पर्शी धारा के लिए जो दृढ़ नौका, अक्षय पाथेय और अमर प्रकाश के रूप में अनुभूत है, उसे हाथ से निकल जाने देना क्या बुद्धिमानी होगी ? नहीं, कभी नहीं—

पायेउँ नाम चारु चिन्तामनि उर करते न खसैंहौं ।
—विनयपत्रिका

घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे ।
—विनयपत्रिका

नाम, निज नाव है— अपनी नौका है । जब चाहा खोल दिया और पार । उसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं ।

महाकवि तुलसीदास के काव्य की आत्मा नाम ही है। वे कहते हैं—

"भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्व बिदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक ।।"

'रामचरित मानस' यद्यपि ओजः, प्रसाद आदि गुणों से रहित हो सकता है किन्तु एक गुण इसमें निश्चित रूप से विद्यमान है । और वह है राम नाम के यश का अङ्कन । "राम नाम जस अङ्कित जानी ।" 'आत्मा' है नाम और 'जस' है गुण ।

"रामसीय जस सलिल सुधासम।"
"चली सुभग कविता सरिता सो।
राम विमल जस जल भरिता सो।।"

यश नाम की महिमा या विस्तार है, जिससे सम्पूर्ण मानस भरा हुआ है। कवि की स्पष्ट घोषणा है—

एहि मह रघुपति नाम उदारा,
अति पावन पुरान श्रुति सारा।

इस काव्य (भनिति) में रघुपति का नाम परिव्याप्त है। उदार शब्द के दो अर्थ हैं; एक वदान्य-दानशील और दूसरा उद्रिक्त- चतुर्दिक् व्याप्त। यह नाम, मन एवं शरीर को अत्यन्त पवित्र करने वाला तथा पुराण एवं श्रुतियों का सार है। मङ्गल अर्थात् अभिप्रेतार्थसिद्धि अथवा धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के संरक्षण का आश्रय स्थान है। इसके जप से समस्त अमंगलों का क्षय हो जाता है। इतना ही नहीं; महेश्वर, उमा समेत जिसका जप करते रहते हैं।

अपने महनीय काव्य के वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण में तुलसीदास, सर्व प्रथम कहते हैं।—'वर्णानाम्······ '। वर्ण, हिरण्मय आवरण है और उसके पीछे निहित सत्य भी। हिरण्मय वर्ण ही, भगवती वाणी रूप शक्ति हैं और अनेक वर्ण, उसकी देहज रश्मियाँ।

" आदि हान्तनिजदेह निर्गताः
षष्टिरत्र चतुरुत्तरा रुचः।
खेचरीजठरनिष्ठितास्त्वया
मङ्गले परमभेदतः कृताः ।।१२७।।

—चिद्गगनचन्द्रिका।

'अ' से लेकर 'ह' तक चौसठ रश्मियाँ[3]—वर्ण, जो तुम्हारे शरीर से निकलीं, अयि मङ्गले, अपने से अभिन्न रूप में, खेचरी के जठर में, उन्हें तुमने स्थापित किया।

क्रम (शाक्त) दर्शन में, महाशक्ति को वामेश्वरी कहते हैं क्योंकि वह संसार का वमन-बहिः प्रकाशन करती है। भेद और अभेदमय किन्तु भेद सार जगत् की उत्पत्ति करना वामाचार है, इस प्रकार का आचरण करने के कारण वे वामेश्वरी कहलाती हैं। संसार दशा-पशुदशा की अवतारणा के अवसर पर ये चार रूप ग्रहण करती हैः- (१) चिद्गगनचरी अथवा खेचरी (२) गोचरी, (३) दिक्चरी और (४) भूचरी। 'खे-बोधगगने चरन्तीति खेचर्यः-' सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और स्वतन्त्रत्व-ये चार शक्तियाँ खेचरी कहलाती हैं। खेचरी का यह पारमार्थिक रूप है। साँसरिक रूप है—अल्पकर्तृत्व, अल्पज्ञत्व,अपूर्णत्व, अनित्यत्व, और अस्वतन्त्रत्व।

सम्पूर्ण वर्णमाला खेचरी के गर्भ में विद्यमान रहती है। वर्ण दो प्रकार के होते हैं:— (१) मायीय (२) अमायीय। अमायीय वर्णों से मायीय वर्ण उत्पन्न होते हैं। हम लोगों के द्वारा उच्चरित मायीय वर्णों में अमायीय वर्णवीर्य के रूप में विद्यमान रहते हैं। अमायीय वर्ण,अकृत्रिम (चिद्रूप)

एवं संकोच रहित होने से अनन्त कहे जाते हैं। मायीय वर्णों में अमायीय वर्णात्मक वाचकशक्ति वैसे ही विद्यमान रहती है जैसे अग्नि में उष्णता[4]।

तुलसीदास का 'आगमसम्मतत्व' देखते चलिए। वे काव्य के आदि में वस्तुनिर्देशात्मक सीता और राममय आद्या शक्ति और शिवमय या वाणी और विनायक (विशिष्ट नायक—'ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता–' ऋग्वेद, यजुर्वेद) मय वर्णों का नाम लेते हैं। 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में कहा गया है —

बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा, बीजं स्वरा मताः।
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः ॥
बीजमत्र शिवः, शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते।
वर्गाष्टकविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला
रुद्राणां वाचकत्वेन तत्संख्यानां निवेशिता।

वर्णों के दो भेद हैं—(१) बीज और (२) योनि। स्वरों को बीज कहते हैं, और ककारादि वर्ण योनि के नाम से स्मृत हैं। अ, क, च, ट, त, प, य, श और क्ष ये वर्णों के नव वर्ग भेद है। बीज वर्ण शिव और योनि वर्ण शक्ति के नाम से कहे जाते हैं। कुछ लोग इन्हें आठ वर्गों में विभक्त करते हैं। ये वर्ण रूपी रश्मियाँ संख्या में पचास हैं जो रुद्रों की वाचिका हैं।

स्पष्ट है कि वर्ण, कोई सामान्य ध्वनिमात्र नहीं हैं, वे शिव और शक्ति के सम्पुञ्जित रूप हैं। अतः तुलसीदास काव्य के आदि में कहते हैं—'वर्णानाम्……'।

वस्तुतः शब्दार्थ रूप अर्थ, और साँसारिक पदार्थ, षट् रस और नवरस अथवा अपार रस–भेद, आर्थिक छन्द और वाचिक छन्द तथा सम्पूर्ण मङ्गल, वर्णों से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वर्णों का आदि में नाम लिया गया है—

पञ्चभूतमया वर्णा वर्गशः प्रागुदीरिताः।
तस्माज्ज्ञानेन्द्रियात्मानः प्रपञ्चं तन्मयं विदुः ॥६८॥

(शारदातिलकतन्त्र, पटल ६)

अ से लेकर क्ष पर्यन्त समस्त वर्ण, चिन्मयी जगदम्बा के, ब्रह्माण्ड के शिरोदेश में स्थित सहस्रदल कमल की कर्णिका के अन्तर्गत महामध्य त्रिकोण रूपी सिंहासन में जटित मणियाँ या मुक्ताफल हैं :—

[5]आदिक्षान्तसमस्तवर्णसुमणिप्रोक्ते वितानप्रभे,
ब्रह्मादिप्रतिमाभिकीलितषडाधाराब्जकक्षोन्नते।
ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि, ते मूर्तिं भजे चिन्मयीं,
सौषुम्णायतपीतपङ्कजमहामध्यत्रिकोणस्थिताम् ॥२॥

(त्रिपुरामहिमस्तोत्र)

प्रत्येक पुरुष के शरीर में वर्णमाला नित्य रूप से विद्यमान रहती है। ये वर्ण, मन्त्र रूप हैं ;—

" सर्वेऽपि वर्णाः केवलाः, संयुक्ताः, समुचिता अपि सर्वार्थसाधका मन्त्रा एवेति "

— (प्रयोगक्रमदीपिका, प्रपञ्चसारतन्त्रटीका, तृतीयपटल ।)

सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी, शाश्वत एवं विश्वयोनि माँ शारदा के मुख, बाहु, चरण, हृदय आदि शरीर के अङ्ग वर्णों से घटित होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि तुलसीदास 'वर्णानाम्' का काव्य के आदि में, प्रयोग करते हैं तो सर्वथा उचित है।

अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गै—

विरचितमुखबाहा पादमध्याख्यहृत्का ।

सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि—

वितरतु परिशुद्धि चेतसः शारदा वः ।।

(प्रपञ्चसारतन्त्र)

यह ध्यान रहे कि वर्णों का इन्द्रियग्राह्य जो उच्चरित रूप है वही शारदा या वाणी है। और इन्हीं में विद्यमान वाच्यरूप अमायीय (चिद्रूप) वर्ण ही विनायक है—(विः पक्षिरूपो जीवौघः तन्नेतृत्वाद्विनायकः) अथवा 'वाग्वै ब्रह्मपतिस्तस्या इत्येष ब्रह्मणस्पतिः'— गणेशसहस्रनाम, खद्योत टीका। वाणी, ब्रह्म है और उसका पति ब्रह्मणस्पति या विनायक है।

'वर्णस्य' न कह कर जो 'वर्णानाम्' कहा गया है इसमें भी रहस्य है। 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः' —सम्पूर्ण काव्य जगत् और व्यावहारिक जगत् शक्तियों (वर्णशक्तियों) से घटित है और महेश्वर उन शक्तियों से शक्तिमान् है। यद्यपि महाशक्ति भी एक ही है—'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'। तथापि जगत् के निर्वाहार्थ विभूत्यात्मक शक्तियों की आवश्यकता होती है। मूल वर्ण एक ही है, वही शक्तियोग से अनेक वर्णों की रचना करता है—

"एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।"—श्वेताश्वरोपनिषद्, अध्याय ४ (कामकला-विलास की टीका में उद्धृत)

"एकाक्षरा वै वाक्'—ताण्ड्य ब्राह्मण ४/४/३

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।

सोऽनस्तमित रूपत्वादनाहत इहोदितः ।।२।७।।

—तन्त्रालोक, अह्निक ६

"एक नादात्मक वर्ण, कुण्डलिनी शक्ति है। यही प्रणव भी है—(अध्युष्टवलयाकारा प्रणवत्वमुपागता।) समग्र वर्ण इसी में अविभक्त रूप से सन्निहित रहते हैं और इसी से उत्पन्न होते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अन्तराल में अनस्तमित रूप में यह अहर्निश ध्वनित होता रहता है। अतः इसे अनाहत नाद कहते हैं।"

महाकवि तुलसीदास यहाँ 'वर्णानाम्' कह कर काव्य जगत् के संघटक तत्त्वों की सूचना देते हैं। समाहारात्मक एक वर्ण से काव्य निर्मिति असम्भव है। अतः वे उचित ही 'वर्णानाम्' के द्वारा काव्य के कलेवर की संरचना का उपादान प्रस्तुत करते हैं। अब तक ६ अन्य कवि और लक्षण ग्रन्थकार, काव्य में वाक्य या पदावली को महत्त्व देते रहे हैं किन्तु मानस का महाकवि, आगम और निगम निरूपित वर्ण-रहस्य को जानता हुआ अक्षर-वर्णों को ही काव्य का मूलाधार स्वीकार करता है। यथा—

१. आखर अरथ अलंकृति नाना,
छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना ॥ —बाल काण्ड ।

२. कबिहिं अरथ आखर बल सांचा ।
—अयोध्याकाण्ड ।

३. सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे ।
अरथु अमित अति आखर थोरे ॥
—वही

तुलसी के काव्य में वर्णवाद की स्थापना अकारण नहीं। वैदिक परम्परा में ख्यात नित्य वर्णवाद एवं मन्त्रदेवतावाद से पूर्णरूप से सहमत होकर ही वे इसे अपनाते हैं। मीमांसादर्शन के भाष्य में शबरस्वामी कहते हैं:—"अयं गौः इत्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः"……………वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः—ब्रह्मसूत्रभाष्य। पूर्व मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा सूत्रों पर बौधायन का 'कृतकोटि' नामक भाष्य था। आचार्य उपवर्ष ने उसका संक्षेप किया था। वहीं से दोनों भाष्यकार अपना मत उद्धृत करते हैं। इनके मत में वर्ण नित्य हैं और उन्हीं से मन्त्र बनते हैं। मन्त्रों की आनुपूर्वी ही मन्त्रमयी देवता है। पूर्वमीमांसा के मत में शरीरिणी देवता स्वीकृत नहीं किन्तु वेदान्त में है। "परममहत्त्वं च वर्णानाम्—

वर्णात्मकाश्च ये शब्दाः नित्याः सर्वगतास्तथा ।
पृथग्द्रव्यतया ते तु न गुणाः कस्यचिन्मताः ॥"

—तत्त्वविन्दुटीका-तत्त्वविभावना

वर्णात्मक शब्द, नित्य एवं सर्वगत हैं, वे द्रव्य रूप हैं, किसी आकाशादि के गुण नहीं।

महामुनि पतञ्जलि ने महाभाष्यगत श्लोकवार्तिक में लिखा है :—"वर्णज्ञानं वाग्विषयः यत्र च ब्रह्म वर्तते। 'अर्थात् वर्णमाला, वेद, शास्त्र पुराणरूप सम्पूर्ण वाग्व्यवहार का निबन्धन है। वर्णों में बोध्यरूप में ब्रह्म ही विद्यमान है। इसी श्लोक की व्याख्या में वे कहते हैं :—

यह वर्णमाला या वाक्य समाम्नाय, ब्रह्मराशि है— ब्रह्म तत्त्व ही शब्द रूप में प्रकाशित है। चन्द्रवर्ण, तारक के समान अनादि एवं नित्य हैं। इनके ज्ञान एवं प्रयोग से अभ्युदय रूप दृष्ट फल तथा निःश्रेयस् रूप अदृष्ट फल उपलब्ध होता है।

इसीलिये महात्मा तुलसीदास रामचरितमानस के आदि में 'वर्णानाम्' का मङ्गलमय उच्चारण करते हैं। भगवती के कण्ठ में विद्यमान मुण्डमाला वस्तुतः वर्णमाला है, जिससे वे सम्पूर्ण जगज्जाल का निर्माण करती हैं।

पञ्चाशद्वर्णमुण्डाली गलद्रुधिरचर्चिताम् ।
— निरुत्तर तन्त्र।

वदन्ति सुधियो वृक्षं नित्यं वर्णमयं शुभम् ।
परसंविन्महाबीजं बिन्दुनादमहाशिवम् ॥
पृथिव्यक्षरशाखाभिः सर्वाशासु विजृम्भितम् ।
सलिलाक्षरपत्रैः स्वैः सञ्छादितजगत्त्रयम् ॥
वह्निवर्णाङ्कुरैर्दीप्तं रत्नैरिव सुरद्रुमम् ।

मरुद्वर्णलसत् पुष्पै र्द्योतयन्तं वपुः श्रियम्।।
आकाशार्णफलैर्नम्रं सर्वभूताश्रयं परम्।
पराभूताख्य मधुभिः सिञ्चन्तं परमेश्वरीम्।।
वेदागमादिभिः क्लृप्तसमुन्नतिमनोहरम् ।
शिवशक्तिमयं साक्षाच्छायाश्रितजगत्त्रयम्।।
एनमाश्रित्य मुनयः सर्वान्कामानवाप्नुयुः।

——शारदातिलक तन्त्र, षष्ठ पटल

ज्ञानी जनों ने, नित्य एवं शुभ वर्णमय वृक्ष का निरूपण किया है। परसंवित्– कुलकुण्डलिनी या परब्रह्म उस वृक्ष का बीज है। उसकी जड़ विन्दुनादमयी है। पार्थिव अक्षर रूपी उसकी शाखायें दिग्दिगन्त में फैली हुई हैं। अपने सलिलाक्षर रूपी पत्तों से वह त्रिलोकी को आच्छादित किए हुए है। आग्नेय वर्ण रूपी अङ्कुरों से वह देवद्रुम मानों रत्नों से जगमगा रहा है। वायव्य वर्णात्मक पुष्पों से उसके कलेवर की शोभा बढ़ रही है। आकाशीय[१] वर्णों के फलों से झुका हुआ वह वृक्ष सम्पूर्ण प्राणियों का परमाश्रय है। परामृतरूपी मधु से परमेश्वरी को नहलाने वाला, वेद और आगमादिकों से निर्मित उन्नति से मनोहर साक्षात् शिव और शक्तिमय है। त्रैलोक्य, इसकी छाया के आश्रित है। इस वृक्ष का आश्रय लेकर मुनियों ने अपनी समस्त कामनाओं को परिपूर्ण किया है।

प्रस्तुत दृढ़ भूमिका पर महात्मा तुलसीदास ने अपने काव्य की वर्णवादी पीठिका का निर्माण करके उस पर नामब्रह्ममयी काव्य-चेतना की कमनीय मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की है। समग्र वर्णों के शिरोदेश में छत्र और मुकुट मणि के समान विद्यमान नाद और विन्दु रूप 'रा' और 'म' सम्पूर्ण आग्नेय, सौर एवं सौम्य वर्णों के जनक हैं।

बंदउ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।।

ओङ्कारात्मक 'राम' नाम कृसानु, भानु और हिमकर का उपर्युक्त रूप से हेतु है—

सोमसूर्याग्निभेदेन मातृकावर्णसम्भवाः ।।

—शारदातिलक तन्त्र।

एषु स्वराः स्मृता सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सूर्यसोमाग्निदेवताः ।

—वही

स्वर सौम्य वर्ण हैं; स्पर्श–(क से म तक) सौर, समस्त य र ल वादि व्यापक वर्ण आग्नेय हैं। इस प्रकार सूर्य, सोम और अग्नि इनके देवता हैं। 'रा' और 'म' ये दोनों वर्ण तुलसी के माँ-बाप हैं।

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मो को तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।

× × ×

मेरे तो माय बाप दोउ आखर, हौं सिसु अरनि अरो।
अपनो भलो राम नामहि ते, तुलसिहि समुझि परो।।

ता को भलो अजहूँ 'तुलसी'
जेहि प्रीति-प्रतीति है आखर दू की।

× × ×

राखि हैं रामु सो जासु हिए,
तुलसी हुलसै बलु आखर द्वु को ।।

'रा' माय है और 'म' बाप । 'विन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः' । —शा० ति० तन्त्र

ज्ञान प्रक्रिया में माँ या शक्ति का स्थान पहला है और पिता का स्थान दूसरा । शक्ति के द्वारा ही शिव का सन्धान मिलता है । इसी प्रक्रिया के अनुसार तुलसीदास कहते हैं—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ।
यत्तदूर्ध्वशिखरं परं नभः
तत्र दर्शय शिवं त्वमम्बिके ।।

नाम ही महाशक्ति है जिसका सहारा लेकर परमपुरुष या शाश्वत सत्ता, चिरन्तन चेतना और निरतिशय सुख की उपलब्धि की जा सकती है । इसीलिए तुलसीदास अपने काव्य के मर्म का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं— 'एहि मह रघुपति नाम उदारा' ।

टिप्पणियाँ:—

१- इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावोरस इति स्थितम् ।

२- वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।
—रसगङ्गाधर, प्र० आनन ।

३- अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम् ।
मातरः शक्तयो देव्योरश्मयश्च कलाः स्मृताः ।।
—भट्टभास्कर

४- शब्दे वाचकशक्तिश्च नित्यैवाग्नाविवोष्णता ।
तेनानन्तो ह्यमायीयो यो वर्णग्राम ईदृशः ।
संविद्विमर्शसचिवः सदैव स हि जृम्भते ।।७१।।
यत एव च मायीया वर्णाः सूतिं वितेनिरे ।
ये च मायीयवर्णेषु वीर्यत्वेन निरूपिताः ।।७२।।
—तन्त्रालोक, आह्निक ११ ।

५- ऐ माँ, अकारादि क्षकारान्त समस्त वर्णों के मुक्ताफलों से गुम्फित, वितान के सदृश उज्ज्वल और विस्तृत, ब्रह्मादि की प्रतिच्छवियों से मण्डित चतुर्दल से लेकर द्विदल पर्यन्त (मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र तक) चक्रों के कक्ष से उन्नत, ब्रह्मरन्ध्र स्थान में विद्यमान सहस्रदल कमल के आसन में सुषुम्णा सम्बन्धी आयत एवं हरिद्राभ कमल की कर्णिकागत त्रिकोण में विन्दुरूप स्वयम्भू लिङ्ग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर महाकाल भुजगी के समान स्थित तुम्हारी चिन्मयी मूर्ति का मैं भजन करता हूँ ।

६- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् —विश्वनाथ

७(क) शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली —काव्यादर्श, दण्डी

(ख) 'मृदुललितपदाढ्यम्—' नाट्यशास्त्र ।

८- तस्य विंशत्यध्यायनिबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटिनामधेयं भाष्यं बोधायनेन कृतम् । तद्ग्रन्थ-बाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित्संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम् । —प्रपञ्चहृदय ।

"भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रे वृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः ।" —रामानुजभाष्य ।

९- ततो भूतात्मका वर्णाः पञ्च पञ्च विभागतः ।
वाय्वग्निभू जलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ॥

शा० ति० तन्त्र, २ पटल

—:०:—

उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक भूगोल

डा० शिवप्रसाद नैथानी

युग युगों से मानव हिमालय से प्रेरणा लेता रहा है, इसमें बाह्य आकर्षणों से भी परे कुछ और अधिक श्रेष्ठतायें हैं, इस भावना ने इसे आध्यात्मिक खोज का पुनीत स्थल बनाया है। अतः प्राचीन काल की भारत की मूल आस्त्रोलाइद जाति, हिमालय से निःसृत गंगा-यमुना से इतनी प्रभावित हुई कि गंगा संस्कृति के देश से बाहर जहां-जहाँ भी बह गई वहाँ की नदियों को गंगा सदृश नाम प्रदान करती गई। इस प्रकार भारत की गंगा इन्डोचाइना में मीकांग, दक्षिणी चीन में कियांग, उत्तरी चीन में ह्वांग सदृश नाम प्रदान करने का कारण बन गई, क्योंकि आंग या गांग शब्द मूलतः आस्ट्रिक शब्द हैं।[1]

तभी से गंगा की पावनता और महत्त्व से आकृष्ट होकर, गंगास्रोत प्रदेश की यात्रा करने तथा यहाँ चतुर्थाश्रम बिताने की परम्परा चल पड़ी। अलकनन्दा और भागीरथी की सभी सहायकों को भी गंगा मानकर तथा प्रत्येक संगम को पुण्यभूमि मानकर यहाँ जो तीर्थ एवं मन्दिर स्थापित हुये,उन्होंने सम्पूर्ण उत्तराखण्ड को ही पावन बना दिया। जहाँ पर उच्चश्रृंगों की श्रृंखलायें प्रारम्भ होती थीं वहाँ पर गिरिद्वारों में रक्षक देव की कल्पना ने 'यक्ष प्रतिष्ठा' को महत्त्व दे दिया। और जब संकीर्ण एवं भयानक गिरिद्वारों के बाद यकायक मनोरम तथा निसर्ग उपत्यकाओं के दर्शन हुए तो स्वभावतः ही उन स्थानों को सर्वश्रेष्ठ देवताओं का निवास स्थान घोषित कर दिया गया। अतः ऐसे स्थानों पर कला के श्रेष्ठ प्रतीक मन्दिरों की स्थापनायें होती रहीं। वे स्थान और भी सुप्रसिद्ध हो गये जहाँ धवल हिमशिखरों के मध्य प्रकृति का अद्भुत चमत्कार तप्तकुण्ड या उष्णजलधारा के स्थल दिखाई दिए। इनमें भी सर्वाधिक पूज्य वे स्थान हुए जहाँ अनेक ऐसे तत्त्व एक साथ मिल गए। अतः आदि बद्री (मध्यगढ़वाल) से बद्रीनारायण खिसककर वृद्धबद्री [अणिमठ] होते हुए बद्रीनाथ में जा विराजे जहाँ नरनारायण के भव्य-धवल हिमशिखरों के मध्य १०००० फुट की ऊँचाई में विष्णुगंगा एक सुरम्य उपत्यका बनाती हैं तथा दायें किनारे पर १२८^{0} तापक्रम वाली उष्णजलधारा प्रवाहित होती है। इसका रक्षक विशालाक्ष यक्ष था। अतः इसका स्थानीय नाम बद्रीविशाल प्रचलित हो गया।

ऐसे श्रेष्ठतम पंचबद्री[2] स्थानों में बद्रीनाथ का निवास जब सुरक्षित हो गया तो हिमालय में छाई कस्सई जाति के आदि देव महेश्वर <महाशिव <महासू को अपनी चिन्ता हुई, जल से विदीर्ण भूमि के अधिपति [के+दार] केदार की चिन्ता, वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसार के कारण बढ़नी थी ही, सो उन्होंने भी पंचकेदार[3] घोषित कर दिए, उच्चतुंग पर स्थापित हुए तो तुंगनाथ नाम ले लिया, केदारपर्वत की क्रोड़ में बसे तो केदारनाथ बनना ही था तथा पंच केदार के मध्य में बसे तो मध्यमहेश्वर [मदमहेश्वर] नाम पड़ना ही था।

गंगा जहाँ पर भगीरथ के भगीरथ प्रयत्नों से उतरीं, उस स्थल का नाम गंगोत्री पड़ा, तो जहाँ पर यमुना उतरीं उस स्थान का नाम यमनोत्री स्वतः ही होना था। समस्त पर्वत श्रृंखलाएँ शिव के जटा जूट के समान फैली थीं ही अतः उनसे निःसृत जल का संकुलित रूप अलकनन्दा [अलक+नन्दा] नाम लेकर देवप्रयाग में भागीरथी के साथ संगम कर गंगा नाम से

जगत्प्रसिद्ध हो गयीं। उल्लेखनीय है कि पुराणों में सुमेरु से निकलने वाली चार गंगाओं में, दक्षिण को बहने वाली गंगा का नाम अलकनन्दा ही बताया गया है।[4] अलक अर्थात केश, नन्दा अर्थात्पुत्री, अतः अलकनन्दा भी शिव के केशों से निकलने वाली गंगा हुई, जो निःसन्देह भगीरथ से भी प्राचीन थी। जब गंगा का जल कम होने लगा और नौ चालन में बाधा आने लगी तो इक्ष्वाकु वंशी भगीरथ के भगीरथ प्रयत्नों से ही इसमें भागीरथी का जल बढ़ाकर इसे पूरित किया गया।

ये प्रयत्न सगर के समय से चल रहे थे। संभवत उसी युग से चक्रवर्ती नरेशों और परिव्राजकों से लेकर गृहस्थों तक ने इसे कर्मक्षेत्र बनाकर जनसंकुल बनाने का श्रीगणेश किया होगा। विजयवाहिनियों के प्रयाणों ने और यात्रापथों की निकटता ने यहाँ के मूल निवासियों कोल, किरातों के साथ आर्यों की टोलियों को भी निवसित होने का अवसर प्रदान किया। पल्लिकायें ग्रामों में और तीर्थ पुरों के रूप में विकसित होने लगे। ग्राम-हाट और पुरों तथा आश्रमों ने इसके बाद सत्ताधारियों को सत्ता स्थापित करने को आहूत किया और जब उन्होंने देखा कि देवभूमि तिब्बत से आनेवाला मार्ग एवं व्यापार-पथ इसी क्षेत्र से होकर आता है तो इससे होने वाली आय ने उनमें सत्ता-स्थापना की ललक पैदा कर दी। अंतः अशोक के शिलालेख भी यहाँ लिखे जाने लगे, पुष्यमित्रों की परम्परा में अनेक नरेश यहाँ आकर अश्वमेध यज्ञ करने लगे और गुप्तकाल में तो समुद्रगुप्त ने सीमान्त राज्यों में नेपाल के बाद कर्तृपुर-विजय का उल्लेख कर इसे उत्तराखण्ड का प्राचीन ऐतिहासिक राज्य का गौरव ही प्रदान कर दिया।

इस प्रकार उत्तराखण्ड, जो आज गढ़वाल तथा कुमाऊँ नाम के दो संभागों में बँटा है तथा ३००२९ वर्गकिलोमीटर में फैला है, इतिहास, भूगोल तथा नृवंशीय अध्ययन का एक रोचक स्थल है। यहाँ की उच्च हिमालयी श्रेणियों में स्थित प्राचीन काल के वेत्रवन प्रसिद्ध थे। आज देवदारु के वन प्रसिद्ध हैं। रंकु भेड़ों का ऊन पहले भी प्रसिद्ध था, आज भी है। यहाँ के हिमनद अनन्त काल से स्वर्गारोही रहे हैं आज भी हैं, आज भी उत्तराखण्ड, 'कृण्वन्तो विश्वमायम्' का घोष करने वाले आर्यों के समान, पर्यटकों को भी उसी प्रगाढ़ स्नेह से आकर्षित करता है जैसा पहले करता था, और तो और सर जान स्ट्रेची भी इसे यकायक देखकर नहीं, पूरे दस वर्ष तक यहाँ रहकर यह कहने को विवश हो उठे "मैंने यूरोप के पहाड़ भी देखे हैं परन्तु भव्यता, उच्चता और सौन्दर्य में इनका कोई मुकाबला नहीं कर सकता।"

अतः आज भी जब पर्यटक अथवा यात्री पंवाली दर्रे से वर्फानी श्रेणियों की श्रृंखलायें देखता है तो वह स्वर्गीय भावों से अभिभूत हो जाता है और जब उसे पता चलता है कि उसके इस दृष्टिपथ के सम्मुख गंगा, यमुना, सतलज, सिन्ध तथा ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थल विद्यमान हैं,[5] तो वह चमत्कृत हो उठता है।

सन्दर्भ—

१. मजूमदार तथा पुसलकर—द वैदिक एज, पृ० १५६
२. पंचबद्री—आदिबद्री, भविष्यबद्री, वृद्ध बद्री, योगबद्री, ध्यानबद्री।
३. पंचकेदार—केदारनाथ, मध्यमहेश्वर, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, कल्पेश्वर।
४. मुजफ्फर अली—द ज्योग्राफी आफ पुराणाज पृ० ६३-६४
५. पातीराम—गढ़वाल ऐंश्यन्ट एण्ड माडर्न पृ० ४८

बौद्ध धर्म में नारी

डॉ कोमलचन्द्र जैन

बौद्ध धर्म के मूलभूत या आधारभूत ग्रन्थ आगम कहलाते हैं। ये आगम त्रिपिटक शब्द से प्रसिद्ध हैं। ये स्थविरवादी परम्परा के हैं तथा इनकी भाषा पालि है। इन आगमों में भारतीय समाज एवं संस्कृत के विभिन्न रूपों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती हैं। इन रूपों में नारी के रूप का प्रमुख स्थान है। कारण, सांस्कृतिक क्रान्ति में नारी समाज ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

बौद्ध धर्म में उपलब्ध नारी के विभिन्न रूपों में दो रूप विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। पहला सामाजिक नारी एवं दूसरा भिक्षुणी। जहाँ तक पहले रूप का प्रश्न है, बौद्ध धर्म में उसकी उन्नत अवस्था उपलब्ध होती है। इस उन्नत अवस्था की स्पष्ट झलक तब मिलती है जब बौद्ध धर्म में उपलब्ध सामाजिक नारी की तुलना उससे पूर्ववर्ती साहित्य में उपलब्ध सामाजिक नारी की स्थिति से की जाय।

यद्यपि वैदिक युग में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथापि सामरिक वातावरण के कारण उस समय पुत्र-प्राप्ति को महत्त्व दिया जाता था।[1] ब्राह्मण साहित्य में ऋण-मुक्ति के सिद्धान्त ने पुत्र प्राप्ति को धार्मिक महत्त्व प्रदान कर दिया।[2] सूत्र काल में पुत्र को प्राप्त धार्मिक महत्त्व को नाना रूपों से प्रदर्शित किया गया।[3] इसके साथ ही पुत्री के विवाह के सम्बन्ध में कठोर नियम बनाये गये।[4] फलतः रामायण एवं महाभारत के काल तक पुत्री कष्ट का साकार रूप बन गई।[5] पुत्री की इस दयनीय अवस्था का प्रभाव नारी के शेष रूपों पर भी पड़ा। कन्या के अल्पायु विवाह के कारण पुत्रवधू के रूप में विद्यमान नारी पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता था। गृहपत्नी के रूप में नारी पति के ऋण-मुक्ति रूपी साध्य का साधन मात्र बनकर रह गई।[6] विधवा नारी समाज में अमंगल सूचक समझी जाती थी।[7] उन्हें भिक्षुणी या साध्वी बनकर आत्महित करने का भी अवसर नहीं था क्योंकि स्त्रियाँ धार्मिक अधिकारों से च्युत कर दी गई थीं।[8] इस प्रकार बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व नारी का स्थान नर की अपेक्षा हीन हो गया था।

बौद्ध धर्म में नारी की इस अवनत अवस्था में सुधार प्रारम्भ हुआ। इसके दो प्रमुख कारण थे, पहला यह कि भगवान् बुद्ध ने पुत्र को महत्त्व प्रदान करने वाले ऋण-मुक्ति, पुन् नामक नरक का त्राता आदि विभिन्न सिद्धान्तों को मान्यता नहीं दी और दूसरा यह कि उन्होंने (भगवान् बुद्ध ने) कन्याओं में स्वाभिमान एवं स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों का प्रसार किया। पुत्रवधू को स्नेह एवं गृहपत्नी को उचित सम्मान देने की भी बौद्ध आगमों में प्रशंसा उपलब्ध होती है।[9] इन सब कारणों से यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि बौद्ध धर्म से सामाजिक नारियों की स्थिति में सुधार हुआ। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म की उदार नीति से सामाजिक नारियों की स्थिति उन्नत हुई।

नारी का दूसरा रूप भिक्षुणी-वर्ग है। यही भिक्षुणी-वर्ग 'बौद्ध धर्मों में नारी' विषय के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। कारण, बौद्ध धर्म का पालन तभी सम्भव बताया गया है जब नर या नारी घर से बेघर हो प्रव्रज्या ले संघ में प्रविष्ट हो जाय।[10] संघ में नर को भिक्षु एवं नारी को भिक्षुणी कहा जाता है। इन दोनों का ही संघ में प्रवेश लेकर ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रमुख लक्ष्य रहता है।[11]

बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों को पुरुषों के समान गृहावास त्यागकर बुद्ध द्वारा संस्थापित भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट होकर (प्रव्रज्या लेकर) अर्हत् पद प्राप्त करने का अधिकार था,[12] किन्तु भिक्षुणी-संघ की स्थापना के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अधिकार प्रारम्भ में सिद्धान्त रूप में ही निहित था। भगवान् बुद्ध ने जिस समय अपने धर्म का प्रवर्तन किया था, उस समय केवल भिक्षुसंघ की ही स्थापना की थी तथा उस भिक्षुसंघ के विस्तार के लिए अथक परिश्रम किया था, जब कि उन्होंने भिक्षुसंघ की स्थापना के पांच वर्ष बाद अनिच्छा प्रकट की थी। जैसा कि बौद्धागमों से ज्ञात होता है कि इस पांच वर्ष की अवधि में न तो किसी नारी ने पारिवारिक जीवन त्याग कर प्रव्रजित होने का प्रयत्न किया था और न ही बुद्ध ने नारी को इस विषय में किसी प्रकार का प्रोत्साहन दिया था।[13]

यहाँ यह प्रश्न उभर कर सामने आ जाता है कि बुद्ध ने पुरुष वर्ग को भिक्षु बनाने में जो दक्षता दिखाई, वह नारी को भिक्षुणी बनाने में क्यों नहीं दिखाई अथवा नारी-वर्ग ने उस धर्म में पुरुषों के समान उत्साह एवं साहस के साथ प्रारम्भ से ही भाग क्यों नहीं लिया जिसमें सिद्धान्त रूप में नारियों को पुरुषों के समान ही दुःखों का क्षय करने में समर्थ माना गया था?

उक्त प्रश्नों के उत्तर के लिए यह आवश्यक है कि नारी के प्रति बुद्ध के सुख के साथ साथ उनके संघ के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाय।

भगवान् बुद्ध के गृह-त्याग तक के जीवन से विदित होता है कि उन्होंने सुप्तापन्न स्त्रियों के घृणित रूपों को देखकर गृहत्याग की अन्तिम प्रेरणा प्राप्त की थी तथा प्रव्रज्या के हेतु जाते समय इस बात में सतर्कता अपनाई थी कि उनकी पत्नी को उनके गृहत्याग की जानकारी न हो।[14] अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्ध स्त्रियों को न केवल सांसारिक दुःखों का मूलकारण मानते थे, अपितु उन्हें दुःखविनाश में बाधक भी मानते थे। इसीलिए उन्होंने सम्यक् प्रकार से दुःखों का नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक तथा स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का विका बताया था।[15]

बुद्ध के संघ का स्वरूप भी स्त्रियां के अनुरूप नहीं था। उनका संघ सामाजिक एवं राजनैतिक हस्तक्षेपों से मुक्त संस्था थी। यद्यपि संघ की आन्तरिक व्यवस्था तत्कालीन गणतन्त्र प्रणाली पर आधारित थी एवं भिक्षुओं को भिक्षा आदि के लिए समाज में जाने पर जिन नियमों का पालन करना होता था वे सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थे, तथापि राज्य का कोई भी नियम संघ के किसी सदस्य पर लागू नहीं होता था तथा न किसी कारण से संघ के सदस्यों को राज्य की ओर से दण्डित ही किया जा सकता था।[16] फलतः संघ को भी राज्य एवं समाज का संरक्षण प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार नहीं रह गया था।

इस प्रकार के संघ में ब्रह्मचर्य की अटूट साधना के हेतु पुरुष वर्ग ही निभ सकता था, नारी-वर्ग नहीं। कारण, शरीर रचना की भिन्नता के कारण प्रमुख एवं स्त्री-वर्गों की ब्रह्मचर्य-पालन करने की क्षमता में भी भिन्नता थी। यदि पुरुष की इच्छा न हो तो उसे ब्रह्मचर्य से च्युत करना (जो कि संघ की प्रतिष्ठा के लिए खतरे की घंटी थी) सम्भव नहीं था, जबकि ब्रह्मचर्य से रहने की तीव्र इच्छा होने पर भी नारी को उससे सहज ही में च्युत किया जा सकता था। इस खतरे की सम्भावना उस समय और अधिक बढ़ जाती थी जब राज्य एवं समाज की छत्रच्छाया से शून्य नारी को किसी एकान्त स्थान पर बलिष्ठ एवं कामुक व्यक्ति पा जाता था। बुद्ध के संघ का जो स्वरूप था, वह नारी की सुरक्षा करने में असमर्थ था। इस कारण से भी बुद्ध अपने धर्म को चिरस्थायी बनाने के लिए नारी को संघ में प्रवेश नहीं देना चाहते थे।

भिक्षुसंघ की स्थापना के पाँच वर्ष बाद बुद्ध की मौसी महा प्रजापति गौतमी जब उनके पास प्रव्रजित होने के निमित्त कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में पहुँची तो बुद्ध ने महाप्रजापति के स्त्रियों को संघ में प्रव्रज्या देने सम्बन्धी अनुरोध को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया।[17] गौतमी इस अस्वीकृति से निराश नहीं हुई और कुछ दिन बाद पुनः प्रव्रजित होने के उद्देश्य से बुद्ध के पास वैशाली पहुँची। वहाँ गौतमी की आनन्द से भेंट हुई। आनन्द ने गौतमी के अनुरोध को बुद्ध से कहा साथ ही उस सिद्धान्त का, जिसमें स्त्रियों को भी अर्हत् पद पाने का अधिकारी बताया गया था, स्मरण कराते हुए गौतमी के बुद्ध के प्रति किए गए उपकारों का भी स्मरण कराया।[18] बुद्ध ने आनन्द के अनुरोध पर अनिच्छा पूर्वक संघ में स्त्रियों के प्रवेश का विधान किया। साथ ही यह भी कहा कि अगर स्त्रियों को संघ में प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की अनुमति न दी जाती तो ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता।[19] बुद्ध ने स्त्रियों को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा देने के पूर्व आठ ऐसे नियम भी बना दिये जिनके कारण भिक्षुणी का स्तर भिक्षु की अपेक्षा सदा के लिए निम्न हो गया।[20]

सारांश यह कि बुद्ध स्त्रियों को पुरुषों के समान धर्म-पालन करने का अधिकारी मानते थे, किन्तु साथ ही वे यह भी चाहते थे कि स्त्रियाँ अपने इस अधिकार का प्रयोग घर में रहकर उपासिका के रूप में ही करें।

सन्दर्भ—

१- Women in the Vedic Age, p. 2.

२(क) ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः।
—शत० ब्रा० १।७।२।१

(ख) अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्यऽऋणं जायते। —वही १।७।२।४

३- बौधायन-धर्मसूत्र २।९।६, वशिष्ठ-धर्मसूत्र १७।५, विष्णुस्मृति १५।४४, ४६

४- बौधायन-धर्मसूत्र ४।१।१३; पराशरस्मृति ७।५

५- महाभारत १३।२४।९; रामायण ७।९।१०

६- बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ८५–८६

७- धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३३०–३३२

८- प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति, पृ० १६१

९- थेरीगाथा १५।१।४२१, दीघनिकाय ३।१४६–१४७

१०- यथाह भन्ते भगवता देसिते धम्मं आजानामि, नयिदं सुकरं अगारं अज्झावसता एकन्तपरिपुण्णं एकन्तपरिसुद्धं सङ्खलिखितं ब्रह्मचरियं चरितुं । —मज्झिमनिकाय, खण्ड२ पृ० १८२

११- 'एक भिक्खवो' ति भगवा अवोच— "स्वाक्खातो धम्मो, चरथ ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया ति । —महावग्ग, पृ० १६

१२- भब्बो, आनन्द, मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा अरहत्त-फलं पि सच्छिकातुं । —चुल्लवग्ग, पृ० ३७४

१३- बुद्धचर्या, पृ० ७१–७५

१४- निदानकथा, पृ० १५४, १५६

१५- इत्थी मलं ब्रह्मचरियस्स…… संयुत्तनिकाय, खण्ड १, पृ० ३६

१६- ये समणेसु सक्यपुत्तियेसु पब्बजन्ति न ते लब्भा किञ्चिकातुं । —महावग्ग, पृ० ७८

१७- चुल्लवग्ग, पृ० ३७३

१८- वही, पृ. ३७४

१९- वही, पृ. ३७६–३७७

२०- वही, पृ. ३७४–३७५

–:०:–

मॉरिशस के जनकवि : अभिमन्यु अनत

श्यामधर तिवारी

मारिशसवासी हिन्दी कवि एवं कथाकार अभिमन्यु अनत जन-जीवन गायक कवि हैं। उन्होंने आम-आदमी के दुःख-दर्दों को अपनी कविताओं का पाथेय बनाया है। उनके कवि को, विरासत के रूप में, एक लम्बी-ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक-परम्परा एवं पृष्ठभूमि प्राप्त हुई है। द्वीप की वर्तमान स्थिति के परिप्रेक्ष्य में, कवि को कहीं कभी उसका कुंठित-अतीत साकार होता-सा प्रतीत होता है। उसका क्षुब्ध मन उस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता और सम्भवतः इसीलिए वह आग उगलने लगता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्द-महासागर का मोती कहा जाने वाला, इन्द्रधनुषी मारिशस देश, एक इतिहासहीन देश रहा है। इस द्वीप को—यूरोप, अफ्रीका एवं एशिया—महाद्वीपों के लोगों ने अपने-अपने ढंग से आबाद एवं बरबाद किया।

द्वीप की प्रारम्भिक स्थिति में, सर्वप्रथम अरब वालों ने सामुद्रिक दस्यु के रूप में, इस द्वीप को एकान्त समझकर अपने लूटे हुए धन को छिपाने का अड्डा बनाया। तत्पश्चात् पुर्तगाली एवं डच आये, किन्तु अपेक्षित लाभ न पा कर वापस चले गये। डचों के बाद फ्रांसीसियों ने इस द्वीप की समृद्धि की ओर ध्यान दिया। द्वीप के सामरिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक महत्त्व को समझकर, अंग्रेजों ने फ्राँसीसियों से लोहा लिया और सन् १८१० ई० में फ्राँसीसियों को पराजित करके द्वीप को हस्तगत कर लिया, जिससे द्वीप पर 'यूनियन जैक' फहराने लगा।

द्वीप के अन्तिम विदेशी शासक अँग्रेजों ने द्वीप की समृद्धि के लिए अन्य देशों की भाँति भारत से भी कुली-मजदूर मँगाये। सन् १८३५ ई० में भारत से जत्थे-के-जत्थे कुली-मजदूर शर्तबन्दी प्रथा के अन्तर्गत मारिशस पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर उन्हें अलग-अलग टुकड़ियों में काम करने के लिए भेजा गया। ध्यातव्य बात यह है कि भारत से ले जाते समय उन्हें, जो सब्जबाग दिखाये गये थे, वे सब मृग-मरीचिका साबित हुए। मारिशस में भारतीय कुली-मजदूरों को दिन-भर हाड़-तोड़ मेहनत करने के बावजूद ही गोरों के दारुण दण्डों, यातनाओं-यन्त्रणाओं एवं अमानवीय अत्याचारों को सहना पड़ता था। सांस्कृतिक दृष्टि से ये कुली-मजदूर अपनी आत्मा को बेचना नहीं चाहते थे। वे सब-कुछ सहते हुए ही अपने धर्म एवं अपनी भाषा तथा संस्कृति से चिपके रहे। दुर्धर्ष क्षणों में भी मानस की चौपाइयाँ उनका मार्ग-दर्शन ही नहीं करती रहीं, बल्कि उनके रिसते घावों पर मरहम का लेपन भी करती रहीं।

नाना प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति पाने के लिए द्वीपवासियों ने गोरों से अनवरत संघर्ष किया। उनके अनवरत संघर्ष का परिणाम है कि मारिशस द्वीप १२ मार्च, १९६८ ई० को आजाद हुआ। आजाद मारिशस पर 'यूनियन जैक' के स्थान पर 'चौरंगा' राष्ट्रीय ध्वज फहराने लगा। सद्यः

आजाद मारिशस की स्थिति को अनत जी ने 'लम्बी उड़ान के बाद' कविता में निम्नलिखित रूप से अभिव्यक्त किया है—

" पंजरों के बने पिंजरे से
मुक्ति पाकर मुद्दतों के बन्दी पंछी ने
जिस ठौर पर लम्बी उड़ान के बाद
पहुँचकर साँसें ली,
वह मंजर नहीं, बंजर था।" (ना० उ० साँ० पृ० १९)

बंजर को पुनः हरा-भरा करने के प्रयास जारी हुए। आजादी के पश्चात् निसर्गतः जन-जीवन में खुशी की लहर व्याप्त हो गयी। लोगों के मन में, तरह-तरह की आशा-आकांक्षाएँ पनपने लगीं, तरह-तरह के मोह एवं स्वप्न पलने लगे।

सबसे दुःखद पक्ष यह है कि एक दशक से ऊपर हो गया, किन्तु उन कुली-मजदूरों की सन्ततियों को अभी तक उनका वह प्राप्य नहीं मिला है, जो उन्हें मिलना चाहिए था। उन्हें अब भी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से हेय समझा जा रहा है। व्यवस्था अब भी कतिपय लोगों के हाथों में स्वस्थ हो रही है। सब मिलाकर आम-आदमी के स्वप्न-मोह, भंग होते-से प्रतीत हो रहे हैं। लगता है आजाद मारिशस की आत्मा अब भी गिरवी पड़ी हुई है।

स्वतंत्र देश में आम-आदमी जीने के नाम पर, जिये जा रहा है। देश का "पूरा माहौल ग्रस्त है। राजनीतिक असन्तुलन, सांस्कृतिक भटकाव, सामाजिक अस्त-व्यस्तता और इन सभी तमाशाई उपलब्धियों के बीच आम-आदमी बौखलाया हुआ चौराहे पर खड़ा है। कौन सही है, कौन गलत ? कौन-सा रास्ता एक पेवन्द लगे बदतर वर्तमान की खाई में ढकेलता है ? सर्वहारा आज दिशाहारा है। तमाशबीनों की भीड़ और कोलाहल में साधारण आदमी एक असाधारण घुटन और विघटन को झेल रहा है।" ('वसन्त' पत्रिका, अंक-१४, पृष्ठ- एक)

आजाद मॉरिशस में नानाप्रकार की समस्याएँ दावाग्नि की भाँति फैलकर समाज को भस्मीभूत किये जा रही हैं। महँगाई, बेरोजगारी, भाई-भतीजावाद, रिश्वतखोरी, ऊँच-नीच का भेद-भाव, वर्ग-वैषम्य, आर्थिक वैषम्य, एवं राजनीतिक असन्तुलन के कारण आम-आदमी की जिन्दगी गम्भीर से गम्भीरतर होती जा रही है। समस्याओं का फोड़ा, निदान के बजाय नासूर की स्थिति में पहुँचता जा रहा है।

समस्याओं को दूर करने के लिए सत्ताधारियों एवं व्यवस्थापकों की ओर से कहा जाता है—'चाँद भी माँगो, हम तुम्हें ला देंगे।' देते भी हैं, किन्तु—

"हाथों में कटोरा थामें
उसके पानी में
चाँद की परछाईं लिये।" (ना० उ० साँ०, पृ०—२५)

कवि का कहना है कि तुम्हारा यह कोरा आश्वासन कितना हास्यास्पद है, मात्र आकाश-कुसुम को तोड़कर देने के आलावा और कुछ नहीं है। यद्यपि समस्याओं के निदान के लिए एड़ी-से चोटी तक के प्रयास किये जा रहे हैं, तथापि देश में बेरोजगारों की लम्बी-लम्बी कतारें लगी हुई हैं। लोग नौकरी के लिए दौड़-धूप करते रहे हैं, किन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। 'कितना कठिन'

कविता में कवि ने असहाय लोगों की ओर से वकालत करते हुए व्यवस्थापकों को चुनौती दी है—

"तुम्हारा यह दावा कि
तुम देश की उन्नति के लिए
सबसे कठिन कार्य कर रहे हो
मेरी नजरों में कोई अर्थ नहीं रखता
उन्नति-अवनति को छोड़ो
मेरी तरह नौकरी की तलाश में लगकर
फिर बताओ, कौन काम कितना कठिन है ? " (ना० उ० साँ० पृ०—१०)

कवि भ्रष्टाचार के बढ़ते हुए कदम के प्रति भी सचेष्ट है। जिजीविषा के भीषण सन्त्रास के होते हुए भी उसे यह सब अवैध कार्य स्वीकार नहीं है। इसीलिए वह 'रात' कविता में प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त करता है—

"अँधेरी रात / बिन सिन्दूर के /
मेरी चारपाई पर आ गई है /
इस अवैध संगम से /
कल एक और अँधेरी रात का /
जनम होगा / इस अँधेरी नगरी में।" (ना० उ० साँ० पृ०—४१)

कोई भूख की ज्वाला से व्याकुल है, तड़प रहा है, तो कोई आलीशान बँगले में ऐशो-आराम में मस्त है। किसी को दाने के लाले पड़े हैं, तो किसी को अपने कुत्ते को पालने से फुरसत नहीं है। 'अपने माहौल के प्रति' कविता में कवि ने बड़ी संवेदनात्मक कलात्मकता एवं प्रखर व्यंग्यात्मकता से एक दीन-हीन भिखारी के बिम्ब को रूपायित कर दिया है—

"खोल कर देखो अपने मोटे दरवाजे को /
एक नन्ही-सी भिखारिन खड़ी है /
ठण्ड से सिकुड़ी / भूख से सिमटी / अधनंगी / अधमरी
......प्यास से उसके होंठ सूख गये हैं /
पढ़कर उसकी आँखों को /
जान लो वह भूखी है कई दिनों की /
उसे अपने मेहमानों की / जूठन न देना /
अपने कुत्ते के लिए जो बचा रखा हो /
उसमें से आधी रोटी ही पर्याप्त होगी /
डरो मत, तुम्हारा कुत्ता नराज नहीं होगा।"
—(माँ० हि० क० पृ०—९)

इन सारी कठिनाइयों एवं यातनाओं के मूल में पूँजीपतियों की शोषकवृत्ति एवं मालिक-वर्ग की एकाधिकारी प्रवृत्ति काम कर रही है। इस वृत्ति को कवि ने विविध आयामों से देखा है, परखा है। किसी चीज का वर्णन, सीधे-सपाट ढंग से, किन्तु चुभता हुआ किया है, तो किसी का प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से।

"कवि को 'सूरज' का प्रतीक बहुत प्रिय है और होना भी चाहिए, क्योंकि सूरज जीवन्तता का, गति का, न्याय का, समता और व्यापकता का प्रतीक है और इसीलिए कवि अपने चारों ओर के अन्धकार को, विषमता को और अँधेरे को, ऊँच-नीच को, सूरज के पक्ष-विपक्ष पर व्यंग्य करता है।"

—(प्रकर–१९७९, पृष्ठ २१)

यह 'सूरज' सत्ताधारी-व्यवस्थापकों, पूँजीपति-मालिकों एवं आभिजात्य वर्ग के लोगों के प्रतीक के रूप में भी आया है और दीन-हीन, शोषित गरीब-वर्ग के कुली-मजदूरों एवं आम-आदमी के लिए भी। यह बात अवश्य है कि मजदूर वर्ग एवं गरीब वर्ग का सूरज कवि का अपना सूरज है, आम-आदमी का सूरज है। यही कारण है कि कवि इस सूरज के साथ अपनापन महसूस करता है। 'निर्दय सूरज', 'भोले सूरज' का सदैव हनन करता है, उसका शोषण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे समन्दर में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगलती रहती हैं। आम–आदमी का सूरज विवश, निस्सहाय होते हुए भी स्वाभिमानी है, वह सम्पन्न सूरज के सम्मुख हाथ नहीं फैलाता—

"नंगा सूरज / भूखा सूरज / अकेला सूरज
थका सूरज / हाथ नहीं फैलाता /
और सम्पन्न आदमी भी / हाथ नहीं फैलाता /
इसीलिए दरार बढ़ती है।" (ना०उ०साँ०-पृ-८)

फलतः परस्पर टकराहट होती है। सत्ता भी न्याय को न्याय कहने में हिचकती है, तभी तो—

"जिस दिन सूरज को /
मजदूरों की ओर से गवाही देनी थी /
उस दिन सुबह नहीं हुई / सुना गया कि /
मालिक के यहाँ की पार्टी में /
सूरज ने ज्यादा पी ली थी।" (ना०उ०साँ० पृ- ४)

मॉरिशस में, अब भी कुली-मजदूरों की जिन्दगी दारुण यन्त्रणाओं से गुजर रही है। ऐतिहासिक विरासत के रूप में मिली हुई कुदाली आज भी मजदूरों के गले का हार बनी हुई है। 'गूँगा इतिहास' में इसी बिम्बात्मक भाव-बोध को व्यञ्जित किया गया है—

"एक हाथ में गन्ना / दूसरे में गँड़ासा /
माथे पर पसीना / सर पर अभाव की बोझिल गठरी /
पीठ पर कोड़े से अंकित / मालिक का लाल हस्ताक्षर /
आँखों में / प्रसुप्त ज्वालामुखी का धुँधलका /
पेट में एक खाली कुआँ / तार-तार हुआ फेफड़ा /
उलझी हुई साँसे / गिरवी आत्मा / पेबन्द लगा वर्तमान /
बारह अध्याय का यह इतिहास /
आज भी अकुला रहा।" (ना०उ०साँ० पृ. ४२)

ऐसी स्थिति में व्यक्ति की जिन्दगी की 'हर दूसरे क्षण बिन चिता पर जले, दाह-क्रिया हो जाती है' और 'हर दूसरे क्षण' उसके 'अस्तित्त्व की हत्या होती है, अस्मिता चिता चढ़ती है।'

किसकी अस्मिता, किस रूप में बरकरार है, इसे प्रतीकात्मक ढंग से 'चौरंगे की कफन' में प्रतिविम्बित किया गया है।

"देश के चौरंगे को / रातभर ओढ़े रहने के बाद /
सुबह जब तुमने उसे / पार्टी में सजाने के लिए झड़वाया तो /
उसका लाल रंग छिटककर / बड़े अफसरों की आँखों में फैल गया /
......मेरे सुन्दर देश के अनेमियाग्रस्त मजदूरों को /
जमीन के शहीद को / चौरंगे की कफन न मिली।"

(ना०उ०साँ०, पृ० ५९)

स्पष्टतः प्रतीत होता है कि हर व्यक्ति अपने ढँग से आजादी को लूटने-खसोटने में लगा हुआ है। पूँजीपतियों की साजिश से आम-आदमी की स्थिति बदतर होती जा रही है, किन्तु वह अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर उससे प्रश्न भी करता है—

"और मेरी कोठी का उजाला / तुम्हारी मुट्ठी में क्यों बन्द है ?
मेरी मुट्ठी के केक्टस में / फूल क्यों नहीं आया ?"

(ना०उ०साँ०, पृ० १८)

प्रश्न के बाद वह उन्हें तीखी विनम्रता से सलाह देता है—

"मैं अनेमियाग्रस्त हूँ / इसलिए पोषक तत्त्व की चाह में /
तुम मरे पसीने को अब / पीना बन्द कर दो /
अन्यथा तुम्हें भी मेरा रोग लग जायेगा।" (ना०उ०साँ०, पृ० ४५)

लोगों की जिन्दगी को सुखी बनाने एवं उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए आश्वासन-पर-आश्वासन दिये जा रहे हैं, वायदे किये जा रहे हैं, वायदे किये जा रहे हैं, किन्तु नतीजा, ढाक के तीन पात साबित होता है। कवि का आकुल-व्याकुल मन 'व्यथाओं की गठरी' को किसी 'दूसरी हिरोसिमा' तक पहुँचाने के लिए अब भी 'इतिहास की बुआई कर रहा है', तथा 'अधगले पंजरों पर सपने उगाने का' प्रयत्न कर रहा है, किन्तु कवि को यह सन्देह है कि यदि वर्तमान का इतिहास, कल आम-आदमी के दुःख-दर्दों के स्थान पर, उनकी खुशहाली के इतिहास के रूप में लिखा जाता है, तो सम्पूर्ण भूतकालीन इतिहास नकार उठेगा, क्योंकि—

"आज का कोई इतिहास नहीं होता /
और कल का जो था / वह जब्त है तिजोरियों में /
और कल का जो इतिहास होगा /
वह इतिहास को नकारने का इतिहास होगा /
अधगले पंजरों पर / सपने उगाने का।"

—(ना० उ० साँ०, पृ० ३)

कवि ऐसे ही नव इतिहास को 'अपनी सपाट कोरी हथेली पर' अंकित करना चाहता है, किन्तु उसे यहाँ भी आशंका है कि जब इतिहास विधाता की टेन्ट, रिश्वत की भेंट से गरम कर दी जाती है, तो इतिहास का कागज भी सिलवटों से भर जाता है—

जिस कागज पर / इस वर्तमान का इतिहास /
कल तुम लिखवाओगे / उसमें लिपटी हुई /

आयी है / मुनाफाखोरों की ओर से /
एक अविस्मरणीय भेंट / जिससे इतिहास का कागज /
सिलवटों से भर गया है। " (ना० उ० साँ०, पृ० ५८)

अनत जी का कवि समस्त विघ्नों-बाधाओं को परे ढकेल कर आम-जिन्दगी की समृद्धि की ओर निरन्तर संघर्षशील है। आश्वासनों के पूरा न होने पर वह आक्रोश-व्यक्त करने में भी नहीं चूकता—

"विषैले सन्तोष को पीते-पीते /
अब मैं निर्जीव हो चला हूँ / लेकिन /
धुकधुकी साँसों की / बौराई हुई खामोशी /
पता नहीं / कब गरज उठे /
जिससे तुम्हारे भीतर के / आकार पाते भेड़िये का /
गर्भपात हो जाये /" (ना०उ०साँ०, पृ० ४८)

इतना ही नहीं कवि का अटूट-विश्वास एवं उसकी दृढ़-आस्था भी है कि आज नहीं, तो कल—

"तुम्हारी चक्की / मुझे पीसते-पीसते /
एक दिन एकाएक / मेरी हड्डी से टकरायेगी /
और फिर जिस तरह //// हवा खाते हुए /
किसी बूढ़े का आखिरी दाँत / टूटता है /
उसी तरह / तुम्हारी चक्की भी /
खण्डित हो जायेगी।" (द्वि०वि०हि०सम्मे०मा०, पृ० ५९)

स्पष्टत: कवि ने बड़ी निर्भीकता से तथ्यों-बाधाओं एवं समस्याओं का चित्रण किया है। ऐसी स्पष्टवादिता को देखकर ही जनकवि अभिमन्यु अनत के विषय में डॉ शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने यह विचार व्यक्त किया है—

"वह जन्मजात विद्रोही हैं, राष्ट्र-जागरण का संक्रमणकाल उसकी वाणी में पूर्ण भावा-निवेश में स्पन्दित है। खिलौनों की सजी-सजायी दूकान के कोने में बैठी बिल्ली-सी उसकी सतर्क आँखें, खेतों-खलिहानों को खोखला कर देने वाले चूहों की ओर दमित आक्रोश से देख रही हैं। अनत की लेखनी के अभाव में रंग-बिरंगी आभा से अनुरंजित मारिशस के अन्तस रिसते घावों और नासूरों की कसक को नहीं महसूसा जा सकता / विघ्नों-बाधाओं और प्रलोभनों के सामने कभी नत न होने की उसकी आन निराला के सर्वहारा स्वाभिमान की याद दिलाती है।"

—(उलझी साँसों का हल्फी बयान, पृ० ५)

सन्दर्भ—

१. नागफनी में उलझी साँसें-(ना० उ० साँ०)—राजकमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ११०००२
२. मारिशस की हिन्दी कविताएँ—(मा० हि० क०)—अमिताभ प्रकाशन, २० बालमुकुन्द मक्का रोड, कलकत्ता—७
३. वसन्त अंक—१४ (सम्पा० अभिमन्यु अनत)—महात्मा गाँधी संस्थान, मोका, मारिशस।
४. द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन, स्मारिका—मारिशस—२८-३० अगस्त, १९७६
५. प्रकर—जनवरी, १९७९

वैष्णव तन्त्रों में समता का स्वरूप

डॉ॰ अशोक कुमार कालिया

भारतीय शास्त्रों में विविध प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जो कहीं-कहीं एक दूसरे के पूरक हैं, और कहीं-कहीं एक दूसरे के विरोधी भी । प्रत्येक शास्त्र किसी न किसी विशेष सिद्धान्त की स्थापना करता हुआ दिखाई देता है । ऐसी स्थिति में प्रायः यह कह सकना सम्भव नहीं होता है कि किसी एक विषय पर भारतीय शास्त्रों का समवेत रूप से प्रतिपाद्य मत क्या है ? हाँ, स्वर की, या तात्पर्य की चर्चा की जा सकती है । यह बात समता के प्रश्न को लेकर और अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है ।

विषमता तो सृष्टि का स्वभाव है । अतः विषमता से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता। समता का प्रश्न सामाजिक क्षेत्र में ही उठाया जा सकता है । विषमता प्रकृति की देन है और समता मानव समाज की सुन्दर कल्पना । इस सृष्टि में, वैषम्य के साम्राज्य में प्रबुद्ध मनुष्य समता के सिद्धान्तों को, समता के मूल्यों को, समता के तत्त्वों का ढूँढ कर स्थापित करना चाहता है, और यही है मनुष्य की सामर्थ्य-सीमा ।

अब देखना यह है कि इस विषय में भारतीय शास्त्रों का क्या दृष्टिकोण रहा है । भारतीय समाज का एक प्रमुख आधार स्तम्भ वर्णव्यवस्था है । वर्णव्यवस्था की कल्पना भारतीय शास्त्रों की अत्यन्त मौलिक कल्पना है । यह कल्पना वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से भारतीय शास्त्रकारों की सर्जनात्मक दार्शनिक मनीषा और प्रतिभा का अनुपम निदर्शन है । इसमें सन्देह नहीं । किन्तु जिस दृष्टि को लेकर यह व्यवस्था आविर्भूत हुई, कालक्रम से वह दृष्टि व्यवस्था के साथ अधिक समय तक चल नहीं पायी । प्रत्युत यह कहना अतिरञ्जित सम्भवतः न हो कि बाद के शास्त्रकार उस दृष्टि से अपरिचित थे । सामाजिक व्यवस्था अथवा लोक-व्यवस्था के लिए मानव समाज की उसकी सहज शारीरिक और मानसिक शक्तियों के आधार पर चार वर्णों में विभाजित करने की कल्पना आरम्भिक भारतीय शास्त्रकारों ने की । इस कल्पना की दृष्टि में लोक महत्त्वपूर्ण था, समाज महत्त्वपूर्ण था। अतः उस लोक और समाज के लिए प्रवृत्त हुई यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण थी, यही साध्य थी । किसी एक वर्ण की उच्चता अथवा नीचता का प्रतिपादन इसका प्रयोजन नहीं था । यह तो वर्णव्यवस्था के प्रतिष्ठापक शास्त्रकारों की बात है । यहाँ तक विषमता का कोई प्रश्न नहीं है, अतः समता का भी नहीं है । समता का प्रश्न तो वहीं उठेगा जहाँ समता न हो । इन वर्णों में जब से एक को उत्कृष्ट कहा जाने लगा और दूसरे को नीच, एक को वन्द्य कहा जाने लगा और दूसरे को निन्द्य, तभी से भारतीय समाज में विषमता का बीजवपन हुआ और तभी से समता का प्रश्न भी सार्थक हो गया । प्रायः सभी उपलब्ध शास्त्र अपने ढंग से वर्णों की उच्चता अथवा नीचता की चर्चा करते हुए दिखाई देते हैं । अतः सामाजिक विषमता शास्त्रों में कोई ढूँढने की वस्तु नहीं है ।

आश्चर्य की बात यह है कि कालक्रम से विविध प्रकार की कुरीतियों से ग्रस्त होती हुई यह व्यवस्था, व्यवस्था नहीं रह गयी, यह व्यवस्था वर्णों की अव्यवस्था हो गयी और किसी भारतीय मनीषी ने इस स्थिति के विरुद्ध अपनी वैखरी का प्रयोग नहीं किया। पारमार्थिक आध्यात्मिक स्तर पर अद्वय सत्ता की स्थापना करने वाले, पूर्ण अभेद की स्थापना करने वाले आचार्य शङ्कर व्यावहारिक स्तर पर सामाजिक स्तर पर भेददृष्टि का पूर्ण समर्थन करते हैं। शारीरकभाष्य का "अपशूद्राधिकरण"[1] इसका एक उदाहरण है।

"शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः [2]

"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रं प्रतिपूरणीयम्।"[3]

"पद्यु ह वा एतच्छ्मशानयच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।"[4]

"वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदोच्चारणे शरीरभेदः।"[5]

"न शूद्राय मतिं दद्यात्"[6]

ये वे शास्त्रवचन हैं जिनका शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में प्रमाण के रूप में प्रयोग किया है।

आचार्य रामानुज ने उक्त अधिकरण[7] में शङ्कराचार्य द्वारा प्रदर्शित व्याख्यान-पद्धति का अवलम्बन लिया है। कम से कम एक वैष्णव आचार्य से इस प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए कि पाञ्चरात्रसाहित्य तथा आलवार भक्तों की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी वह इस प्रकार के मतों की पुष्टि करेंगे। वस्तुतः रामानुज वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, पाञ्चरात्र, तमिलवेद इन सबको साथ लेकर चलना चाहते हैं। परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले इस सम्पूर्ण साहित्य की उन्होंने इस प्रकार से व्याख्या की है कि इनमें किसी प्रकार का विरोध न रह जाय। इस समन्वय के लिए उन्होंने वैदिक क्रियाकलापों में अधिकारी का निर्णय करते समय मीमाँसा तथा धर्मशास्त्रों के प्रचलित मतों को स्वीकार कर लिया है। वैदिक क्रिया-कलापों को रामानुज ने मान्यता प्रदान तो की है किन्तु वरीयता तान्त्रिक साधना अर्थात् प्रपत्ति या शरणागति को ही दी है। रामानुज यहाँ उस चिकित्सक के रूप में सामने आते हैं जो एक ही रोग के दो उपचारों को मानते हुए एक उपचार (तान्त्रित दीक्षा, प्रपत्ति-शरणागति) को दूसरे उपचार (वैदिक मार्ग) की अपेक्षा सर्वसुलभ, सुकर तथा शीघ्रफलप्रद होने के कारण मान्यता प्रदान करते हैं। विषमता का प्रतिपादन करने वाले वैदिक मार्ग को एक मार्ग मानते हुए भी तान्त्रिक मार्ग का जनसामान्य के लिए रामानुज ने अनुमोदन किया है। अब हमें यह देखना है कि वैष्णव तन्त्रों की अर्थात् पाञ्चरात्र आगमों की इस विषय में क्या स्थिति है।

पाञ्चरात्र आगम—

शङ्कराचार्य, भास्कराचार्य तथा तन्मतानुलम्बी अन्य आचार्य ब्रह्मसूत्र के "विप्रतिषेधाच्च"[8] सूत्र में "चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य······।"[9] इस वचन को उदाहृत करते हुए कहते हैं कि "शाण्डिल्य ने चारों वेदों में परम पुरुषार्थ को न देखकर इस शास्त्र का अध्ययन किया" इस प्रकार के स्पष्ट वेदनिन्दक वचनों के होने के कारण पाञ्चरात्र वेदविरोधी और अप्रामाणिक है। किन्तु यह तर्क अधिक सार्थक नहीं प्रतीत होता। रामानुज ने ठीक ही कहा है कि यदि यह तर्क मान लिया जाय तो स्वयं वेद का एक भाग अप्रामाणिक हो जायगा। उदाहरण के लिए भूमविद्या के उपक्रम में नारद का कथन— 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-

माथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चमम्'[10] इस प्रकार अनेक विद्याओं का उल्लेख करने के बाद वह कहते हैं— 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् ।'[11] जिस प्रकार से यहाँ नारद का अभिप्राय भूमविद्या की प्रशंसा ही है न कि वेदनिन्दा, उसी प्रकार से शाण्डिल्य के उक्त कथन को वेदनिन्दापरक न मानकर पाञ्चरात्र स्तुतिपरक मानना चाहिए । अतः पाञ्चरात्र आगमों में वेदनिन्दा है इस प्रकार के कथन भ्रामक होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं ।

किन्तु इतना तो है ही कि इन वैष्णव तन्त्रों ने ईश्वर प्राप्ति का उन लोगों के लिए भी अर्थात् स्त्री और शूद्रों के लिए भी एक ऐसे द्वार (भक्ति तथा शरणागति) का उद्घाटन किया जो वेद तथा वेद प्रतिपादित मार्ग से भिन्न है । इस अर्थ में कोई उन्हें वेदविरोधी कहना चाहे तो वह दूसरी बात है । इसी कारण यह शास्त्र स्वयं अपने को श्रुतिमूलक सिद्ध करते हुए वेद की एकायन शाखा को अपना आधार बतलाता है ।[12] इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र वैदिक आचार की मर्यादा को स्वीकार करने, उसकी रक्षा करने की बात भी कही गयी है—

'मनीषी वैदिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत् ।
यथा हि वल्लभो राज्ञो नदीं राज्ञा प्रवर्तिताम् ॥'[13]

तथा—

'एवं विलङ्घयन् मर्त्यो मर्यादां वेदनिर्मिताम् ।
प्रियोऽपि न प्रियोऽसौ मे मदाज्ञाव्यनिवर्तनात् ॥'[14]

इस प्रकार पाञ्चरात्र आगम अपने ऊपर वेदविरोधी होने के आरोप का निराकरण करते हुए प्रतीत होते हैं ।

पाञ्चरात्र आगमों पर दूसरा आरोप यह लगाया गया कि यह शास्त्र वेदबाह्य जनों के द्वारा परिगृहीत है । इस कारण पाञ्चरात्र आगम अप्रामाणिक हैं । यामुनाचार्य ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया है कि पाञ्चरात्रिक वेदबाह्य हैं और वैदिक पाञ्चरात्रबाह्य । यदि वेदबाह्य जनों से परिगृहीत होने से पाञ्चरात्र अप्रमाण है तो पाञ्चरात्र-बाह्य जनों से परिगृहीत होने से वेद अप्रमाण क्यों नहीं है—

'वेदबाह्यगृहीतत्वादप्रामाण्येवादि यत् ।
एतद्बाह्यगृहीतत्वाद् वेदानां कुतो न तत् ॥'[15]

तात्पर्य यह है कि यदि पाञ्चरात्र आगम वेदविद्या में अनधिकृत लोगों को अपने में अधिकार देते हैं तो इसमें अप्रामाणिकता का कौन सा कारण है । वेद से विरोध तो वहाँ होता जहाँ पाञ्चरात्र वेद में उन्हें अधिकार प्रदान करता जिन्हें वेद में अनधिकृत कहा गया है ।

भट्टोजि दीक्षित ने अपने 'तन्त्राधिकारिनिर्णयः' नामक ग्रन्थ में पाञ्चरात्र आगमों में अधिकारी का निर्णय बड़े शक्तिशाली ढंग से किया है । उनका निष्कर्ष है कि श्रुतिभ्रष्ट तथा पतित आदि ही पाञ्चरात्र आगमों में अधिकृत हैं—

'तस्मात् पतितादय एव शङ्खचक्राद्यङ्कनादावधिकारिण इति सिद्धम्'[16]

पद्मपुराण का वचन इस प्रकार उदाहृत मिलता है—

'श्रुणु राम ! महाबाहो लिङ्गचक्रादिधारिणाम् ।
शूद्रकर्मरतानां हि तेषां नास्ति पुनर्भवः ॥'

भट्टोजिदीक्षित इस पर टिप्पणी करते हैं—

'किञ्च-स्वधर्मत्यागेन शूद्रधर्मरतानां द्विजानामपि पतितानामनेनाधिकारः ।'[17]

अर्थात् ब्राह्मण भी पाञ्चरात्र मार्ग का अवलम्बन लेता है तो वह भी पतित हो जाता है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए वह ब्रह्मपुराण के इस वचन को उदाहृत करते हैं—

"तप्तमुद्रा ह्यन्त्यजाय हरिणा निर्मिता पुरा ।
भूदेवस्तप्तमुद्रां तु चिह्नं कृत्वा विमूढधीः ॥"[18]
इह जनमनि शूद्रः स्यात् प्रेत्य श्वा च भविष्यति ॥[19]

अर्थात् पाञ्चरात्र मार्ग का अवलम्बन करने वाला ब्राह्मण इस जन्म में शूद्र होता है और मर कर कुत्ता होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र आगमों पर वेदविरोधी होने का सुनियोजित आरोप लगाया जाता रहा है। उसका एक प्रमुख कारण इसके द्वार का मानवमात्र के लिए उद्घाटित होना है जिसमें स्त्री और शूद्र सम्मिलित हैं।

पाञ्चरात्र आगमों में शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति—

पाञ्चरात्र आगम तान्त्रिक दीक्षा में त्रैवर्णिकों के साथ ही साथ स्त्री और शूद्रों को भी स्थान देते हैं। दीक्षायोग्य शिष्य के लक्षण बतलाते हुए लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है —

शिष्यश्च तादृशो ज्ञेयः सर्वलक्षणलक्षितः ।
... ...
कुलीनं च तथा प्राज्ञं शास्त्रार्थनिरतं सदा ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा भगवत्परम् ॥
ईदृग्लक्षणसंयुक्तं शिष्यमार्जवसंयुतम् ।
वर्णधर्मक्रियोपेतां नारीं वा सद्विवेकिनीम् ॥
विद्यादनुमते पत्युरनन्यां पतिमानिनीम् ।
एवं लक्षणकं शिष्यमाचार्यो भगवन्मयः ।
ज्ञापयेद् विधिवन्मन्त्रान् गुरुदृष्ट्या समीक्ष्य तु ॥[20]

यहाँ तान्त्रिक मन्त्र ग्रहण करने में स्त्री और शूद्रों के अधिकार का स्पष्टउल्लेख है। इसी सन्दर्भ में परमसंहिता का निम्न उद्धरण द्रष्टव्य है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या दीक्षायोग्यास् त्रयः स्मृताः ।
जातिशीलगुणोपेताः शूद्राश्च स्त्रिय एव च ॥[21]

विश्वामित्रसंहिता में भी प्रायः इसी प्रकार की बात कही गयी है—

शिष्याणाँ लक्षणं वच्मि तच्छृणुष्व समाहितः ।
त्रिषु वर्णेषु सम्भूतः प्रशस्तकुलसम्भवः ॥[22]

तथा—

" स्त्रियः शूद्राश्चानुलोमाः कल्याणगुणसंयुताः ।
यदि तानपि शिष्यत्वे गृहणीयात् कृपया गुरुः ॥[23]

तान्त्रिक दीक्षा में सभी वर्णों का अधिकार है -इसमें दो मत नहीं। महाभारत का भी निम्नोद्धृत स्थल उक्त मत की पुष्टि में सहायक है—

'ब्राह्मणैः क्षत्रियैर् वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैः स्वकर्मसु।
सात्त्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः ॥[24]

पाञ्चरात्र आगम की अहिर्बुध्न्यसंहिता में चारों वर्णों के अधिकार की बात कही गयी है—

'ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश्चत्वार उद्गताः।
ते सम्यगधिकुर्वन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम् ॥[25]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं पाञ्चरात्र आगमों में उपर्युक्त मत बहुत समादृत नहीं हो पाया।

पाञ्चरात्र आगमों में प्रपत्ति का सिद्धान्त

प्रपति अथवा शरणागति का सिद्धान्त पाञ्चरात्र आगमों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। विभीषण की शरणागति के प्रसङ्ग में राम के द्वारा की गयी घोषणा पाञ्चरात्र आगमों में शरणागति की स्वरूपनिरूपिका मानी गयी है। राम की उक्ति है—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥[26]

यहाँ "सर्वभूतेभ्यः" पद महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त गीता का निम्न श्लोक चरममन्त्र के रूप में पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में समादृत है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[27]

इस प्रपत्ति की विशेषता ही यही है कि यह-मार्ग सभी वर्णों के लिए सुलभ है। सनत्कुमार संहिता का वचन है—

" अनन्योपायशक्तस्य प्राप्त्येच्छोऽधिकारिता।
प्रपत्तो सर्ववर्णस्य सात्त्विकत्वादियोगतः ॥
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा।
इति सर्वफलप्राप्तौ सर्वेषां विहिता यतः ॥"[28]

शरणागति प्राणिमात्र के लिए है—यह तथ्य शरणागति के स्वरूप में ही निहित है। यहाँ लक्ष्मीतन्त्र का श्री और इन्द्र का संवाद द्रष्टव्य है। श्री ने शक्र से क्लेशसागर में डूबे हुए सभी प्राणियों के उद्धार का साधन पूछा—

"अमी हि प्राणिनः सर्वे निमग्नाः क्लेशसागरे।
उद्धारं प्राणिनामस्मात्कथं चिन्तयसि प्रभो ॥[29]

इस प्रश्न से प्रेरित होकर शक्र ने शरणागति का विस्तार से वर्णन किया है। इस शरणागति के ६ अंग हैं—

"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।[30]

यहाँ प्रयुक्त प्रथम दो प्रपत्ति की विधाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसी तन्त्र में कहा गया है–

"आनुकूल्यमिति प्रोक्तं सर्वभूतानुकूलता ।
अन्तःस्थिताऽहं सर्वेषां भावानामिति निश्चयात् ।।
मयीव सर्वभूतेषु ह्यानुकूल्यं समाचरेत्।
तथैव प्रातिकूल्यं च भूतेषु परिवर्जयेत् ।।[31]

शरणागति के प्रथम दो अंग है–"आनुकूल्यसंकल्प" तथा "प्रातिकूल्य-वर्जन" । यहाँ ईश्वर में ही अनुकूल आचरण के संकल्प तथा प्रतिकूल आचरण के वर्जन की बात नहीं कही गयी है । "सर्वभूतानुकूलता" भी उसी आनुकूल्यसंकल्प में निहित है । और "सर्वभूतानुकूलता" का आधार ईश्वर का सभी प्राणियों में अन्तर्यामिरूप में अवस्थित होना है । प्रातिकूल्यवर्जन का अर्थ इसी प्रकार है । स्पष्ट है कि शरणागति मानवमात्र के ही लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए है । जैसा कि विष्णुचित्त का कथन है–

"श्येनकपोतीयकपोतोपाख्यानकाकविभीषणक्षत्रबन्धुमुचुकुन्दगजेन्द्रद्रौपदीतक्षकशतमखादिषु मोक्षार्थतया क्षणकालनिर्वर्त्यप्रपदनार्थदर्शनात् अवधिराणां तत्र मुख्यत्वम् ।[32]

वैदिक कर्म - धर्म तथा शरणागति में कई दृष्टियों से अन्तर है–

१. देशनियम–पुण्यक्षेत्रों में ही वैदिक कर्म हो सकते हैं । शरणागति कहीं भी की जा सकती है ।

२. कालनियम–वसन्त आदि समय में वैदिक कर्म हो सकते हैं । शरणागति कभी भी की जा सकती है ।

३. प्रकारनियम–विशिष्ट तथा निर्दिष्ट प्रकार से ही वैदिक कर्म होते हैं । शरणागति इस बन्धन से भी रहित है ।

४. अधिकारिनियम-वैदिक कर्मों में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है । स्त्री और शूद्रों का नहीं है । शरणागति सर्वजनसुलभ है ।

५. फलनियम–विशिष्ट वैदिक कर्म का विशिष्ट फल ही होता है । शरणागति सर्वफलप्रदा है ।

इस प्रकार वैदिक धर्म में जो कमियाँ हैं उनकी पूर्ति शरणागति करती है । यही कारण है कि शरणागति अन्य मोक्ष के उपायों (कर्म, ज्ञान, भक्ति) की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट है–

"सत्कर्मनिरताः शुद्धाः सांख्ययोगविदस्तथा ।
नार्हन्ति शरणस्थस्य कलां कोटितमीमपि ।।[33]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन वैष्णव तन्त्रों में अन्य भारतीय शास्त्रीय परम्पराओं के विरुद्ध सामाजिक समता पर अधिक बल दिया गया है । यह सत्य है कि विषमता को निर्मूल ये तन्त्र नहीं कर पाये हैं, तथापि समता को दृष्टि में रखकर विषमता की परिधि को, विषमता के क्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया है । यह स्वाभाविक भी था । विषमता की इतनी शक्तिशाली धारा के के विरुद्ध कुछ कहने का अर्थ था स्वयं अप्रामाणिक, प्रभावहीन सिद्ध हो जाना । अतः यदि तत्कालीन समय के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो सामाजिक समता के लिए वैष्णव तन्त्रों ने बहुत किया । अप्रामाणिकता आदि के आक्षेपों को सुना, उनका उत्तर दिया, और संघर्ष भी किया । यामुनाचार्य

आदि वैष्णव आचार्यों को "आगमप्रामाण्य" जैसे ग्रन्थों की रचना भी प्रायः इसी प्रकार के आरोपों का उत्तर देने के लिए करनी पड़ी। किन्तु इतना सब कुछ करते हुए भी सामाजिक विषमता को दूर करने की दिशा में यह परम्परा सफल नहीं हो पायी। इसका कारण स्पष्ट है। जब तक मन्वादि स्मृतियों का स्थान ले सकने में समर्थ किसी स्वतन्त्र धर्मशास्त्र की रचना नहीं की जाती तब तक सामाजिक विषमता को दूर करने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता और सम्भवतः मन्वादि स्मृतियों का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास वैष्णव तन्त्र नहीं कर सके। वैष्णव परम्परा में आगे चल कर मन्वादि स्मृतियों के विरोध की बात तो दूर, उनका समर्थन ही प्रामाणिक माना गया। स्वयं अपनी प्रामाणिकता भी मन्वादि स्मृतियों से अविरोध की स्थिति में ही मानी गयी। रामानुज इसी मन्वादि स्मृतियों से विरोध होने के कारण कपिल स्मृति को अप्रमाण मानते हैं।[34] रामानुज के ही शब्दों में—

"मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिलजगद्भेषजभूतस्ववाक्यतया "यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद् भेषजम्" इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिलदृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेश्श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदान्तार्थश्चालयितुं शक्य इति सिद्धम्।"[35]

यही कारण है कि सामाजिक विषमता के विरुद्ध होते हुए भी वैष्णव तन्त्र अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सके।

सन्दर्भ—

१- शारीरक सूत्र, १. ३. ९
२- सं० ७. १. १. ३
३- गो० २. ३. ४
४- श्रीभाष्य, अपशूद्राधिकरण में उदाहृत
५- गो० २. ३. ४
६- मनु० ४. ८०
७- श्रीभाष्य, १. ३. ९
८- ब्रह्मसूत्र, १. ३. ४५
९- शारीरकभाष्य, १. ३. ४५ में उदाहृत
१०- छान्दोग्य, ७. १. २
११- वही
१२- ईश्वरसंहिता
१३- लक्ष्मीतन्त्र, १७।९६
१४- वही, १७।९८
१५- आगमप्रामाण्यम्, पृष्ठ ६२
१६- तन्त्राधिकारिनिर्णयः, पृ० २८
१७- पद्मपुराण से तन्त्राधिकारिनिर्णयः में उदाहृत, पृ०४४
१८- तन्त्राधिकारिनिर्णयः, पृ० ६५
१९- तदेव

२०- लक्ष्मीतन्त्र, २१. ३७–४१
२१- परमसंहिता, ७. २४
२२- विश्वामित्रसंहिता, ३-१७
२३- विश्वामित्रसंहिता, ३।२७
२४- महाभारत, भीष्मपर्व
२५- अहिर्बुध्न्य०, १५. २०. २१
२६- रामायण, युद्ध०, १८. ३३
२७- गीता, १८. ६६
द्रष्टव्य लक्ष्मीतन्त्र, १६–४३, ४४
२८- सनत्कुमारसंहिता
२९- लक्ष्मीतन्त्र, १७ : ४७
३०- वही, १७. ६०. ६१
३१- वही, १७. ६६. ६७
३२- निक्षेपरक्षा, पृष्ठ ३६, उदाहृत
३३- लक्ष्मीतन्त्र, १७।६३
३४- ब्रह्मसूत्र, २।१।१ (अधिकरण)
३५- श्रीभाष्य, २।१।२

—:o:—

शकुन्तला का मदनलेख : एक सांस्कृतिक मूल्याङ्कन

डॉ० राजेन्द्र मिश्र

संस्कृत-वाङ्मय में 'मदनलेख' की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। शील-संकोच, लोक-लज्जा तथा समुदाचार से ओत-प्रोत वातावरण में ये प्रेमपत्र नायक अथवा नायिका की भग्नप्राय जीवन-नौका को बचाने के लिए पतवार का काम करते थे। जब यथाकथंचित् विवाह का सहज मार्ग अवरुद्ध हो उठता था अथवा किसी महनीय कुल-पुरुष के विरोधवश विवाह की सारी सम्भावना ही सन्दिग्ध हो उठती थी, तब नायक के रूप-गुण-सौन्दर्य से तन्मनस्क कुलकन्यायें मदनलेख का सहारा लिया करती थीं। चूँकि मदनलेख में प्रणयनिवेदन की परोक्ष शैली अपनाई जाती थी इसलिए नायक अथवा नायिका, बिना किसी संकोच अथवा हीन भावना के, अपना हृदय इन पत्रों में निकाल कर रख देते थे। फिर तो ये पत्र विद्युत् गति से प्रतिक्रिया उत्पन्न करते थे और प्रायः इनके परिणाम-स्वरूप "असम्भव" भी सम्भव हो जाता था।

एक ऐसे ही अनुपम मदनलेख की चर्चा श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध के उत्तरार्ध, अ० ५२ में आयी है। बाल्यकाल से ही नन्दनन्दन श्रीकृष्ण में अनुरक्त, आसक्त तथा समर्पित- विदर्भनरेश भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का विवाह, उसका बड़ा भाई रुक्मी चेदि राजकुमार शिशुपाल के साथ करने को उद्यत था। कृष्ण से रुक्मी को अकारण वैर था। निराशा के क्षणों में राजकुमारी ने, एक विश्वासपात्र ब्राह्मण के हाथ, अपना प्रणय-निवेदन द्वारकाधीश के पास भेजा। भगवान् द्वैपायन व्यास के रससिक्त कवित्व तथा क्रान्तदर्शिनी प्रतिभा से सजा-सँवरा रुक्मिणी का यह मदनलेख प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक पवित्र विरासत है।

रुक्मिणी के पत्र का प्रारम्भ अत्यन्त मार्मिक है : हे भुवनसुन्दर ! आपके गुण, जो सुनने वाले के कर्णपथ से हृदय में प्रविष्ट होकर अंग-अंग की जलन बुझा देते हैं तथा आपके रूपसौन्दर्य, जो नेत्रधारी जीवों के लिए धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थों के फल तथा स्वार्थ-परमार्थ : सब कुछ हैं ! हे प्राणप्रिय अच्युत ! उस गुण, रूप एवं सौन्दर्य का श्रवण कर मेरा मन लाज-शर्म को छोड़ कर तुम्हीं में विलीन हो चुका है !

पत्र का समापन भी कुछ कम मार्मिक नहीं है : हे कमलनयन ! उमापति भगवान् शंकर के समान बड़े-बड़े महापुरुष भी आत्मशुद्धि के लिए आपके चरण-कमल की धूलि में स्नान करना चाहते हैं। प्रसादभूता, वही आपके चरण-कमल की धूलि यदि मैं न प्राप्त कर सकी, तो व्रत द्वारा शरीर को सुखाकर प्राण त्याग दूँगी, चाहे उसके बदले में सैकड़ों जन्म ही क्यों न लेने पड़ें।[२]

रुक्मिणी की विरह-वेदना तथा विवशता को जानकर गोविन्द पुलकित हो उठे और उन्होंने ब्राह्मण देवता से इतना ही प्रतिवेदन किया : "मेरा मन भी रात-दिन रुक्मिणी में ही लगा रहता है। मुझे रात में नींद नहीं आती। ब्राह्मण देवता ! आप राजकुमारी से कहियेगा कि मैं नाममात्र के उन

कायर राजाओं के बीच से उसे वैसे ही बाहर निकाल लाऊँगा, जैसे कोई मनुष्य लकड़ियों को रगड़कर अग्निशिखा बाहर निकाल लेता है।[3]

शकुन्तला का मदनलेख, रुक्मिणी के मदनलेख से बहुत अंशों में मिलता है। परिस्थितियाँ एक जैसी हैं, फिर भी दोनों में सांस्कृतिक दृष्टि से महान् अन्तर है। शकुन्तला भी राजर्षि दुष्यन्त के अभाव में जिजीविषा छोड़ चुकी है—

"तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि अन्यथावश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम् !"

दोनों ही नायिकाओं का जीवन संशयित है, परन्तु परिस्थितियाँ भिन्न हैं। कृष्ण के प्रति रुक्मिणी का अनुराग तो सम्पूर्ण राजपरिवार को ज्ञात है। सब की बलवती स्पृहा भी है कि यह विवाह हो जाय। बस, एकमात्र युवराज रुक्मी ही विरोध करता है। रुक्मी के आगे वृद्ध भूपति की नहीं चल पाती। ऐसी परिस्थिति में रुक्मिणी को आत्मरक्षा का उपाय स्वयं सोचना पड़ता है। फलतः वह कन्योचित शील-संकोच को तिलान्जलि देकर, पत्र में विस्तार पूर्वक अपनी मार्मिक व्यथा लिखती है। यहाँ तक कि स्वयं को हरण करने का समुचित अवसर तथा उपाय भी लिख भेजती है।

परन्तु भारतीय संस्कृति के उदार रक्षक कालिदास शकुन्तला को इतना प्रगल्भ नहीं बनने देते। महाकवि श्री हर्ष की दमयन्ती भी राजा नल के प्रति अपना प्रेम प्रकट करते श्रीहीन सी हो जाती है : "का नाम बाला द्विजराजपाणि ग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा" ॥

शकुन्तला की कन्योचित लज्जा को अक्षत रखने के ध्येय से ही कवि ने प्रियंवदा तथा अनुसूया को उसकी व्यथा का भागीदार बनाया। शकुन्तला मृत्यु के मूल्य पर भी अपना मनस्ताप न कहती, यदि प्रियंवदा पहल न करती :

"अनसूये ! तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला।
किन्नु खल्वस्यास्तन्निमित्तोयमातङ्को भवेत्।"

इस पृष्ठभूमि के बाद ही अनसूया[4], तथा प्रियंवदा[5] शकुन्तला को कुछ कहने- खुलने के लिए बाध्य करती हैं। शकुन्तला को सन्ताप की असह्य ऊष्मा में पहली बार एक मिहिकोपलेप की सुखानुभूति होती है। परन्तु मन की बात कहे भी तो कैसे ! यहाँ कालिदास नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं के बन्धन में हैं। शकुन्तला अलकापुर की शिखरिदशना, श्यामा, तन्वी नहीं है[6]। वह तो अव्याजमनोहर-वपु एक तापसबाला है, पुण्यों का अखण्ड फल है।[7] वह एक मुग्धा नायिका है, जो एक भौंरे तक से अपनी रक्षा नहीं कर सकती :

"हला ! परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानाम्।"

तब फिर, इतनी बड़ी बात शकुन्तला कैसे कह दे ! लज्जा का टूटा हुआ बाँध क्या पुनः सहज भाव से व्यवस्थित हो सकेगा ! कन्योचित संस्कार एवं मर्यादा में श्रृङ्खलित शकुन्तला दुष्यन्त के प्रति अपना अनुराग प्रकट करते हुए एक विचित्र उभयतः पाश का अनुभव करती है। परन्तु न कहने से भी काम सरेगा नहीं। आत्मरक्षा तथा आत्मोपहासभय के द्वैधी अन्तर्द्वन्द्व में फँसा उसका मन कातर हो उठता है :

"बलवान् खलु में अभिनिवेशः । इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम् ।।।।.........
सीखा ! कस्य वा अन्यस्य कथयिष्यामि । किन्त्वासयित्रीदानीं वा भविष्यामि" ।

इतने पशोपेश, तर्क-वितर्क और स्निग्ध-संरक्षण की धूप-छाँव में बेचारी शकुन्तला अपना मनोभाव यथाकथंचित् व्यक्त करती है, परन्तु अन्तःकरण की पर्तों में निसर्गतः लिपटा हुआ लज्जा-भाव आधे ही रास्ते में साथ छोड़ देता है :

"सखि ! यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः । इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति ।"

वैखरी-प्रवण मन की अगली बात शकुन्तला, सखियों द्वारा सस्नेह आश्वस्त की जाने पर ही कह पाती है । कालिदास के कवित्व का यही उज्ज्वलतम पक्ष है । वह शील-मर्यादा के आवरण में लिपटी मुग्धा कन्या में "प्रगल्भता" बिलकुल नहीं देखना चाहते । विवाह का सन्दर्भ आते ही अचिरोपरूढयौवना उमर भी तो देवर्षि नारद के समक्ष लीलाकमल की पंखड़ियां गिनने लगी थीं । अपनी झेंप का अपलाप मात्र करने के लिये[8] चिरकांक्षित वृषभध्वज को सहसा समक्ष देखकर भी तो उनकी "न ययौ न तस्थौ" जैसी दुःस्थिति हो उठी थी । स्वयंवर में रघुनन्दन अज को सर्वात्मना वरण कर लेने के बाद भी इन्दुमती बड़ी कठिनाई से लज्जा तथा संकोच को छोड़ सकी थीं :

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्यनरेन्द्रकन्या ।।रघु ०६/८०
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।।रघु० ६/८१

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास के काव्यों की नायिकायें शील, लज्जा एवं कोमलता की मूर्ति हैं । हां, यक्षिणी के विषय में भले ही यह सत्य खरा न उतरे, क्योंकि वह साध्वी होते हुए भी एक ऐसे समृद्धिभोगी समाज की सदस्या है जो भूलोकीय समाज से सर्वथा विलक्षण है । यौवन के अतिरिक्त यक्षों की और कोई अवस्था नहीं होती ? फलतः यौवन की उन्मुक्त उमंग में वे निरन्तर ललित वनिताओं के साथ मदिरापान, वनविहार तथा अभिसार करते रहते हैं[10] ।

अलकापुरी में समस्त काम व्यवहारों का प्रवर्तन चतुरकामिमियों के चंचल कटाक्षों से हो जाता है, कामदेव को स्वयं शर-सन्धान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः । ऐसी स्थिति में उत्तरमेघ की यक्षिणी शकुन्तला अथवा गौरी की तरह लाज के अवगुण्ठन में सिमटी हुई नहीं चित्रित की गई है । वह चटुलनयना है, स्तमितनयना और असितनयना है । चण्डी, गुणवती तथा मानिनी है ।[11] शायद इसीलिए कालिदास की जैसी सहानुभूति शकुन्तला के साथ है–जीवन की अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में–वैसी पार्वती, यक्षिणी, उर्वशी अथवा मालविका–किसी के प्रति नहीं ।

शकुन्तला यदि कन्या के रूप में "नीलोत्पल पत्रधारा" के समान एक अव्याजमनोहर वपुष् है तो पतिकामा युवती के रूप में "पुण्यों का अखण्ड फल" है । एक परिणीता के रूप में यदि "मूर्तिमती सत्क्रिया" है[11](ख) तो वियोगिनी के रूप में "एकवेणीधरा तथा शुद्धशीला" कुलाङ्गना है । जिस वनकन्या के लिये आश्रम के पेड़-पौधे ही भाई हों– अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु । माधवी-लता ही भगिनी हो – तात ! लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये ।

मृगशावक ही पुत्र हो, —सोयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते । तथा पिता की गोदी ही सर्वस्व हो—ऐसी संस्कारानुप्राणित प्रणयिनी के लिये पत्र लिखना और वह भी "प्रेमपत्र" लिखना सचमुच एफ चुनौती है । इन्हीं संस्कारों ने शकुन्तला को अन्त तक सहारा दिया । कामव्यथा के असह्य संताप में भी उसने विवेक नहीं छोड़ा—

"पौरव ? रक्ष विनयम् । मदनसन्तप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि ।"

फिर भी शकुन्तला आत्मरक्षा की विवश एवं अपरिहार्य स्थितियों में, राजर्षि दुष्यन्त के प्रति अपना प्रेमभाव यथाकथंचित् स्वीकार करती है । प्रियंवदा के उपाय-कौशल का समर्थन करती हुई "मदनलेख" लिखने के लिए उद्यत हो जाती है । यही एकमात्र सुकुमार प्रयोग था प्रणय-निवेदन के लिए !

परन्तु प्रेमपत्र की सामग्री क्या हो ! प्रियंवदा का प्रस्ताव है कि पत्र में ललित अर्थात् सुन्दर पदबन्धन या शब्दसमूह होना चाहिए, साथ ही साथ अपने नाम का उल्लेख भी। स्वनामोल्लेख के विना "स्वाभिप्राय–निवेदन" कैसे होगा ? इसीलिये आत्मोपन्यास आवश्यक है "तेन हि आत्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावत् किमपि ललितपदबन्धनम् ।"

वियोगी यक्ष की विरहिणी भार्या भी एक ऐसा ही गीत गाती है जिसमें पद-समूह वहुत सोच-समझ कर रखे गये हैं और उसमें यक्ष का नाम भी प्रयुक्त हुआ है । सोच-समझ कर रखने का तात्पर्य है : वियोग-भावना की पुष्टि कराने में समर्थ अथवा विरहानुकूल । कालिदास के ही शब्दों में — मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा !

मेरी दृष्टि में यक्षिणी के गीत तथा शकुन्तला के "मदनलेख" की पद्धति एक जैसी हैं । यक्षिणी अपने विस्मृति-परायण, निष्ठुर पति को संबोधित करके कोई गीत गाना चाहती है,इसलिए उस गीत में यक्ष का नामोल्लेख गोत्राङ्क है । परन्तु शकुन्तला का दुष्यन्त पर ऐसा कोई अधिकार नहीं है । उसे तो अभी अपना ही प्रणय निवेदित करना है– संशयित आस्था के साथ । इसीलिए वह कहती भी है—

"हला, चिन्तयाम्यहम् अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते में हृदयम् ।"

शकुन्तला के मदनलेख में "आत्मोपन्यास" है, गो कि प्रेमपत्र में वह दुष्यन्त के लिए भी "निर्घृण" शब्द का प्रयोग करती है। परन्तु सम्पूर्ण पत्र में प्रधानता आत्मोपन्यास अथवा स्वाभिप्राय की ही है । यक्षिणी के गीत तथा शकुन्तला के मदनलेख का दूसरा पक्ष है– प्रतिपाद्यशैली । इस दृष्टि से भी दोनों प्रायः समरूप हैं । गीत "विरचितपद" है जिसका अर्थ है– विशेषेण रचितानि पदानि, वियोगभावोद्दीपनार्थं प्रयुक्तानि यस्मिंस्तत् गेयम् ।

दूसरी ओर, शकुन्तला का मदनलेख "ललितपदबन्धन" है । ललित का अर्थ है आकर्षक, रमणीय । यह आकर्षण, यह रमणीयता किस वस्तु की है ? अपने प्रणय-निवेदन को प्रकट करने वाले जो पदबन्ध हैं-उनकी । प्रेमपत्र में ऐसे शब्दों का होना आकांक्षित है जिसमें कोई अनौचित्य न उत्पन्न हो[12] । इस प्रकार लालित्य गीतवस्तु का ही है । आगे शकुन्तला कहती भी है–हला ! चिन्तितं मया गीतवस्तु ।

शुकोदर के समान कोमल पुरइन के पात पर, नाखून से "मदनलेख" के अक्षर उत्कीर्ण किये जाते हैं :

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण ! तपति वलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अंगानि ।।

सचमुच यह आत्मोपन्यास मात्र है । अन्यथा दुष्यन्त तो प्रथम-दर्शन में ही शकुन्तलार्पित हो चुके हैं । उनके अन्तःकरण में आर्यमन का संकल्प, जाने कब का बद्धमूल हो चुका है।[13] मन ही मन वह निश्चय भी कर चुके हैं, आश्वस्त भी हो चुके हैं इस विजय में[14] ।

भारतीय संस्कृति एवं समुदाचार का निर्वाह इस लेख के एक-एक अक्षर से प्रकट हो रहा है। शकुन्तला दुष्यन्त के हृदयको नहीं जानती। क्या सचमुच नहीं जानती ? प्रथम सम्मिलन में ही दुष्यन्त ने शकुन्तला के विवाह के विकास में जो उत्कण्ठा व्यक्त की थी– इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि आदि, शाकु० १–२७ । वृक्षसेचन के सन्दर्भ में जो उन्होंने मुद्रिका देकर, शकुन्तला को मुक्त कर दिया था अथवा शकुन्तला ने स्वयं भी जो उस अहेरी नरेश को देखते ही, मन में, कुछ अव्यक्त-मधुर अनुभव किया था[15], और रूठने के बाद भी दुष्यन्त से दूर चले जाने में जो एक विचित्र मोहपाश का अनुभव किया था[16]–आखिर वह सब क्या था ?

यथार्थ तो यह है कि शकुन्तला दुष्यन्त के हृदय को बहुत अच्छी तरह जानती है। वह भी दुष्यन्त की ही तरह उन पर समर्पित हो चुकी है । प्रथम दर्शन में ही ! जाने कितनी उत्कण्ठायें उसके मन मे उठ रही हैं, परन्तु वेचारी विवश है । स्वयं तो कुछ पूछ नहीं सकती, चलो मन की बात अनसूया ही पूछ लेगी ।

"(आत्मगतम्) हृदय ! मा उत्ताम्य । एषा त्वया चिन्तितान्यनुसूया मंत्रयते ।"

फिर भी आश्रमोचित संस्कारों में पली शकुन्तला कन्याजनोचित शील एवं मर्यादा मात्र की रक्षा के लिए, अपने पत्र में प्रिय के हृदय को, मनोभाव को न जानने की बात कहती है। शेष मदन लेख, शकुन्तला के हृदय की अभिव्यक्ति मात्र है । वस्तुतः यही आत्मोपन्यास है । इस अभिव्यक्ति का लालित्य अथवा सौन्दर्य यही है कि अपनी व्यथा को प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि परोक्ष रूप से कामदेव के व्याज से प्रस्तुत किया गया है। इस मदनलेख में शकुन्तला की ओर प्रणय की पूर्ण स्वीकृति है क्योंकि उसने अपने मनोरथ का वरण दुष्यन्त में ही कर लिया है। वह राजर्षि दुष्यन्त के प्रति अपना कान्ताभाव स्वीकार करती है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ।

शकुन्तला को सम्भवतः इस बात का खेद अवश्य है कि प्रणय-निवेदन में पहल उसे करनी पड़ी । वस्तुतः यही, उस कोमलाङ्गी की पराजय है। क्यों नहीं दुष्यन्त ने अपना हृदय पहले खोल दिया ? सचमुच, राजर्षि में दया नहीं है, सहानुभूति नहीं है। अन्यथा इतना पूर्वानुराग संकेतित करके भी वह चुप क्यों बैठ गये ! वह तो एक सार्वभौम सम्राट् हैं, हस्तिनापुर-नरेश हैं और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि "पुरुष" हैं । उन्हें प्रणयभाव प्रकट करने में क्या कठिनाई हो सकती थी ? इतना तक नहीं सोच सके कि नैसर्गिक लज्जा तथा शील-सँकोच के आवरण में लिपटी एक तापसबाला, अपने चिरसंस्तुत व्यक्तित्व को तिलांजलि देकर, स्वजनों के बीच कितनी सारहीन हो जायेगी ! और वह भी मात्र इस प्रणय-निवेदन के कारण !!

मेरा विचार है कि इन्हीं मर्मस्पर्शी अनुभूतियों के कारण शकुन्तला दुष्यन्त को "निर्घृण" कहती है। इस छोटे से शब्द में जहाँ एक ओर "मीठा तिरस्कार" है वहीं स्नेहपूर्ण उपालम्भ भी।

सन्दर्भ—

१- श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर ! शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपम्मे ॥

२- यस्याङ्घ्रिपंकजरजःस्नपनं महान्तो वांछन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष ! न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् व्रतकृशान्शतजन्मभिः स्यात् ॥

३- द्रष्टव्य : श्रीमद्भागवत, उत्तरार्ध ५३/२,३

४- कथय किन्निमित्तं ते सन्तापः ! विकारं खलु परमार्थतो ज्ञात्वानारम्भः प्रतीकारस्य ।

५- किमात्मन आतंकमुपेक्षसे ! अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः । केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति ।

६- द्रष्टव्य - उत्तरमेघ

७- द्रष्टव्य–शाकुन्तल, १– १८ तथा २– १०

८- एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ कुमार० ६–८४

९- वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति । (उत्तरमेघ)

१०- उत्तमस्त्रीसहाया आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतम् (उत्तरमेघ)
विबुधवनितावारमुख्यासहाया वैभ्राजाख्यं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ।
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ।

११क- इत्थं चेतश्चटुलनयने ! त्वद्वियोगव्यथाभिः ।

११ख- शाकुन्तल० १– १८, २–१० तथा ५–१५

१२- अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।

१३- शाकुन्तल, १–२२

१४- (आत्मगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः । ......अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना ।
—शाकुन्तल १–४१

१५- किन्नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता ।

१६- यद्यात्मनः प्रभविष्यामि । (प्रकाशम्) का त्वं विस्रष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ।

—:o:—

हिन्दी का व्यावसायिक लेखन

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित

साहित्य के साथ एक "मिथ" बहुत दिनों से जुड़ा हुआ है, वह यह कि साहित्य मूलतः और अन्ततः आत्मनिरपेक्ष होता है अथवा "स्वान्तः सुखाय" लिखा जाता है और यह कि साहित्य-विधा कदापि अर्थकरी नहीं होती। काव्य को चूँकि दैवी देन तथा लोकोत्तर सिद्ध माना जाता रहा है, इसलिए भौतिक साधनों और सुख सुविधाओं की दृष्टि से उसे प्रयोजनीय नहीं समझा गया है। मेरी जानकारी में भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में काव्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए आचार्य मम्मट के पूर्व किसी ने काव्य को जीवनोपार्जन से नहीं जोड़ा। आचार्य मम्मट ने पहली बार "काव्यं यशसे अर्थकृते" की घोषणा की और साहित्य को भौतिक साधनों का माध्यम भी माना। धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदली। कवि-कलाकारों को राजाश्रय ग्रहण करना पड़ा और दरबारों में अपनी कला-चेतना को गिरवीं रखना पड़ा। वस्तुतः प्रत्येक कला-साधना किसी न किसी रूप में एक स्तर पर पहुँचकर भौतिक जीवन से जुड़ जाती है, क्योंकि भौतिक आवश्यकतायें सर्वोपरि होती हैं। भौतिक वृत्ति ने आज प्रत्येक वस्तु को क्रय-विक्रय की पण्य(बाजारू)वस्तु बना दिया है, फिर बेचारी काव्य कला ही उससे कैसे बच सकती थी? उसमें भी व्यावसायिकता भर गयी। सम्प्रति यह व्यवसाय-वृद्धि दो रूपों में प्रकट हो रही है। (१) श्रेष्ठ साहित्य की शुभ-सिद्धि के रूप में (२) मात्र व्यावसायिक लेखन के रूप में। निश्चय ही सत्साहित्य भी एक स्तर पर पहुँच कर लाभप्रद हो जाता है। श्रेष्ठ रचना प्रतिष्ठा और सम्पत्ति दोनों को अर्जित करती है, लेकिन वहाँ धनोपार्जन उसका मूल उद्देश्य नहीं होता है। व्यावसायिक लेखन का मुख्य उद्देश्य येन-केन प्रकारेण धन अर्जित करना ही होता है।

साहित्य के इस औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप विगत दो-तीन दशकों में हिन्दी साहित्य में व्यावसायिक लेखन का एक अभियान सा चल पड़ा है। यह व्यावसायिक लेखन एक विशिष्ट विधा है। इसका एक मात्र उद्देश्य है व्यावसायिकता। व्यावसायिक क्षेत्रों में जिस प्रकार उपभोक्ताओं को अपनी "जिन्स" की ओर आकृष्ट करने का उपक्रम (विज्ञापन) किया जाता है, वहाँ जैसी स्पर्धा झेलनी पड़ती है और पद-पद पर वणिक वृत्ति से प्रेरित होकर अधिकाधिक मुनाफाखोरी का दुश्चक्र चलाया जाता है, उसकी छाप हिन्दी के इस व्यावसायिक लेखन पर बहुत स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यह लेखन सत्साहित्य का दावा नहीं करता, न उसे अभीष्ट ही मानता है। यह तो कलमजीवी वर्ग का अपना अर्जन है। यह अपने पाठक वर्ग की गति-मति का अध्ययन करता है और उसकी आवश्यकता के अनुरूप उसकी मनचाही सामग्री प्रस्तुत करने का यत्न करता है।

व्यावसायिक लेखन के पीछे कुछ निश्चित परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। वर्तमान समाज में मनुष्य जिस आपाधापी में व्यस्त है तथा जिस संघर्ष और जोखिम से परिचालित है, उसके लिए एक विशिष्ट मानसिकता को ही वरण करना अनिवार्य हो गया है। आज का जीवन अपेक्षाकृत कहीं

अधिक गतिशील, सनसनीखेज तथा संकटाकीर्ण हो गया है, इसलिए भय, रोमांच आदि मनुष्य की स्थायीभाववृत्तियाँ बन गयी हैं। इसके फलस्वरूप आज का नागरिक अति साहसिक घटनाओं को पढ़ने, कुतूहलपूर्ण, रोमांचकारी भयावह दृश्यों को देखने और "सस्पेंस" तथा "थ्रिल" के वातावरण में जीने को लालायित हो उठा है। जब तक यह जीवन सुलभ नहीं होता, वह उसी भाव-साम्य वाले साहित्य को पढ़कर उसकी काल्पनिक प्रतिपूर्ति करता रहता है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों का युवा-मानस इसी प्रकार के दृश्य-श्रव्य साहित्य में तल्लीन दिखायी देता है। आर्थिक जीवन का नियम है कि जिस वस्तु की जितनी ज्यादा माँग होती चली जाती है, वह वस्तु उतनी ही मूल्यवान सिद्ध होती है और फिर उस माँग की पूर्ति के लिए उसी अनुपात में प्रयत्न होन जाते हैं। हिन्दी पाठक-समाज में जब से रोमांचक साहित्य की माँग शुरू हुयी, तब से अपराध-कथाओं, तिलस्मी-जासूसी कथाओं और सनसनीखेज लामहर्षक घटनाओं (तथाकथित सत्यकथाओं) की बाढ़ सी आ गयी है। यह बढ़ती हुयी माँग एक विशिष्ट कोटि के व्यावसायिक लेखन का मूल प्रेरणास्रोत है। यही कारण है कि इस बीच कर्नल रंजीत, ओमप्रकाश शर्मा जैसे कई छद्म नाम शिखर पर पहुँचे हैं। दूसरी स्थिति सामाजिक उपन्यासों में दिखायी देती है। भारत की मध्यवर्गीय जनता, विशेष रूप से अफसरों की पत्नियाँ अपने मानसिक स्तर के अनुरूप इस प्रकार के साहित्य में विशेष रस लेती हैं, जिसमें सुखमय वैवाहिक जीवन, भौतिक ऐश्वर्य-भोग, त्रिकोणात्मक प्रेम-संबंध आदि विशेषरूप से चित्रित किये जाते हैं। ऐसी कथा-कृतियों के पारायण से हमारी काम कुंठायें तृप्त होती हैं, एक सुखी समृद्ध जीवन की कल्पनायें सम्पन्न होती हैं और इस प्रकार हमारा मनोविनोद होता है। यह मध्यमवर्गीय व्यक्ति विशेषतः महिला वर्ग की एक वास्तविकता है। जब से इस प्रकार के साहित्य की माँग बढ़ी है, हमारे अनेक ख्यात साहित्यकार अपने चिन्तन और स्वस्थ लेखन के स्तर से उतरकर इसी धरातल पर स्थिर हो गये हैं। आज स्थिति यह है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों और पीढ़ियों के तत्त्ववेत्ता व्यक्ति और समाज की वस्तुस्थिति के विशेषज्ञ समाज मनो-विज्ञान, युग बोध आदि के मौलिक विचारक, अपनी कालजयी कृतियों को लिए हुए एक किनारे उपेक्षित से बैठे हैं और दूसरी ओर कुछ घिसे-पिटे फार्मूलों को लेकर एक 'पेटेण्ट' कथा गढ़ लेने वाले ये व्यावसायिक लेखक दिनोंदिन कीर्तिमान स्थापित करते जा रहे हैं। हमारा मध्यमवर्गीय पाठक रानू, समीर, राजवंश, प्रेम बाजपेयी, गुरुदत्त, गुलशन नंदा आदि के पीछे पागल है। एक औसत बुद्धिजीवी को इनका लेखन नितान्त घटिया, उबाऊ और कथारूढ़ि (मोटिफ) से ग्रस्त दिखायी देता है, जबकि उनके प्रिय पाठक वर्ग पर उनका जुनून सा छाया हुआ है।

यही स्थिति बाल साहित्य के नाम से प्रचलित कहानियों, लघुउपन्यासों, चुटकुलों, लतीफों और कविताओं की है। बाल साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित साहित्यकारों को आना पड़ा है, इस साहित्य का उद्धार करने के लिए नहीं बल्कि अर्थ-प्राप्ति के लिए। इससे बदतर स्थिति उन साहित्यकारों की है, जो अपने मधुसिक्त, रसभीने लोकप्रिय गीत लेकर सिने-संगीत से प्रविष्ट हुए हैं, जिन्होंने अपनी नाट्य प्रतिभा और संवाद कला का दुरुपयोग पट-कथा-लेखन में किया है, निम्न स्तरीय जनरुचि के अनुसार कलात्मक औदात्य की उपेक्षा करके काँचन मोहवश अपनी कला की कदर्थना भी की है। निश्चय ही यह अपनी मनीषा और कला का अपव्यय है, किन्तु यह इस भौतिक युग का सत्य भी है। आज का कलाकार झोपड़ी में बैठकर अभावों में रहकर

और "आत्म" का विसर्जन करके साहित्य साधना करने का हामी नहीं है। वह भी भौतिक स्पर्धा से प्रेरित है और जनता की जरूरतों तथा फरमाइसों की प्रतिपूर्ति करके स्थिति का लाभ उठाना चाहता है।

आलोचना जगत् की स्थिति इससे भिन्न नहीं है। इधर बढ़ती हुयी जनसंख्या के अनुसार परीक्षार्थियों की भीड़ बढ़ी है। स्वयं पाठी (प्राईवेट) परीक्षार्थियों और कालेज-परिसर से परांमुख विद्यार्थियों को परीक्षा की वैतरणी को सहजतः पार करने के लिए चौबीस घन्टे में सारा पाठ्यक्रम तैयार करा देने वाली प्रश्नोत्तरियाँ, कुंजियाँ, गाइड या दीपिकायें चाहिए। प्रकाशकों ने बढ़ती हुयी माँग के अनुसार सुयोग्य अध्यापकों एवं लेखकों का क्रय किया है और उनके प्रकट नाम अथवा छद्म नाम से ऐसी हजारों पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनके रहते हुए मानक आकार ग्रन्थों को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं रही। परीक्षा की बँधी-बँधायी वर्तमान परिपाटी के अन्तर्गत इन पुस्तकों के सहारे पाँच-सात प्रश्नों के सम्भावित उत्तर खोज लेना बड़ा सहज है। अस्तु, 'एक अध्ययन', 'विवेचन', 'मूल्यांकन' आदि नामों से आये दिन ऐसी पुस्तकें उद्‌बुद्ध लेखकों द्वारा भी लिखी जाने लगी हैं। उनके नाम से संललनों अर्थात् पाठ्यक्रम में निर्धारित किये जाने योग्य संग्रहों की तो भीड़ सी लगी हुयी है। बड़े-बड़े विचारक इसी व्यूह रचना में संलग्न हैं। इससे उनका स्वस्थ लेखन प्रभावित हुआ है और हिन्दी आलोचना साहित्य क्षतिग्रस्त हो गया है। मेरे कहने का यह कदापि अर्थ नहीं है कि सम्पादन, संकलन और टीका कार्य वरेण्य विद्वानों को नहीं करना चाहिए। मेरा निवेदन मात्र इतना ही है कि मात्र व्यावसायिकता से प्रेरित होकर आचार्य वर्ग को परीक्षोपयोगी सामग्री नहीं जुटानी चाहिए। जो कलमजीवी हैं, वे तो साहित्यिक पेशा करने को बाध्य हैं, पर जो उच्च वेतन भोगी हैं, वे लाभ-लोभवश यदि अपने स्वस्थ साहित्य की बलि चढ़ाकर इस प्रकार का अधम लेखन करते हैं तो इतिहास के दौर में अक्षम्य माने जाते हैं। शुद्ध भाव से प्रेरित सम्पादन, पाठालोचन, टीकायें और भाष्य सर्वदा स्वागत योग्य हैं। आचार्य मल्लिनाथ की परम्परा को आज हिन्दी में पुनः प्रतिष्ठित करने की उपयोगिता निर्विवाद है। लाला भगवानदीन, आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वानों के कार्य इस दृष्टि से महनीय हैं। दुर्भाग्यवश व्यावसायिक आलोचना की वृत्ति दिनोदिन बढ़ती जा रही है। इसका प्रभाव शोध-प्रबन्धों पर भी पड़ा है। सम्प्रति शोधार्थी, निर्देशक और शोधोपाधि से संबंधित अधिकारी प्रायः किसी न किसी रूप में द्रव्यार्जन से प्रेरित प्रतीत होते हैं।

व्यावसायिक लेखन का एक और रूप है, जिसे हम "प्रचार साहित्य" कह सकते हैं। यह साहित्य प्रायः आकाशवाणी-दूरदर्शन, अकादमियों, सरकारी पत्र-पत्रिकाओं, सूचना-जन सम्पर्क-कार्यालयों, सरकारीप्रकाशन प्रतिष्ठानों और विविध सेठाश्रित तथा राजकीय संस्थाओं के माध्यम से प्रकाश में आता है। इसके द्वारा सरकारी योजनाओं और नीतियों का प्रोपेगंडा किया जाता है। इनके लेखकों को पुष्कल मात्रा में पारिश्रमिक प्राप्त होता है, इसलिए इस सरकारी लेखन-क्षेत्र में सदैव स्पर्धा छिड़ी रहती है। इस क्षेत्र में अनुवाद की बहुतायत है और इसके परिणाम स्वरूप हिन्दी मात्र अनुवाद की भाषा बनकर रह गयी है। इन सबका सर्वेक्षण और विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

निष्कर्ष यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में व्यावसायिक लेखन अथवा साहित्यिक औद्योगीकरण स्वाभाविक तो है, पर काम्य नहीं है। वस्तुतः यह अध्ययन-अनुसंधान का अत्यन्त रोचक विषय है कि श्रेष्ठ लेखकों में उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अन्तर्गत कौन-किस प्रकार की व्यावसायिकता का शिकार हुआ है!

हिन्दू शब्द की परिभाषा

प्रो० उद्धव आ० आसरानी

केरल प्रान्त में एक 'विश्व हिन्दू परिषद्' के अधिवेशन में वहाँ के एक सज्जन ने बताया कि 'हिन्दू' शब्द की कोई परिभाषा ही नहीं है। यह भारत के उच्चतम न्यायालय का विचार है (लखनऊ, पायोनियर समाचार पत्र, १७ नवम्बर १९७८) जिस प्रकार ईसाई या मुस्लिम या यहूदी धर्म की खास मान्यतायें हैं और एक विशेष पैगम्बर और पोथी है जिसको वे मानते हैं, उस प्रकार हिन्दुओं में नहीं। 'हिन्दू' शब्द केवल एक जीवन की धारा (Way of life) है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है।

यदि हम विचार कर देखें कि जीवन की धारा का कौन सा ऐसा पहलू है जिसको हिन्दुत्व कहा जाय, तो यह लगता है कि ईसाई, मुस्लिम इत्यादि की कट्टरता के स्थान पर हिन्दुत्व में अनेकता है। संकल्प और जीवन की स्वतंत्रता है। उधर अन्धविश्वास है और कभी भी न बदलने वाली मान्यतायें हैं। इधर स्वतंत्रता के कारण परिवर्तन हर समय संभव है और होता रहता है। वेदों के समय (ऋग्वेद लगभग ईसा से २ या ३ हजार वर्ष पूर्व) प्रकृति के मूल स्तम्भ वायु, सूर्य आदि को देवता मानकर उनकी पूजा अर्चना की जाती थी। जानवरों की बलि चढ़ायी जाती थी। उसके बाद उपनिषदों के काल तक (लगभग ८ सौ ईसा पूर्व) सारी प्रकृति में समाये हुए निराकार ब्रह्म पर विश्वास होने लगा। उसके सम्बन्ध में ऋग्वेद में केवल थोड़ा सा एक दो स्थलों पर संकेत मिलता है। उसके उपरान्त हिन्दुओं के ६ दर्शन बन गये। अनुभवी ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के रंग, रूप और गतिविधि को देखकर अपने स्वतंत्र विचार अभिव्यक्त किये कि एक ही कर्ता या कर्णधार है, या दो; एक प्रकृति और एक ईश्वर, या मनुष्य की जीवात्मा इन दोनों से भिन्न एक तीसरी इकाई है। मनुष्य जाति के लिए इस विस्तृत संसार को देखकर आश्चर्य और विस्मय स्वाभाविक है। जो कट्टरपंथी केवल एक पोथी पर निर्भर होकर स्वतंत्र विचार को दबाते हैं, वे मनुष्य को पशु की अवस्था के प्रति ले जाते हैं। यूनान के महान् दर्शनशास्त्री सुकरात का कथन है कि "दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ आश्चर्य की भावना में है" और अरस्तू का कहना है कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है।

कट्टरपंथी अन्धविश्वास में एक लाभ आवश्य है कि कार्य में सुगमता आती है। जैसा पोथी में लिखा है या पैगम्बर साहब कह गये हैं बस उसी तरह रहो। इधर उधर की बात मत सोचो। जिस दिशा में एक लश्कर का सरदार आदेश देता है सारा लश्कर उसी दिशा में ही चलता है। प्रतिवाद करने की न लश्कर को आज्ञा है न अवसर। बस यही बात कट्टरपंथियों में है। इस कार्य की सुगमता के कारण मुस्लिम और फिरंगी लोग ११वीं शताब्दी से भारत पर आक्रमण कर सके और कई शताब्दियों तक इसे पराधीन बनाये रहे, हिन्दू जनता में स्वतंत्र संकल्प की क्षमता तो थी परन्तु वे संकट के समय संगठित होकर उसका सामना करना नहीं सीखे थे।

यही वैचारिक मतभेद राजनीति के क्षेत्र में भी संसार में प्रस्तुत हो रहा है। एक दिशा में रूस और चीन का साम्यवाद, और दूसरी दिशा में यूरोप, अमेरिका आदि प्रजातांत्रिक

देशों में स्वतंत्र विचार। एक दिशा में 'पोलिट ब्यूरो' (Polit Beureau) अर्थात् चन्द लीडरों की तानाशाही; दूसरी दिशा में प्रजातांत्रिक भिन्न-भिन्न रूप की सरकारें और पृथक्-पृथक् रूप के संविधान। योरोप तथा अमेरिका के स्वतंत्र देश यह जान गये हैं कि तानाशाही देशों से उन्हें संकट है और संकट के समय वे परस्पर संगठन कर लेते हैं। जैसे प्रथम विश्वयुद्ध के समय जर्मनी के 'कैसर' के विरुद्ध उन्होंने संगठन कर लिया और विजयी हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर, मुसोलिनी और जापानी राज्य के विरुद्ध एकत्रित हो गये। कभी-कभी तो ये राज्य, चालाकी और कूटनीति से तानशाही देशों के बीच में फूट उत्पन्न कर देते हैं। रूस और चीन के मध्य की खाई को अमेरिका सदैव बढ़ावा दे रहा है। रूस के विरुद्ध पोलैण्ड में जो हल्की सी बगावत है उसमें योरोप के देश सहायता दे रहे हैं।

परन्तु ये सब स्थायी समाधान नहीं हैं। जो बुनियादी समस्या है उसका समाधान यह नहीं करती, केवल चालबाजी या टालबाजी करती है। समय तीव्रता से परिवर्तित हो रहा है। इस वैज्ञानिक प्रगति के युग में मानवीय बुद्धि को अन्धविश्वास के ताले में सर्वदा बन्द रखना सम्भव नहीं है, पाश्चात्य ईसाई देशों में तो यीशूमसीह की जीवनगाथा पर ही सन्देह किया जाता है। मनुष्य जाति को पैगम्बरों जैसे नेताओं के आदर्शों को एक आदर से देखना तो अवश्य योग्य है, परन्तु इस अणु युग में इतनी तीव्रता से मनुष्य की स्थितियाँ परिवर्तित हो रही हैं कि उन्हें सर्वदा के लिए अपरिवर्तनशील मानना बुद्धिमानी न होगी, और फिर, प्राकृतिक स्वभाव से प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र होकर अपनी निजी क्षमताओं का विकास करना (Self-Actualisation) चाहता है। साम्यवादियों की तरह थोड़े से गिने चुने सरदारों के आदेशों के अन्दर अपनी सम्पूर्ण जीवन गति को वह कहाँ तक बद्ध रखेगा? उधर स्वतंत्र देशों में निजी लाभ और सुख की चाह से जो अन्य देशों को अपना गुलाम बनाकर शोषण की प्रवृत्ति थी, वह तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लगभग समाप्त हो गई। परन्तु समृद्ध, स्वतंत्र देश व्यापार तथा तकनीकी के द्वारा निर्बल-निर्धन अविकसित देशों का अब भी पर्याप्त शोषण कर रहे हैं।

सम्पूर्ण संसार तृतीय विश्वयुद्ध, जो पूर्णतया अणुयुद्ध होगा, के भय से त्रस्त है। योरोप के देश रूस से काँप रहे हैं, और अमेरिका वाले तीन वर्ष के अन्तर्गत अणुयुद्ध के लिए तैयारी की आशा कर रहे हैं, अब तक जितने लघुयुद्ध तथा विश्वयुद्ध हुए या ईरान–ईराक अथवा अरब-इजरायल-युद्ध इत्यादि हुए, वे सब तो मात्र बच्चों के खेल थे। सर्वोच्च शक्तिमान रूस और अमेरिका के पास इतनी अणुयुद्ध सामग्री है कि उससे सम्पूर्ण संसार का पूर्णतया विनाश हो सकता है।

संसार एक नाजुक परिस्थिति से गुजर रहा है। यदि मनुष्य जाति अपने स्वभाव को पूर्णतया परिवर्तित नहीं करती तो सर्वनाश समीप है। अब इन चालबाजियों अथवा टालबाजियों से काम नहीं चलेगा। महान् कुंडलिनी योगी गोपीकृष्ण ने खुलेआम चुनौती प्रकाशित की थी। अमेरिका के एक मित्र ने मुझे लिखा कि अमेरिका तीन वर्षों के अन्दर अणुयुद्ध के लिए तैयार हो जायेगा।

अब तो समय ऐसा आ गया है कि मनुष्यजाति को योग के प्रति अपनी रुझान रखनी ही पड़ेगी। हिंसा और कूटनीति को त्याग कर अहिंसा, सर्वयुद्धों का त्याग, तथा राजनीति में भी सत्य का व्यवहार, जैसा गाँधीजी चाहते थे, प्रवाहित करना पड़ेगा। देशों के आपसी झगड़े 'संसार की

अदालत' (World Court) फैसला करेगी। संयुक्त राष्ट्रसंघ को बदल कर संसार की इकट्ठी सरकार बनानी पड़ेगी। अणु की शक्ति सब जगह प्रगति के कार्यों में लगायी जायेगी। जहाँ आर्थिक तथा राजनैतिक मतभेद हैं वहाँ दस-बीस साल का वैज्ञानिक प्रयोग करके यह ज्ञात किया जायेगा कि सम्पूर्ण मानवजाति का किस विधि में हित है, और किस विधि से उसकी प्रगति हो सकती है। उधर स्वतंत्र देशों को भी योग का दूसरा एक व्रत अपरिग्रह (एकत्रित न करना) लेना पड़ेगा, गाँधीजी ने इस व्रत को 'ट्रस्टीशिप' का नाम दिया था। कोई भी व्यक्ति तथा देश अपने धन तथा ज्ञान का अपने आपको मालिक न समझे। ट्रस्टी तथा रक्षक समझे, मालिक सारे संसार का एक ही है। व्यक्ति भी मर जाते हैं, देश तथा सभ्यतायें भी कालान्तर में काल के मुख में समा जाती हैं। किसी को भी मालिक कैसे कहें ? निर्बल, निर्धन अविकसित देशों के साथ सबको बाँटकर खाना चाहिए। अपने वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान को भी परस्पर वितरित करना होगा। जिस नेश में खनिज पदार्थ तेल इत्यादि की प्राकृतिक सम्पत्ति है वे भी दूसरों के साथ आवश्यकतानुसार बाँट लें। विश्व भर में एक नवीन शिक्षा-प्रणाली चले अन्यथा कोई भी व्यक्ति तथा देश, धर्म अथवा जाति अकेले जीवित नहीं रह सकती, और जीवित रहने का उसको अधिकार भी नहीं है, जब तक वह मानव समाज के लिए हितकारी कार्य कार्यान्वित न करे, और मानव मात्र के कल्याण में रत न रहे।

यदि योग के अंग यम के चार मुख्य अंग अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह का शिक्षा प्रणाली द्वारा प्रचार होने लगे तो निःसन्देह २५ वर्ष के अन्दर यह धरती स्वर्ग बन जायेगी। अणु युद्ध से होने वाले सर्वनाश का भय न रहेगा। संसार के सभी छोटे-बड़े देश अणुशस्त्रों पर जो असीम धन-राशि व्यय कर रहे हैं और कूटनीति तथा गुप्तचरों पर जो व्यय हो रहा है उससे भी सब बच जायेंगे। यह प्रचुर धनराशि निर्बल, निर्धन, और अविकसित देशों को विकास हेतु मिल जायेगी। यदि संसार इस परिवर्तन के लिए तत्पर नहीं तो इस संसार का प्रभु ही रक्षक है। इसलिए मेरा नम्र निवेदन है कि हिन्दू जाति अपना स्वतंत्र विचार न छोड़े। न ही वह योग की उत्तम विद्या को छोड़े, अपितु हिन्दू धर्म की परिभाषा सर्व हितैषी योगिक धर्म ही मानी जाय।

एक अन्य विचारधारा हमारे देश में प्रचलित होने लगी है कि जैसे मुसलमानों और ईसाइयों में संगठन है उसी तरह हिन्दुओं में भी संगठन हो, साथ ही ईसाई तथा मुसलमानों के संगठन का भली प्रकार सामना किया जाय। मेरे विचार से संभवतया राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, भारतीय जनता पार्टी इसी विचारधारा से अनुप्राणित है। मेरे विचार से यह बात अत्यन्त अनुचित है, मुस्लिम और ईसाई यदि अपनी दृष्टि संकुचित कर लेते हैं तो क्या हम भी उन्हीं की तरह अपनी दृष्टि संकीर्ण करे ? संकीर्ण दृष्टि न सर्वहितैषी हो सकती है, और न योगिक। अपितु धर्म की बुनियाद पर किसी भी जाति या कौम का संगठन हिटलर, मुसोलिनी के समय से फासिस्ट के नाम से कुख्यात है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा भारतीय जनता पार्टी से इसीलिए दूसरी भारतीय विरोधी समाजवादी पार्टियाँ बहुत रुष्ट रहती हैं, अगर केवल संगठन पर बल देने के बदले सर्वहितैषी और योगिक शब्दों पर जोर दें तो समाजवादी विरोधी दलों को उनके साथ मिलने में कोई विरोध न होगा। विचारों को स्वतंत्र रखना अत्यन्त अनिवार्य है। विचारों के संकीर्ण होने से परस्पर विवाद बढ़ते हैं, और तानाशाही को बढ़ावा मिलता है। हिटलर, मुसोलिनी, पाकिस्तान के जियाउल हक इसी तानाशाही के दृष्टान्त हैं।

जर्मनी के एक संस्कृत महाविद्वान् मैक्समूलर ने कहा है—यदि हमसे पूछा जाय कि किस देश के वातावरण में मनुष्य जाति ने अपने नैसर्गिक गुण सर्वाधिक प्रकट किये हैं और जीवन की महत्त्व-पूर्ण समस्याओं पर विचार कर उनका समाधान निकाल लिया है, तो मैं इसका उल्लेख भारत के ही सन्दर्भ में दे सकता हूँ; यह भारत की स्वतंत्र विचार धारा का ही परिणाम है।

एक निशस्त्र देश बीसवीं शताब्दी में भी अहिंसा और सत्य की लड़ाई लड़ सकता है और इतने बड़े देश को स्वाधीन बना सकता है। यह चमत्कार एक भारतीय हिन्दू विचारक महात्मागाँधी के हाथ से ही संभव था और जिस ब्रिटिश साम्राज्य के ऊपर से सूर्य का अस्त कभी नहीं हो सकता था उसीके कारागार में बन्दी महात्मा जी ने ब्रिटिश कूटनीति का किस प्रकार सामना किया? कारागार के द्वार खुल गये, और हरिजनों को हिन्दुओं से अलग होने से रोक दिया, यह चमत्कार भी उसी स्वतंत्र विचारक गाँधी की देन है।

गाँधी जी को दूसरा 'यीशुमसीह' भी योरोप के लोग कहने लगे, ब्रिटिश कूटनीति और चाल-बाजी ने भारत के तीन टुकड़े कर दिये। लंका और वर्मा को पहले से ही स्वतंत्र कर दिया, ताकि गाँधी जी की यौगिक, नैतिक स्वतंत्रता की लहर वहाँ न पहुँचे। इसलिए गाँधी जी और नेहरुजी ने अंग्रेजों के अधीन रहना स्वीकार न किया। अपना अलग स्वतंत्र संविधान बनाकर स्वतंत्र प्रजातंत्र चलाया। यह सब भारत के स्वतंत्र विचार परम्परा का ही परिणाम है। विनोवा जी का भूदान तथा श्रमदान आन्दोलन, जयप्रकाश जी का सम्पूर्ण विरोधी दलों को मिलाकर श्रीमती गाँधी की आपातकालीन स्थिति से देश को मुक्त करना, यह भी उस विचार के चमत्कार है। ईसाइयों तथा मुसलमानों की कट्टरता को देखकर हम भी कट्टर बन जांय और अपने स्वतंत्र विचार को छोड़ दें, न तो यह हमारे लिए वांछनीय है और न ही भारतीय परम्पराओं के अनुकूल ही है। अब तक तो आर्य लोगों ने द्रविण लोगों को अपने साथ मिला लिया। कट्टरपंथियों के सताये ईरान से पारसी आये, और देशों से ईसाई आये, किसी को भी हमने नहीं रोका। सर्वधर्मों के प्रति उदार भाव रखना हमारी परम्परा रही है, बौद्ध और जैन धर्म तो परमेश्वर को भी नही मानते, तब भी भारतवर्ष में उनका स्थान शताब्दियों से रहा है। मुसलमानों ने तो स्वतंत्र विचारक सूफियों को सूली पर चढ़ाया। ईसाइयों के सन्तों ने भी पोप साहब के आदेशों की अवज्ञा न की। कवि सम्राट रवि बाबू ने लिखा है, कि भारतीय संस्कृति की एक विशेष विशिष्टता यह है कि उसमें शत्रु को मित्र बनाने की क्षमता है। औरों के चित्र के अन्दर प्रविष्ट होकर अपने प्रेम के जादू से अपने प्रति आकृष्ट करना यह भारतीय सभ्यता का चमत्कार है (The meaning of Indian History- Taqore)। हम यह क्यों भूल जांय कि अपने आपको हिन्दू कहलाने वाले राम के बदले दाम की पूजा करते रहे हैं। यह न होता तो मुहम्द गोरी सोमनाथ के मन्दिर में इतना धन क्यों पाता और इस समय तक भी अपने आप को 'हिन्दू' कहलाने वाले देश के प्रमुख नेता गण केवल अपने व्यक्ति-गत सम्मान के पीछे जनता–राज का अंग-भंग न करते।

सच्चा हिन्दुत्व और सच्चा धर्म योग है। कट्टरपंथी में विचार को दबाने का अपराध बड़ा भारी है। परन्तु एक 'अल्लाह' या 'गाड' से डरने वाला जब कतिपय पापों से बच सकता है तो हम उसकी निन्दा क्यों करें, सम्भवतया किसी समय वे भी सच्चे धर्म पर आयेंगे, सच्चा धर्म तो योग

है जो सर्वहितैषी है। सम्पूर्ण विश्व की नैतिकता एवं शान्ति का गुण उसमें निहित है। यह अवश्य है कि हिन्दू जाति को इस समय खतरा है। ईसाई तथा मुस्लिम लोगों की जनसंख्या इस समय कई कारणों से बढ़ रही है। वे उस बढ़ती हुई जनसंख्या और अपने संगठनों के आधार पर सरकार से अधिक सुविधाएँ और अधिकार माँगते जा रहे हैं। इस कारण यह भय होता है कि संभवतः किसी समय हिन्दू जाति का न तो बहुमत रहे और न उसकी स्वतंत्र विचारधारा तथा योग। कतिपय प्रान्तों में जैसे केरल, आसाम इत्यादि में तो यह भय इस समय भी प्रकट हो गया है।

मेरा नम्र निवेदन यह है कि न हम अपनी स्वतंत्र विचारधारा छोड़ें, न हम अपनी योगिक वृत्ति छोड़ें, और न हम मुस्लिम तथा ईसाइयों की कट्टरता को देखकर स्वयं उसके विरुद्ध कट्टर बन जाँय। अपितु एक नवीन पथ अपनायें कि हम मान लें कि हिन्दू शब्द की परिभाषा यही है:— सर्वहितैषी योगिक वृत्ति ही सच्ची हिन्दू या भारतीय सभ्यता है। उसमें न केवल भारत और भारतीय व्यक्तियों का कल्याण है अपितु सम्पूर्ण मानव जाति का अणुयुद्ध के भय से बचने का एक ही मार्ग है।

परन्तु एक नवीन परिभाषा घोषित करने से कोई लाभ न होगा। हमें सारी हिन्दू सभ्यता में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा। सर्वहितैषी, दाम के बदले राम के भक्त और व्यक्तिगत अभिमान के बदले हिन्दुओं को देश-सेवी बनाना पड़ेगा। कुरीतियों और संकीर्ण रीति-रिवाज को बाहर निकालना पड़ेगा। जो योगिक दृष्टि से अयोग्य हैं उनको स्थान देना न होगा। मात्र पूजा-पाठ को महत्त्व देने के बदले नाम-स्मरण, भक्ति तथा कर्मयोग, चित्तवृत्ति- निरोध एवं ज्ञान योग पर बल देना होगा। अपने पर्व-त्यौहारों पर भी जन-सामान्य के लिए ऐसा परिवेश निर्मित करना होगा कि योगिक दिशा में जन-सामान्य का उत्थान होता रहे। जैसे दुर्गा-पूजा के समय लाठी चलाने की शिक्षा और उसका प्रदर्शन। रामनवमी तथा दशहरे के अवसर पर मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के जीवन–चरित पर व्याख्यान। कृष्ण–जन्माष्टमी के अवसर पर कृष्ण–चरित और गीता पर व्याख्यान। सर्वदा सूर्य–नमस्कार और आसन पर प्राणायाम की कक्षाएँ चलती रहें तथा उनके प्रदर्शन होते रहें। साथ ही यम–नियम का प्रचार तथा चित्तशान्ति तथा वासना की शुद्धि के लिए नाम-स्मरण तथा ब्रह्मज्ञान का प्रचार भी होता रहे, और यह प्रचार सम्पूर्ण भारतीय जनता में रहे। ईसाइयों और मुसलमानों में भी नाम चाहे वे बदल दें 'गाड' और 'खुदा' कहें, 'मुहम्मद' और 'ईसा को राम और कृष्ण के बदले मानें, परन्तु यह समझें कि सच्चा धर्म सर्वहितैषी योगधर्म ही है। और सारी मनुष्य जाति का जीवित रहना उसी पर निर्भर है।

कट्टरधर्मी शक्तियाँ भारत वर्ष में केवल फूट डालने की कूटनीति से प्रेरित हैं। उनके प्रचार से हम प्रभावित न हों, इसमें ही देश का हित है, विश्व का कल्याण है, कट्टरपंथ से मनुष्य जाति के अन्दर संघर्ष बढ़ सकता है।

एक संदेह यह हो सकता है कि योग से सर्वमानव जाति का हित कैसे संभव है? योगी लोग सर्वदा समाधियों में व्यस्त रहते हैं। वे भौतिक संसार और समाज से भागते हैं। वास्तव में यह लोगों की भ्रमपूर्ण धारणा है। समाधि, योग का साधन है। सर्वप्रकार के योगों की सिद्ध अवस्था सर्वहितैषी सहज अवस्था है, जिसको गीता में 'स्थितप्रज्ञ' अवस्था भी कहा है, उस अवस्था में योगी वास्तविक संसार की चुनौतियों से पलायन नहीं करता वरन् अर्जुन की

तरह कर्त्तव्य पूर्ण करने के लिए युद्ध भी कर सकता है। कर्म, भक्ति, पातंजल योग तथा ज्ञान और तंत्र योग या कुंडलिनी योग की भी अन्तिम अवस्था सहज अवस्था मानी जाती है। सर्व समाधियों के माध्यम से भी वही अवस्था आती है, जिसको पतंजलि ने 'धर्ममेघ' की समाधि भी कहा है। कुंडलिनी की समाधि सब समाधियों से अधिक प्रकाशमान और अधिक आनन्ददायक मानी गयी है। परन्तु पं० गोपीकृष्ण जो कुंडलिनी पर शोध करने में सारे विश्व में विख्यात हैं वे भी जर्मनी के एक दूरदर्शन में (२१–३–१९७२) मान चुके हैं कि सहज अवस्था उसका भी परम लक्ष्य है। (देखिए On Looker Calif U.S.A) कर्मयोगी और भक्त लोग तथा ज्ञानवान लोग तो सर्वहितैषी होते ही हैं। (देखिए गांधी जी का कर्मयोग और भक्तियोग तथा स्वामी विवेकानन्द का ज्ञानयोग) लम्बी समाधियों के लगाने का लांछन केवल पातंजल योगियों, तान्त्रिक या कुंडलिनी योगियों के विरुद्ध ही दिया जाता है, परन्तु ऊपर दिये गए उद्धरणों से सिद्ध होता है कि उनका भी अन्तिम लक्ष्य 'सहज अवस्था' को प्राप्त करना है।

एक संदेह यह हो सकता है कि सहज अवस्था तो अत्यन्त दूर है। वह अर्जुन को चाहे द्वापर में कृष्ण जी की अनुकम्पा से मिल गई हो परन्तु आजकल के योगियों में कौन उसको पा सकता है। यद्यपि अमेरिका के महान् मनोवैज्ञानिक ए० एस० मेसलो (A. S. MASLOW) जिसने नये दो किस्म के दो मनोवैज्ञानिक धाराओं का अन्वेषण अपनी खोज और व्यक्तिगत अनुभव की नींव पर स्थापित किया (१९६०—१९७० सर्वहितैषी मनोविज्ञान–Humanistic Psychology) मनुष्य को देवता कैसे बनाया जाय, व्यक्तिगत 'अहं' से रहित मनोविज्ञान–Transpersonal Psychology–अर्थात् मनुष्य को व्यक्तिगत देहाभिमान से कैसे मुक्त किया जा सकता है। उसने लिखा है कि आजकल के कशमकश और संघर्ष के समय में यह आवश्यक है कि मनुष्य देहाभिमान से ऊपर उठकर ब्रह्म-भावना को अपनायें। अबभी मनुष्य क्षणिक मनोरंजन तथा उत्तेजक पेय शराब, तम्बाखू के पीछे इधर-उधर भटक रहा है। वह दिखाता है कि उसको अन्तस् में कहीं शान्ति नहीं है। अन्तः की शान्ति देहाभिमान को तज कर ब्रह्म-भावना से ही हो सकती है। यह भावना मानव जीवन की एक शारीरिक-मानसिक आवश्यकता है। जिस प्रकार खाना, पीना, आवास इत्यादि। यदि मानव उस ब्रह्मभावना को नहीं अपनाता तो प्रकृति जसे मनोजनित रोगों (Functional Diseases) की सजा देती है, और यह भी लिख गये हैं कि मध्यकाल में जो कतिपय ईसाई सन्तों को परमेश्वर तथा ब्रह्म का आभास हुआ वह अब भी संभव है, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक शोध से वह और भी समीप आ सकता है।

भारत के एक विज्ञान शास्त्री, जिनको रमन महर्षि के वाक्यों से कुछ समय पूर्व ज्ञान मिला है वे तो यहाँ तक दावा कर रहे हैं कि सारी प्रकृति के कार्यों में व्यक्तित्व का अलगाव (Individuality or Ego) का कहीं संकेत ही नहीं मिलता, ब्रह्माण्ड में सर्वशक्तियाँ एक दूसरे के ऊपर निर्भर होकर कार्य कर रही हैं। संसार मुझसे अलग है और मैं उसका द्रष्टा तथा भोक्ता हूँ। इस प्रकार की पृथक्ता या देहाभिमान या व्यक्तित्व अभिमान मानव जाति ने अपने बच्चों को स्वयं सिखाया है। यह भावना न जानवरों में है और न छोटे मासूम शिशुओं में। मनुष्य जाति की स्वयं दी गई इस निकृष्ट शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि हम अपने आपको, जो शरीर नाशवान है और क्षण-क्षण में बदलता रहता है, उसी को अपना व्यक्तित्व तथा सर्वदा के लिए घर मान लेते हैं। अगर यह देहा-

भिमान मिट जाय तो मनुष्य के न कोई क्लेश रहें और न कोई बन्धन; वह सर्वदा मुक्त है, रमन महर्षि की भी यही शिक्षा है।

देहाभिमान अप्राकृतिक है। मनुष्य जाति की स्वनिर्मित माया है। मनुष्य को मुक्त नहीं होना है। वह सर्वदा मुक्त था और मुक्त रहेगा। केवल उस शेर के बच्चे की तरह जो भेड़ों के झुन्ड में कुछ समय से रह चुका है केवल यह सीखना है कि मैं सिंह की भाँति कैसे गर्जना करूँ, कि मैं व्यक्ति नहीं, ब्रह्म हूँ और सर्वदा रहूँगा।

भारत में योग उन युक्तियों को कहते हैं जिनसे जीव देवता बन जाता है अथवा ईश्वर या विश्व रूपी ब्रह्म से एक हो जाता है। जिससे व्यक्ति देह की मनोजनित रोगों पर विजयी हो जाता है। संसार के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप वास्तविकता से करते हुए भी स्वंय को विश्व रंगमंच का अभिनेता समझ कर सर्वदा निर्लिप्त और निर्मोही रहता है। योग उन युक्तियों का नाम है जिनके सिवा मानव जाति इस अणु युद्ध के भय से मुक्त होकर जीवित नहीं रह सकती। 'योग' उसी शिक्षा-प्रणाली का नाम है जिससे मनुष्य देहाभिमान से उठकर सम्पूर्ण मानव समाज को सुखी, समृद्ध तथा प्रगतिशील बना सके। यह'योग' किसी धर्म या कट्टरपन्थी मजहब जैसा नहीं है। वह तो एक नये प्रकाश की मानव वृत्ति का नाम है। जिसको 'ब्रह्माकार वृत्ति' कहा जाय तो ठीक होगा। सर्व हितैषी 'योग' या 'ब्रह्मवृत्ति' को अपनी सभ्यता में पाकर भारत की संस्कृति को यह गौरव है कि वह मानव जाति को संसार भर की चुनौतियों, मनोजन्य रोगों और अणुबम के भय से मुक्ति एवं नवीन शिक्षा प्रणाली का पथ प्रदर्शित कर रहा है।

वह जाति या वह सभ्यता जीने की अधिकारी नहीं है जिसको अपनी संस्कृति का गौरव नहीं। अमेरिकन लोग अंग्रेजी भाषा ही बोलते हैं। थोड़ा सा अन्तर उच्चारण और हिज्जों का है, परन्तु वे यह कभी नहीं मानेंगे कि उनकी भाषा आंग्ल भाषा है। वे सर्वदा कहते रहेंगे कि हम अमेरिकन भाषा बोल रहे हैं। हमको किसी भी कट्टर पंथी धर्म अथवा मजहब से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने योग तथा योगिक ब्रह्माकार वृत्ति का गौरव हिन्दू सभ्यता में जीवित रखना है। उसी गौरव की अनुभूति से संगठन स्वयं सुदृढ़ करने का प्रयास हम करते रहेंगे।

खेद का विषय यही है कि ऐसे योगिक ब्रह्माकार वृत्ति का धन अपनी संस्कृति में रखते हुए भी हम उस गौरव का प्रचार नहीं करते और उसकी शिक्षा अपने बच्चों को नहीं देते, और न अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (धन या शक्ति का संग्रह न करना, दूसरों को वितरित करना) का अपने समाज में व्यावहारिक रूप में प्रयोग नहीं करते। पुराने रीति-रिवाज, प्रथाओं को, उचित हैं या अनुचित, यह कार्य-अनुभव की कसौटी पर नहीं जाँचते, कि कौन सा उचित है और कौन सा हमारी जाति के लिए अनुचित है, अहितकर है। यह अन्धानुकरण अथवा भेड़चाल मानवजाति के लिए अत्यधिक लज्जाजनक बात है। केवल पूजा-पाठ या शारीरिक तपस्या या सिद्धियों की प्रशंसा वर्षों से चल रही हैं। वह अब भी हैं। राम के बदले दाम और व्यक्तिगत नाम तथा पद की चाहना और पूजा आज भी हो रही है।

हमारी शिक्षा प्रणाली में ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन अनिवार्य है, जो हिन्दू सभ्यता को योगिक और ब्रह्माकार वृत्ति की दिशा में अग्रसर करे। इस दिशा में कोई प्रयत्न अभी

तक नहीं हुआ है । अपितु हम लोग बन्दर की तरह अभी तक ब्रिटिश तथा अमरीकन सभ्यता का अन्धानुकरण करते चले जा रहे हैं । मम्मी, पापा हमारे घरों में प्रविष्ट हो गये हैं । अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य ढंग की वेश-भूषा का महत्त्व दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है । इस पतन को रोकना है । यदि दूसरी जातियों के संगठन से हमको कुछ खतरा है तो इसी कारण है ।

ईश्वर की अनुकम्पा से विगत एक शताब्दी से हमारे देश के कर्णधार ब्रिटिश जाति के रहे । वे शोषण करने वाले पूँजीपति होते हुए भी गुण-ग्राहक थे, मैक्समूलर तथा श्रीमती ऐनीबेसेन्ट ने हमारे यौगिक, नैतिक, धार्मिक गुणों से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता का गौरव बढ़ाया । ब्रिटिश जाति स्वयं स्वतंत्रता की प्रेमी रही है । उनके इतिहास से हमने स्वतंत्रता के गुण समझे । उसके बाद अपनी जनसंख्या के कम होने के कारण वे हमको आंग्लभाषा की शिक्षा देकर बड़े-बड़े पदों के लिए तथा प्रजातंत्र के लिए तैयार करते रहे । इस प्रकार भारतीय सभ्यता का साहस बढ़ता रहा, परन्तु अब हमको भाग्यवश एक नया कर्तव्य मिला है ।

सम्पूर्ण मनुष्य जाति का हितैषी ब्रह्माकार वृत्ति के प्रति मार्ग-दर्शन करना है, ताकि मनुष्य के जीवन की चिन्ताएँ मिटें, मजहबों के झगड़े हटें, राजनीतिक अणुयुद्धों के भय से बचें । इसलिए मेरा नम्र निवेदन यह है कि केवल हिन्दू-धर्म के संगठन के बदले हम लोग सर्वहितैषी योग या ब्रह्माकार वृत्ति को अपना लक्ष्य बनायें; पहले अपने देश में, उसके पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में उसके धुँआधार प्रचार का प्रबन्ध करें ।

केवल एक बात रह गई कि अपने देश में जातियों तथा सम्प्रदायों के झगड़े आये दिन होते रहते हैं । साधारण मान्यताओं पर, जैसे गंगाजल या गाय को आदरणीय माना जाय कि नहीं, सुअर का गोश्त खाया जाय कि नहीं, मसजिद के सामने संगीत होना चाहिए कि नहीं, प्रार्थना किस आसन से तथा किस दिशा में की जाय, ये सब पुरातन कट्टरपंथी मान्यतायें हो गईं हैं । हिन्दू जाति भी ऐसी मान्यताओं, भ्रम एवं अन्धविश्वासों से मुक्त नहीं है । मेरा नम्र निवेदन यह है कि ऐसी मान्यताओं को वैज्ञानिक शोध की कसौटी पर हमेशा जाँचा जाय । औरों को नहीं, योग की युक्तियों का प्रभाव और उसकी प्रशस्ति तो सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो गयी है । उसी प्रकार विज्ञान की प्रशंसा भी अब काफी फैल गयी है ।

आज के इस वैज्ञानिक युग में वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख तथा कट्टरपंथी होगा जो वैज्ञानिक तथ्यों को न मानेगा । केवल पुरातन बातों को आँखें मूँदकर मानना बुद्धिमानी नहीं है । इसी प्रकार जब तक ज्योतिष वैज्ञानिक रूप से सत्य न निकले तब तक केवल व्यावसायिक हाथ देखने वाले, भविष्य बतलाने वाले लुटेरों के हाथ में न फँसे । प्रत्येक कार्य को करने के लिए शुभ मुहूर्त न खोजें, अमुक दिशा में अमुक दिन यात्रा के लिए शुभ न होगा, ऐसा न समझें । प्रत्येक पुरातन मान्यता को वैज्ञानिक कसौटी पर जाँचते रहें । जहाँ विज्ञान अभी तक कोई निश्चय नहीं दे सका वहाँ निःसन्देह पुरातन मान्यताओं को मानें उसके आगे नहीं ।

सन्दर्भ—

१. स्वामी गीतानन्द की पोथी-पातञ्जल योग का संयम, पृ० ८५

—:o:—

फैजाबाद जनपद का एक स्वल्प चर्चित प्रेमाख्यान

(शेखनिसार और उनकी यूसुफ जुलेखा)

डॉ० शिवबालक शुक्ल

कविपरिचय—

जलालुद्दीन रूमी फारसी मसनवी ग्रन्थ के कृती कलाकार हुए है उनकी वंश परम्परा के शेख हबीबुल्लाह ने अकबर के राज्यकाल में दिल्ली की ओर से आकर 'मङ्गलसी' परगना (जि० फैजाबाद) में शेखपुर नामक एक गाँव बसाया और वहाँ वे बीस वर्ष रहे। इनके पुत्र थे शेख मुहम्मद, पौत्र गुलाम मुहम्मद तथा प्रपौत्र गुलाम अशरफ। यह प्रपौत्र ही काव्य जगत् में 'शेख निसार' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1] शेखों की बस्ती की अधिकता के कारण श्री सत्यजीवन वर्मा ने शेख निसार का अभिजन आधुनिक शेखपुरा (जि० रायबरेली) ठहराया था परन्तु अन्तः साक्ष्य तथा अनुश्रुतियाँ 'निसार' को आधुनिक 'शेखपुर जफर' का निवासी प्रमाणित करती हैं। श्री गोपाल चन्द्र सिनहा (तब जुडिशियल सर्विस) की कृपा से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उन्हीं की उद्धरणी पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने 'सूफी काव्य संग्रह' में दी है। 'मेहर निसार' में निसार ने लिखा है—

अवध रुदौली के मझठाँवा, शेखपूर अतिसुन्दर गावाँ।

इमली का वृक्ष 'निसार' के मकान के निकट है। फारसी ग्रन्थ 'मकसूद नजात' के लेखक सैयद मुख्तार, निसार–पुत्र मोहम्मद शरीफ की नातिन के पुत्र थे, जो सोहावल[3], रुदौली स्टेशनों के मध्य स्थित 'बड़ागाँव' में रहते थे। शेखपुर से सम्बद्ध अन्तः साक्ष्य उसकी अयोध्या एवं रुदौली (जि० बाराबङ्की) के बीच की स्थिति इस बात की पुष्ट प्रमाण है कि यह गाँव वही है। शेखपुर में जफर का योग गाँव के इतिहास से मेल खाता है। 'इकरार मालिकान' 'शजरा नसब मालिकान आदि वहिःसाक्ष्य भी शेख निसार के गाँव की उक्त स्थिति के पक्ष में है। गांव के नीमवृक्ष के नीचे निसार के पिता, भाइयों की समाधियाँ, ग्रामीणों द्वारा शेख निसार की चर्चा कवि को शेखपुर-वास्तव्य प्रमाणित करती है।

'यूसुफ जुलेखा' के अतिरिक्त शेखनिसार ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जो उनके वैदुष्य के परिचायक हैं। वे ग्रन्थ ये हैं—

मेहर निसार, रस मनोज, दीवान, अहसन जौहर, स्रोदी, नस्र तथा नस्राव।

ग्रन्थ–परिचय

प्राप्ति स्थान, रचना-काल तथा सम सामयिक स्थिति—

लेखक को 'यूसुफ जुलेखा' की १९०१ की प्रतिलिपि श्री गोपालचन्द्र सिनहा (तब

जुडीशियल सर्विस, मथुरा) के पास से प्राप्त हुई थी। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने ५७ वर्ष की अवस्था में ७ दिन में हिज्री सन् १२०५ दुर्मत नामक संवत् १८२७ (शाके १७१२) में की थी। ग्रन्थारम्भ में शाहआलम के राज्यकाल की दुरवस्था, कादिरखाँ सहेले का अनय, बादशाह की आंखे फुड़वाना, राजकुमार–राजकुमारियों के कष्ट देने के उल्लेख के साथ अवध के नवाब आसफुद्दौला तथा उसके हिन्दू मन्त्री की प्रशस्ति वर्णित है। कथा-श्रवण का माहात्म्य भी कवि ने बताया है।

प्रणयन-प्रेरणा—

'यूसुफ जुलेखा' २२ वर्षीय लतीफ नामक पुत्र से वियुक्त निसार की 'आह से उपजा गान' है जिसमें याकूब के ममतालु पिता का करुण रुदन मुखर है।

क्योंकि इस ग्रन्थ की कथावस्तु डा० सरला शुक्ल दे चुकी हैं, अतः यहाँ उसका पिष्ट-पेषण अनावश्यक समझकर ग्रन्थ की विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

कथासूत्र, उपबृंहण और उसका महत्त्व–

'यूसुफ जुलेखा' की कथा का आदि स्त्रोत कुरान मजीद है, जिसमें कथा अति संक्षेप में वर्णित है।[4] निसार ने कथा में कुरान–वर्णित सत्यप्रियता, सच्चरित्रता तथा एकेश्वरोपसना के महत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए उसमें सरलता का सन्चार कर दिया है। कुरान के रेखाचित्र में रंगभरते हुए सहृदय निसार ने मार्मिक स्थलों पर वेदनाभ्यथित मर्म की पीड़ा को व्यक्त किया है। पुत्र-विरहित याकूब, मातृभक्त यूसुफ प्रिय–वियोग में विशीर्णा जुलेखा के चित्र दो-चार अर्द्धालियों के आवार-फलक पर सावधानी के साथ उरेहे गये हैं। जुलेखा की तरुणावस्था शिखनख, जुलेखा का पूर्वराग, अजीज (मिश्र देश के सुलतान का सचिव) और जुलेखा–विवाह, सतीत्व एवं यूसुफ के प्रति अटूट प्रेम-रक्षण, जुलेखा का अन्धत्त्व, यूसुफ-सौन्दर्य पर मुग्ध बाटिका में स्थित नायिकाएँ, प्रिय-प्रेमी-निधन आदि प्रसङ्ग अनुरूप रसों में स्नात हैं। कुरान में जुलेखा ने प्रीतिभोज में मेवे रखे हैं। निसार तरबूज की बात करते हैं जो ऊँट के जहाज होने की भाँति मरुस्थल का मेवा हो सकता है। बादशाह ने कहा "मैं देखता हूँ कि सात मोटी गायें हैं जिनको सात दुबली गायें खाती हैं।[5] डा० सरला शुक्ल ने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र बाल शब्द दिया है जो द्वयर्थकता के कारण भ्रामक है। बकारतिन का अर्थ गायें तथा सुमबुलातिन का बाले है।[6] स्वप्न का अर्थ हुआ, सप्तवर्षीय सुकाल, फिर सप्तवर्षीय दुर्भिक्ष। यह विवरण कवि ने नहीं दिया है।

यद्यपि निसार को जामीकृत 'यूसुफ जुलेखा' से भी पर्याप्त सहायता मिली है फिर भी कवि ने कथानक में जो मोड़ दिये हैं उनसे कथा-सौन्दर्य बढ़ गया है। ग्रन्थ में पार्थिव प्रेम को पारमार्थिक प्रेम की प्राप्ति का साधन सिद्ध किया गया है। कुरान की जुलेखा दुश्चरित्र ख्वाहिशा के रूप में चित्रित है और प्रेम के निम्न धरातल पर ही घूमती फिरती हैं। निसार की जुलेखा अपने प्रिय को प्राप्त करने के सम्भावित साधनों को समवेत करती है। राजकुमारी का विवाह एक मन्त्री के साथ हो, नारियों के बीच वह पुंश्चली प्रमाणित हो, पति द्वारा परित्यक्ता हो, क्यों? इसीलिए न, कि उसे गोपाङ्गनाओं की भाँति किसी न किसी प्रकार प्रिय-मिलन की कामना थी। वे आसन, प्राणायाम से लेकर आर्यपथ से विचलित होकर कृष्ण से मिलकर 'तञ्जारमिव' को चरितार्थ करना

चाहती थी, और यह तो दूसरे को मन से बिठा ही न सकी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन्त्री के साथ विवाहित होने पर भी यूसुफ हेतु वह परकीया नहीं रही। हिन्दी कवियों द्वारा वर्णित विविध नायिकाओं में भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' की भाँति उसकी भी एक विशिष्ट कक्षा है, जो स्वकीया, परकीया प्रभृति नायिका-मण्डल से अलग, किन्तु निकट ही अरुन्धती की भाँति अपने भास्वर चरित्र से उद्भासित है, और यूसुफ कल्पित प्रेमियों की भाँति न समुद्र-संतरण करते हैं और न किसी राजा से संग्राम ही। विपत्तियों के बवण्डर से निकलकर किसी सुन्दरी के सहज अप्रत्याशित प्रेम का दान पाकर सामान्य मानव का चपल चित्त डिग सकता था। परन्तु यूसुफ का मन ध्रुव की भाँति अटल रहा। १४ वर्ष के ही वियोग में गुप्त जी की उर्मिला ने यौवन गत उन्माद का पश्चाताप किया था।[7] किन्तु निसार की जुलेखा ने जीवन को तप ही समझा। मिलन-बेला में वह लौकिक प्रेमवासना की भावभूमि से ऊँची उठकर ईश्वरीय प्रेम के स्वर्ग में पहुँच चुकी थी। 'यूसुफ जुलेखा' के दूसरे आधार जामी के ग्रन्थ का प्रभाव द्रष्टव्य है।

प्रेम दर्शन—

उपर्युक्त विवेचन से यूसुफ जुलेखा की चारित्रिक विशेषताओं के साथ निसार की प्रेमपद्धति का स्थूल संकेत भी मिलता है। निसार का प्रेम सम्बन्धी-विचार अन्य सूफी प्रेमाख्यानकारों से अलग हैं। यूसुफ का एक पत्नीव्रती होना आर्य जादर्शों की संगति में है। राम और सीता की भाँति यूसुफ तथा जुलेखा के जीवन का विपुलांश वियोग में ही बीता है। जुलेखा के लौकिक आराध्य ने अपने रूप-लावण्य द्वारा उसे परम ज्योति के दर्शन करा दिये। पार्थिव प्रेम के 'श्रान्त भवन' में न टिककर 'अनन्त पथ पर' चलने के कारण उसे अन्तिम मञ्जिल मिल गयी। उसकी सगुणोपासना ने ही अलख से उसे मिला दिया—

मैं बिरथा यह जनम गवांवा,प्रेम विपत मानुख सो लावा।
काहे न प्रेम अलख ते लाऊँ, जेहि ते मोख भुगत पुन पाऊँ।

यूसुफ के प्रति याकूब का प्रेम सामान्य पुत्र-प्रेम नहीं है। यदि ऐसा होता तो १२ पुत्रों में से छोटे या बड़े के प्रश्न के बिना याकूब, यूसुफ को ही क्यों अधिक प्यार करते? कुरान पर आधृत इस कथा की तुलना यदि रामायणी कथा से की जाय तो बात स्पष्ट हो जाती है। दशरथ राम को अत्यधिक प्यार करते थे, रूप-गुण-शील-सम्पन्नता के कारण नहीं, वरन् उन्हें साक्षात् विष्णु मानकर। इस्लाम अवतार वाद में विश्वास नहीं करता, परन्तु यूसुफ का स्वप्न में ११ तारे, सूरज-चाँद को उनका सिजदा करते देखना; उन्हें इब्राहीम और इसहाक की कोटि का विवेक-वरिष्ठ, शील-सम्पन्न तथा अल्लाह का नुमाइंदा[8] (चुना हुआ) प्रमाणित करता है।

बस्न याकूब का यूसुफ के प्रति प्रेम, दशरथ की भगवान् के प्रति वात्सल्य भक्ति की भाँति महत्त्वपूर्ण है। निसार ने सूर की यशोदा की भाँति याकूब को वात्सल्य के संयोग और वियोग उभय पक्षों में रखा है। यों तो यूसुफ-जुलेखा के प्रेम में भी सामान्य प्रेमकथाओं जैसी ऐन्द्रियोपभोग की कामना नहीं है फिर भी यूसुफ-याकूब (पिता-पुत्र) के बीच का प्रेम तो नितान्त शुद्ध भाव ही है। माता की समाधि पर आँसू गिराने वाले जिस पुत्र ने समाधि को हिला दिया, क्रूर दास-क्रेता को करुणार्द्र बना दिया, अन्धकार, आँधी और बिजली का आमन्त्रण कर लिया,[9] उसी असाधारण बच्चे को मासूम समझकर दशरथ की भाँति याकूब का प्रेम-पेलब पिता प्राण तो नहीं, नेत्र अवश्य खो बैठता है। भरत

ने भाई के हेतु नन्दिग्राम में वास किया और याकूब ने पुत्र के लिए रोदन-भवन में निवास। शङ्का, चिन्ता आदि सञ्चारियों के बीच स्मरण-गुण-कथन-पूर्ण उसका विलाप हृदय द्रावक है—

कहाँ प्रान तोहि भाइन डारा, कहाँ छाड़ आये बेटारा।
केहि दिसि जाऊँ कहाँ तोहि हेरूँ, कोने बाट नाम कहि टेरूँ।
एक घड़ी जो दरसन पावौ, रोवत फिरौ चहूँ दिसिधावौं।

और भी—

केहि सो साँझ लै हियै लगाउब,मोर होत कहिलाल लड़ाउब।
केहि के सुनब मधुरख बाता, केहिकर हिये लगाउब गाता।

—पृ० ४१—४२

कवि ने ईश्वरोन्मुख प्रेम का महत्त्व सुढङ्ग से प्रतिपादित किया है। भगवान् जन-अभिमान को अविलम्ब दूर कर देते हैं। भारतीय भक्ति परम्परा में नारद इसके उदाहरण है।[10] पुत्र-प्रेम में अन्ध याकूब ईश्वर को भूलकर पुत्र-वियोग में तड़पे और रूप गर्वोन्मत्त यूसुफ को दास बनना पड़ा। आस्तिकता और कर्मवाद भी निसार के प्रेम-दर्शन में समाहित है। जुलेखा की वियोग कथा में भारतीय जीवन की सुन्दर झलक है, फिर भी कवि शामी पर्यावरण से अपने को बचा नहीं सका। यदि जुलेखा एक ओर यक्ष की भाँति पवन से मनुहार करती है—

मारुत सदा करहु परवेसा, फिरहु रात दिन देस विदेसा।
कवन ठावँ जहँ तुम नहि जाहू, काटउ मोर विरह अवगाहू।
जाउँ जहाँ वह प्रीतम प्यारा, कहाँ जाइ दुखदरद हमारा।

तो दूसरी ओर सूफी नायिकाओं की भाँति रक्त के आसूँ भी गिराती है—

परइ जो आँसू भूमि पर टूटी, रेंगि चली जसबीर वहूटी।

भाषा और छन्द—

कवि ने यद्यपि प्रमुख रूप से अवधी भाषा का ही प्रयोग किया है, परन्तु दोहा-चौपाई के अतिरिक्त सवैया, सोरठा आदि छन्दों में ब्रजी का पुट भी सम्मिलित है। छन्दों में मात्राओं की कमी भी दिखायी देती है। च्युत संस्कृति-दोष भी एक पंक्ति में देखिये—

सूखि समुद्र गये रवि तेज, सूखि गये सरिता जल धारी।

उपसंहार—

नसीर पर जायसी की स्पष्ट छाप है। नायिकाओं के भेद-प्रभेद, राग-रागनियों के प्रकार और गान जन्य-प्रभाव, पुष्पों की नामावलि आदि पद्मावत के काँटे की है। वस्तुवर्णना, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि परम्परामुक्त हैं। कहीं पर 'भिन देश बास हमारी' में च्युत सांस्कृतिक दोष, तो कहीं 'राव रङ्क जोगी जती सती रङ्क औ भूप' में पुनरुक्ति-दोष अखर जाते हैं। अन्य सूफी प्रेम–कथाओं से दो गुण इसमें विशेष हैं। प्रथम आधिकारिक कथा के साथ इसमें प्रासङ्गिक कथाएँ नहीं हैं, जिससे प्रमुख कथा की धारा अप्रतिहत रहती है, द्वितीय नायक में मात्र आदर्श, प्रेमी ही नहीं, सच्चे सुपुत्र और सुबन्धु के गुण भी विद्यमान हैं तथा तृतीय यूसुफ स्वयं ईश्वर न होकर उसकी सुन्दरतम सृष्टि है और उसकी प्राप्ति का सुन्दर साधन।

सन्दर्भ—

१- शेखपूर अति गाँव सुहावा, शेख निसार (ठाँव) तहँ पावा ।
शेख हबीबुल्लाह सोहाये, शेखपूर जिन आनि बसाये ।
औ वह देस सबै होइ आये, बीस बरस तँह रहे सोहाये ।
तेहि के शेख मोहम्मद बारा, ...
ता सुत गुलाम मोहम्मद नाऊँ, सो मम पिता औ ताकर गाऊँ ।
ऊँ बिली बिरछ न जाइ बखाना, द्वारे पर जस तँबुआ ताना ।
बंस जलालुद्दीन के शेख हबीबुल्लाह ।
जेहिक मसनवी जगत मँह, अगम निगम अवगात ।।
—श्री गोपालचन्द्र सिनहा की उर्दू की हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ११

२- वही, पृष्ठ २७५

३- डॉ० सरला शुक्ल : जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य पृष्ठ ५०८

४- कुरान मजीद मय तरजुमा : सूर ए यूसुफ मक्की, रूकू १२ आयत १११ पृष्ठ ३८६–४०७
तकसीर वाजेउल कुरान शाह अब्दुल कादिर साहब अदस देहलवी : ताज कम्पनी लिमिटेड कुरान मंजिल, लाहौर ।

५- वकालत मालिको इमनी अरा सबआ वकारतिन तिमानों या कुलो हुन्ना ।
सब ओन इजाफूं व सबआ सुमबुलातिन खुजरिहव उखारा या बिसात— वही, १२ सूरा वही, रूकू ५, आयत ४२

६- जायसी के परवर्ती सूफी कवि और काव्य, पृष्ठ ५१४

७- पर, यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं— साकेत

८- कुरान मजीद मय तर्जुमा, पृष्ठ ३८६-३८७

९- काँपै गौर औंर यूसुफ रोवा, चाहै प्राण गौर पर सोवा ।
आँधी उठी भया अँधियारा, सूझ पड़ी नहिं हाथ पसारा ।

१०- नारद को नारी रूप में पुत्र–पौत्रों के सुख-दुःख आदि नाना जागतिक प्रपञ्चों की अनुभूति हुई थी । —देवी भागवत

—:०—

कला का प्राण—'रस'

श्रीमती क्षमा उपाध्याय

कलाकार की सृष्टि का मूल आनन्द से आरम्भ होता है और उसका परिपाक लोक-कल्याण या लोक-रञ्जन में होता है। इस प्रकार इस सृष्टि का आदि-अन्त, अन्तः-बाह्य सभी कुछ एक दिव्य रस से ओत-प्रोत है। यही रस, एक ऐसा आधार, पृष्ठभूमि या कसौटी है जिसके आधार पर भारतीय कला या चित्रकला की सच्ची मीमाँसा की जा सकती है। कारण, भारतीय संस्कृति के आरम्भिक काल से ही कला का प्रधान उद्देश्य इसी दिव्यरस का दोहन रहा है। 'रसो वै सः' 'रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः,' "रसोऽयमात्मा,' आदि वैदिक वाक्य इसी मत की पुष्टि करते हैं। कला मर्मज्ञ डा०वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में जिस जगह रस, प्राण और श्री तीनों एकत्र रहते हैं वहीं कला रहती है। एक अखण्ड रस सृष्टि में सर्वत्र ओत-प्रोत है। उसके मधुर सरोवर शत-सहस्र संख्या में चारों ओर भरे हुए हैं। उनसे रसानुभव के लिये प्राण सदा उत्सुक रहता है। प्राण को रस अत्यन्त प्रिय है। रस की दुर्धर्ष धारायें जब प्रकट होती हैं, प्राण तृप्त होता है। रस के अनुभव के अनेक स्रोत हैं। रूप की शोभा, चरित्र, ज्ञान आदि रस-ग्रहण के अनेक स्तन हैं। कला और साहित्य भी रसानुभव का एक अत्यन्त प्रिय द्वार है। जिस युग को कला की क्षीर-धात्री प्राप्त होती है वह युग रस से धन्य हो जाता है। कला के अंक में पोषित समाज को सृष्टि सम्बन्धी श्री, प्राण और रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त होता है।[1]

'रस' शब्द : अर्थ और विकास—

आज हम अपने व्यावहारिक जीवन में 'रस' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं, यथा १– मधुर पेय, २– पदार्थ विशेष का रस, ३– व्यञ्जनों का स्वाद या रस, ४– आयुर्वेद का रस, ५– कला या साहित्य का रस और इसी से मिलता जुलता है ६– मोक्ष या भक्ति रस। व्यापक अवलोकन के आधार पर रस शब्द के विभिन्न प्रयोगों के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक 'विश्वकोष' में पाया जाता है :

> रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।
> श्रृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बपारदे ॥

मधुर पेय किसी मधुर स्वाद-वस्तु के मिश्रण से बनाया जाता है। पदार्थ-रस किसी वनस्पति या पदार्थ को निचोड़कर तैयार किया जाता है, जिसमें पदार्थ का सार और किसी न किसी प्रकार का स्वाद भी होता है। आयुर्वैदिक रस, पदार्थ-रस होने के साथ विशेष गुण या शक्ति से युक्त होता है। आयुर्वेद में रस को देह-धातु भी कहते हैं। यह धातु शरीर में अन्तर्भूत ग्रन्थियों का रस है, जिस पर शरीर का विकास निर्भर करता है। यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। कला और काव्य में रस को दो रूपों में देखा जा सकता है—१– कला या काव्य का सौन्दर्य २– काव्यास्वाद तथा काव्यानन्द। मोक्षरस या आत्मरस को ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द भी कहते हैं। मोक्षरस और

भक्तिरस में सैद्धान्तिक भेद पाया जाता है, किन्तु अपने मूल में भक्तिरस वही है जो मोक्षरस है। उपर्युक्त रस के सभी अर्थों में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में आस्वाद, सार अथवा प्राण तत्त्व के भाव अवश्य पाये जाते हैं।

'रस' शब्द की परम्परा—

भारतीय वाङ्मय के इतिहास में रस-सिद्धान्त की व्यवस्थित स्थापना का श्रेय 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि को प्राप्त होने पर भी रस-चिन्तन की परम्परा वैदिक युग तक पहुँचती है।[2] ऋग्वेद में 'रस' शब्द का प्रयोग पदार्थों के सारभूत द्रव के रूपमें बड़ी स्पष्टता के साथ किया गया है-

'महे यत्पित्र ईं रसं दिवे करवत्सरत्……'।[3]

अर्थात् जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हव्यरूप में रस प्रदान करता है।

'यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां पयस्तनूनाम्'।[4]

हे अग्नि, जो हमारे अन्न का रस (सार) विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वों, गायों और सन्तानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है……।

इसी प्रकार—

'जन्मे रसस्य वावृधे'। ऋग्० १–३७–५

'स्वादू रसो मधु पेयो वराय'। ऋग्० ६–४४–२१

रस के विभिन्न अर्थों के दृष्टिकोण से ऋग्वेद में आर्यों के प्रिय पेय सोमरस का चामत्कारिक वर्णन अपना अलग महत्त्व रखता है—

'तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देव–वीतये।
सुतं भराय संसृज'।[5]

देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुत और अभीष्टवर्षक सोमरस में गव्य मिलाओ।

'सोमो अर्वति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसं।
सुवीरो 'अभिशस्तिपा :'।[6]

संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक ऋषि वाणी के चामत्कारिक मधुर रस से पूर्ण परिचित थे। वे वाणी के अलौकिक रस का स्वयं पान करते थे और अपने इष्ट देवों को बड़ी श्रद्धा के साथ इसे समर्पित करते थे।

'यः पावमानी-रध्येत्यृषिभिः संभृतं रसं।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वादितं मातरिश्वना।
……तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरम्'।[7]

…जो पवमान ऋचाओं के रूप में ऋषियों द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है वह पवित्र एवं स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लेता है…उसके लिए सरस्वती क्षीर आदि का दोहन करती हैं।

'वचः स्वादो स्वादीयो रुद्रायवर्धनम्'।[8]

रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत)······

'मध्व ऊषु मधुन्युवा रुद्रा सिषवित पिप्युषी '।[9]

मधुप्रेमी रुद्रगण ! मधुवर्षिणी वह (वाक्) तुम्हारे लिए प्रस्तुत है·····'पिवत्वस्य गीर्वाणः'। हे गीत रसिक देव ! तू इस (गीत के रस) का पान कर।

अथर्ववेद में तो रस का स्वरूप ब्रह्म के समान ही वर्णित किया गया है -

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥[10]

अर्थात् अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय में भी न्यून नहीं है, धीर सदा तरुण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट भासित होता है कि वैदिक ऋचाओं में ही रस शब्द का प्रयोग द्रव्य-रस या पदार्थ-रस से आरम्भ होकर वाणी के रस से होता हुआ आत्म-रस या ब्रह्म-रस तक पहुँच जाता है। यहाँ डा० नगेन्द्र के विचार अवलोकनीय हैं–

"रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रव्यरूप बनस्पति-सार ही था। यह द्रव्य निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था; अतएव 'आस्वाद' रूप में भी रस का अर्थ–विकास स्वतः ही हो गया। सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अन्त में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया— वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणित हो गया।"[11]

वैदिक युग के अन्तिम चरण उपनिषत्काल में सामान्य रूप से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का प्राधान्य होता गया, जिसके कारण रस के अर्थ में अनेक सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश होने लगा। परिणाम यह हुआ कि उपनिषदों में 'रस' शब्द का प्रयोग पदार्थ-रस के अर्थ में बहुत कम पाया जाता है; पर द्रव्य की पोषक शक्ति, द्रव्य के आस्वाद एवं द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है—

'ओषधीभ्यो अन्नं। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।[12]

औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष शरीर उत्पन्न हुआ। यह पुरुष शरीर अन्न रस मय है।

यहाँ रस का प्रयोग स्पष्ट रूप से द्रव्य जन्य देह-धातु और शक्ति आदि के लिए किया गया है। इस प्रकार यहाँ रस शब्द प्राकृतिक रस की अपेक्षा आयुर्वेदिक रस (देह-धातु) के भाव के अधिक समीप पहुँच गया है। उपनिषदों में रस शब्द का प्रयोग तन्मात्रा के लिए भी किया गया है, जो द्रव्य अथवा द्रव्य जन्य ऊर्जा से अधिक सूक्ष्म तत्त्व है।

'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्' ॥[13]

रूप रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान या अनुभव उसी आत्मा के द्वारा होता है। यदि वह न रहे तो क्या कुछ बच जाता है! यहाँ पर रस शब्द का अर्थ रस तन्मात्रा है, जो

प्रकृति का सूक्ष्म तत्त्व है और बाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय का विषय माना जाता है।

तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदों में तो 'रस' शब्द भौतिक सीमा पार करके आध्यात्मिक सीमा में प्रवेश कर गया है—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'।[14]

वह (ब्रह्म) रस रूप है। इसीलिए यह (जीवात्मा) रस को प्राप्त करके आनन्दमग्न हो जाता है।

'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पआकाशात्मा
सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ... ...'।[15]

वह ब्रह्म मनोमय है, प्राण शरीर है, प्रकाश रूप है, सत्य संकल्प है, आकाश उसका आत्मा है, वह सर्वकर्म समर्थ है, पूर्णकाम सर्वगन्ध और सर्वरस है।

उपनिषद् काल के पश्चात् रामायण-महाभारत-काल में रस के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। रामायण में रस का प्रयोग जीवन-रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है। हाँ, 'वाल्मीकि–रामायण' के प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में नव रस का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

'रसैः श्रृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतद्गायताम्'॥[16]

परन्तु अधिकाँश विद्वान् बालकाण्ड के इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं, क्योंकि किसी प्रामाणिक संस्करण में ये श्लोक नहीं पाये जाते। महाभारत में भी रस का प्रयोग जल, सुरा, पेय, गन्ध आदि अर्थों में ही किया गया है। दो एक स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग काम और स्नेह के अर्थ में भी किया गया है।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव—

ईसा से छठीं शताब्दी पूर्व से लेकर ईसा की छठीं शताब्दी तक भारतीय वाङ्मय का युग सूत्रकाल कहलाता है, क्योंकि इसी अवधि में सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ था। वात्स्यायन का 'काम सूत्र' इसी काल का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० पू० चौथी शती के लगभग माना जाता है। इस ग्रन्थ का प्रसिद्ध संस्करण, जय मङ्गला टीका सहित, इस समय प्राप्त है। उसमें रस शब्द का प्रयोग रति, प्रीतिभाव, राग, वेग आदि कई अर्थों में किया गया है—

'रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।
शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः'।[17]

इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर रस शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से शास्त्रीय अर्थ में किया गया है—

'तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्'।[18]

इससूत्र की व्याख्या जयमङ्गला टीका में इस प्रकार है—

'नायकस्य श्रृङ्गारादिषु य इष्टो रसो भावः स्थायिसञ्चारिसात्त्विकेषु लीला चेष्टितानि तेषामनु

वर्तनम्' ।

अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय शृङ्गारादि रस और स्थायी, संचारी आदि भावों का है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव वात्स्यायन के युग में या उनसे कुछ पहले ही हो गया होगा । इसके पश्चात् इस अर्थ का प्रचुर प्रचार और विकास होने लगा होगा । इसीलिए 'कामसूत्र' के दो-तीन शती पश्चात् की रचना 'भरत सूत्र' में रस-सिद्धान्त की व्याख्या साङ्गोपाङ्ग एवं समृद्ध रूपमें पायी जाती है । भरत के 'नाट्य शास्त्र' के प्रचलित संस्करण के छठें और सातवें अध्यायों में रस-भावादि का विस्तार से वर्णन किया गया है । भरत का रस-विवेचन इतना विशद एवं साँगोपाङ्ग है कि इस नाट्य शास्त्र में प्रायः सम्पूर्ण रस-सामग्री यथास्थान प्राप्त हो जाती है । अस्तु; कोहल, शाण्डिल्य, वत्स्य आदि भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों से रस-चिन्तन की परम्परा चली आ रही है ।[19]

वस्तुतः भरतमुनि नाटक को वाङ्मय का सर्व श्रेष्ठ रूप मानते हैं और नाटक का प्राण रस को मानते हैं—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥[20]

अर्थात् नाट्यशास्त्र नामक इस पञ्चमवेद में पाठ्यतत्त्व (वस्तुतत्त्व) ऋग्वेद से, संगीत (गीत, नृत्य आदि) सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से और रस-तत्त्व अथर्ववेद से लिया गया है।

'तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः । न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' ।
(नाट्यशास्त्र, अ० ६, कारिका ३१ का परवर्ती-गद्यभाग)

उनमें सबसे पहले रसों का विशेष व्याख्यान करेंगे क्योंकि रस के बिना कोई अन्य (नाट्यांग रूप) अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

'नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्' ॥ नाट्य०१.११२

मेरे द्वारा रचित यह नाट्य नाना प्रकार के भावों से सम्बन्धित है, इसमें विविध प्रकार की अवस्थाओं का समावेश है और यह लोक–चरित का अनुकरण करता है ।

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' ।[21]

नाट्य, त्रैलोक्य के समस्त भावों का अनुकीर्तन करता है ।

इसी प्रकार 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' भी रस-सिद्धान्त के साङ्गोपाङ्ग विवेचन के लिए 'त्रैलोक्यानुकृति' की बात कहता है और इसके लिए नृत्त, चित्र और प्रतिमान तीन प्रकार के माध्यमों का विस्तृत उपयोग करता है ।

'यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता' ॥[22]

सन्दर्भ—

१- वासुदेवशरण अग्रवाल, 'कलानिधि', प्रथम अंक, पृष्ठ ९, भारतकलाभवन, वाराणसी ।
२- डा० गणपति चन्द्र गुप्त,–रससिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ० १४
३- ऋग्वेद, १–७१–५

४- ऋग्वेद, ७–१०४–१०
५- वही, ९–६–६
६- वही, ९–२३–५
७- वही, ९–६३–३१–३२
८- वही, १–११४–६
९- वही, ५–७३–८
१०- अथर्ववेद, १०–५–४४
११- डा० नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, पृ० ४
१२- तैत्तिरीय उपनिषद्, २—१ (क)
१३- कठोपनिषद् २, ३
१४- तैत्तिरीय उपनिषद्, २—७
१५- छान्दोग्य उप०, ३–२
१६- वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, चतुर्थ सर्ग, श्लोक ९
१७- कामसूत्र, २–१–६५; २–२–३२
१८- वही, ६–२, ३५
१९- डा० गणपतिचन्द्र गुप्त, रस सिद्धान्त की भारतीय परम्परा, पृ० १५
२०- नाट्यशास्त्र, १.१७
२१- वही, १–१०७
२२- वि० ध० पु०, तृतीय-खण्ड, 'चित्रसूत्र', अ० ४२, श्लो० ५

—:o:—

ठक्-ठिकण् की वैज्ञानिकता

डॉ० दामोदर महतो

संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में अष्टाध्यायी का अपना अलग महत्त्व है । पाणिनि ने सूत्र-
निर्माण एवं प्रत्यय के स्वरूप-निर्माण के सन्दर्भ में एक-एक शब्द एवं एक-एक वर्ण को छाना-
पहचाना; तब विश्वस्त होकर उनका प्रयोग किया । सूत्र-निर्माण के क्रम में सूत्र-निर्माता कुछ
कल्पित चिह्नों का प्रयोग करते हैं अथवा मानक वर्णों का । प्रस्तुत विषय में दो
वैयाकरणों के अपत्यार्थक तद्धित प्रत्यय के सन्दर्भ में प्रयुक्त उपर्युक्त प्रत्यय पर संक्षिप्त विचार
किया गया है । वे वैयाकरण हैं–आचार्य पाणिनि एवं परवर्ती वैयाकरण पद्मनाभदत्त । इनके
व्याकरण क्रमशः 'अष्टाध्यायी' एवं 'सौपद्म व्याकरण' हैं ।

पाणिनि ने अपने समय में संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त 'रैवतिक' आदि शब्दों को व्युत्पन्न
करने के लिए 'रेवती' शब्द से ठक् प्रत्यय (अ० ४–१–१४६) का विधान किया है । ठक्
प्रत्यय के स्वरूप–निर्माण करने में पाणिनि को इष्ट है 'रेवती' शब्द के आदि अच् की वृद्धि
एवं आदिष्ट रूप 'इक' की प्राप्ति । इसके लिए उन्होंने ठक् प्रत्यय के अन्त्य हल् 'क' को
'हलन्त्यम'[1] सूत्र से इत्संज्ञा करके 'तस्यलोपः'[2] सूत्र से लोप किया है। फलतः यह प्रत्यय 'कित्'
प्रत्यय कहलाया और चूँकि तद्धित के प्रसंग में उक्त हुआ है, एतदर्थ 'किति च'[3] सूत्र से
आदि अच् की वृद्धि भी हो गई । यों पाणिनि ञित्, णित् प्रत्ययों के परे रहने पर तद्धित
के सन्दर्भ में 'तद्धितेऽचामादेः'[4] सूत्र से आदि अच् की वृद्धि करते हैं–'ञिति णिति च तद्धिते
परेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्' वैसे ही कित् प्रत्यय परे रहने पर 'किति तद्धिते च तथा' ।[6]
अब पाणिनि का सूत्र–रेवत्यादिभ्यष्ठक्'[7] सामने है–'ठक्' प्रत्यय के अनुबन्ध लोप होने पर 'ठ'
शेष रहता है । 'ठ' के लिए पाणिनि ने 'ठस्येकः'[8] से 'इक' आदेश किया है । फलतः 'रेवत्यार-
पत्यं पुमान् रैवतिकः' निष्पन्न होगा । पाणिनि का इष्ट 'रैवतिक' वर्तमान सूत्र 'रेवत्यादिभ्य-
ष्ठक्'[9] से प्राप्त होता है ।

पाणिनि के परवर्ती वैयाकरण पद्मनाभदत्त ने पाणिनि के व्याकरण को स्वीकार न
करके एक अलग व्याकरण की रचना की 'सौपद्म व्याकरण' । अपत्यार्थक तद्धित प्रत्यय के
प्रसंग में उन्होंने पाणिनि की पद्धति पर ही प्रत्ययों का निर्माण किया है । परन्तु पाणिनीय 'रेव-
त्यादिभ्यष्ठक्'[10] के लिए पद्मनाभदत्त ने 'रेवत्यादिभ्यष्ठिकण्'[14] सूत्र का निर्माण किया है ।
यहाँ विचारणीय है कि पाणिनि के 'रैवतिक' को बनाने के लिए पद्मनाभदत्त ने पाणिनीय सूत्र 'रेव
त्यादिभ्यष्ठक्' को उपयुक्त नहीं समझा होगा । तभी तो इसे इसी रूप में न लेकर 'रेवत्यादिभ्यष्ठि
कण्' रूप में बनाया । इसके पीछे उनका पाणिनीयेतर सम्प्रदाय चलाना भी इष्ट रहा होगा ।

अब सौपद्म व्याकरण के 'ठिकण्'[12] प्रत्यय पर विचार करना आवश्यक है । 'ठिकण्'
प्रत्यय के अन्त्य हल् 'ण्' को इत्संज्ञा करके लोप कर दिया जायेगा, शेष रहेगा 'ठिक' । अब

'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'[१३] से 'ई' की इत्संज्ञा होगी और 'तस्य लोपः' से लोप हो जायेगा, फलतः 'ठक्' बचेगा। ऐसी स्थिति में 'इक' की प्राप्ति कैसे होगी? यदि 'ठिक्' प्रत्यय में से 'ठ्' का 'इक' आदेश कर लें तो 'इ' के योग का औचित्य क्या है? पुनश्च 'क' का भी स्थान क्या रहेगा? अथवा 'ठ्' की ही इत्संज्ञा, लोप कर लें तो इस तरह 'इक' की प्राप्ति हो जायेगी तो ऐसी स्थिति में 'ठ्' के स्थान में कोई भी वर्ण हो सकता है- 'ठ्' की स्थिति का ही क्या औचित्य है? पाणिनि के प्रत्ययों के स्वरूप-निर्माण में एक-एक वर्ण का उतना ही महत्त्व है जितना इञ्जिन के एक-एक छोटे-से-छोटे तार का है, जिसके टूट जाने से समूची इञ्जिन ज्यों की त्यों पड़ी रह जाती है, वैसे ही एक वर्ण के योग-अयोग से परिणाम अन्यथा निकल जा सकता है।

'ठिकण्' प्रत्यय में यदि 'ठ्' को ही इल्लोप करना था तो क्यों नहीं प्रत्यय के स्वरूप-निर्माण में 'ठ्' को छोड़ दिया गया, मात्र 'इकण्' रहता तो प्रत्यय के स्वरूप में लघुता भी आती। ऐसा स्वरूप-निर्माण परवर्ती व्याकरण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' में भी मिलता है। इस तरह पद्मनाभदत्त निर्मित 'ठिकण्' प्रत्यय के स्वरूप में वह वैज्ञानिकता नहीं आ सकी जो पाणिनीय प्रत्यय 'ठक्' में दीखती है।

सन्दर्भ—

१. अष्टाध्यायी, (१-१-३)
२. वही, (१-३-९)
३. वही, (७-२-११८)
४. वही, (७-२-११७)
५. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी-पृष्ठ ११९
६. वही
७. अष्टाध्यायी, (४-१-१४६)
८. वही, (७-३-५०)
९. वही, (४-१-१४६)
१०. संख्या ९ देखें।
११. सौपद्म व्याकरण, (५-२-९६)
१२. वही, (५-२-९६)
१३. अष्टाध्यायी, (१-३-२)
१४. सिद्ध हेमशब्दानुशासन, (६-१-८६)

—:o:—

प्राचीन भारत में अप्सराओं की स्थिति

कु० आशा त्रिवेदी

अप्सराओं की महत्ता आदि काल से चली आ रही है, ये समुद्रमन्थन से निकली हुई दैवी परियाँ हैं, जो अपने नाट्य-गायन तथा सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। गोल्डस्टुकर ने अपने 'संस्कृत शब्द-कोश, में अप्सराओं का उल्लेख किया है।[1] ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में अप्सराओं का स्थान उच्चकोटि का था। वैदिक कालीन अकुलीन नारियों को अप्सरा कहा जाता था।[2]

ऋग्वेद में उर्वशी आदि अप्सराओं का उल्लेख मिलता है।[3] ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में दो अप्सराओं को 'सूक्त' की लेखिका बताया गया है। यजुर्वेद की 'वाजसनेयी संहिता' में पाँच अप्सराओं का एक साथ वर्णन मिलता है, जिसमें मेनका और उर्वशी मुख्य हैं। यजुर्वेद के अन्तर्गत सूर्यरथ के विराट वर्णन में कई अप्सराओं के नामों का उल्लेख हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' भी तत्कालीन अप्स-राओं के सौन्दर्य एवं नृत्यरत होने का उल्लेख करता है।[4]

रामायण में गन्धर्वों के साथ अप्सराओं का वर्णन मिलता है। गन्धर्व-जन वाद्य यन्त्रों से युक्त होते थे तथा उनके मध्य अप्सरायें नृत्य की भावपूर्ण मुद्रा में खड़ी होती थीं। उदाहरण स्वरूप भर-द्वाज ऋषि के आश्रम में भरत के आगमन के अवसर पर गन्धर्वों के साथ अप्सराओं के नृत्य का आयोजन किया गया था।

अप्सराओं की उत्पत्ति का वर्णन स्पष्ट रूप से कहीं नहीं मिलता है। रामायण के आधार पर गोल्डस्टुकर का यह विचार है कि जब देवताओं ने अमृत के लिए समुद्र-मन्थन किया था तभी इनका जन्म हुआ था। मनु के अनुसार सात मनुओं में से एक की सृष्टि है और वे स्वयं मनु, मरीचि, अत्रि आदि सात प्रजापतियों से उत्पन्न हुई हैं।[5]

महाभारत के 'आदिपर्व' में अप्सराओं की उत्पत्ति समस्त सृष्टि की प्रवर्तिका दक्ष की पुत्री "प्राधा", जो कश्यप ऋषि की पत्नी थीं, अप्सरा वंश की जन्मदात्री हैं, ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।

इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधेयाः परिकीर्तिताः।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥[6]

शकुन्तला ने अपने जन्म के वृत्तान्त में उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची को अप्सरा वंश का कहकर इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई है।

उर्वशीपूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसांवशः ॥[7]
तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः।
दिवः सम्प्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥[8]

अप्सराओं का निवास स्थान स्वर्गलोक बताया गया है, ब्रह्मलोक के भ्रमणार्थ वे उसका प्रयोग करती थीं। नन्दन वन अप्सराओं से युक्त होता था, ऐसा सन्दर्भ महाभारत के 'वनपर्व' में मिलता है।

नन्दनं च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥[9]

इसके अतिरिक्त वे समय-समय पर मानव लोक में पर्वत, वन, नदीतट आदि स्थानों पर गन्धर्वों तथा किन्नरों के साथ निवास करती थीं।

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम् ॥[10]

अप्सराओं का असाधारण सौन्दर्य ही गुण था। वे विशाल नितम्ब से, कम्पमान स्तनों से, कटाक्ष एवं हावभावों से तथा माधुर्य से, चित्त, बुद्धि और मन को आकर्षित करने वाली थीं। अप्सरायें नृत्य, वादन और गीत, विविध प्रकार के हास्यों से स्वर्ग में पहुँचने वाले मानवों तथा पृथ्वी पर पुण्यशाली मनुष्यों का मनोरंजन करती थीं। [11]

जिस प्रकार अप्सरायें आनन्द के अवसर पर उपस्थित होती थीं, उसी प्रकार दुःख के अवसर पर भी वे उपस्थित होती थीं। जब विश्वामित्र के शाप से सरस्वती का जल शोणित बन गया, तब गन्धर्व सहित अप्सरायें दुःखित हुईं।

स्कन्द के जन्म एवं अभिषेक के अवसर पर अप्सरायें नृत्यगीत के लिए उपस्थित थीं। युद्ध-क्षेत्र में योद्धाओं की वीरता को देखने तथा स्वागत करने के लिए गन्धर्व सहित अप्सरायें आकाश में बादलों की भाँति उपस्थित होती थीं।

अप्सरायें नृत्य,गीत आदि की सहायता से समाज के सभासदों का मनोरंजन करती थीं। इसका सन्दर्भ महाभारत में मिलता है—

तथैवाप्सरसो राजन्गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥[12]

नाना प्रकार के हास्यों से मनोरंजन करने के साथ-साथ देवगणों (इन्द्र, वरुण आदि) की सेवा भी करती थीं। इन्द्र की सेवा उनका मुख्य गुण था।

तपस्वियों की तपस्या भंग करना अप्सरा का कार्य था। ऋष्यश्रृंग को मोहित करने के लिए अप्सराओं ने मधुर स्वर से गान किया।

इन्द्र ने विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए मेनका नाम की अप्सरा को नियुक्त किया था। 'मदर्काण' नामक मुनि की तपस्या भंग करने के लिए अप्सराओं को नियुक्त किया गया था। बुद्धत्व प्राप्त करने वाले 'शाक्य मुनि' की तपस्या को भंग करने के लिए अप्सराओं के एक झुण्ड को प्रेषित किया गया था।[13]

'हरिवंश पुराण' अप्सराओं के हास्यपूर्ण अभिनय का दिग्दर्शन कराता है, जिसकी पुष्टि वाणासुर के आख्यान से होती है। अभिनय में महायोगी शिव, पार्वती तथा शिव के गण अप्सराओं के साथ क्रीडा में लीन होते हैं। खेल-खेल में चित्रलेखा नाम की एक अप्सरा पार्वती का वेश धारण कर महायोगी को मनाने का रोचक नाटक करती है। यही कारण है कि चित्रलेखा का अभिनय वास्तव में पार्वती तथा सभी अप्सराओं के हास्य का कारण बन जाता है। चित्रलेखा के अनुकरण के फलस्वरूप देवलोक की सभी अप्सरायें पार्वती का वेश धारण करती हैं। पार्वती का वेश धारण करने वाली अप्सराओं को भ्रमित करने के लिए शिव के सभी गण शिव के विभिन्न वेष को धारण करते हैं। स्वयं शिव तथा पार्वती अप्सराओं तथा गणों के विनोदपूर्ण अभिनय-चातुर्य पर बड़ी प्रसन्नता

से विस्मित हो जाते हैं। 'हरिवंश पुराण' में वर्णित वाणासुर के वृत्तान्त के साथ शिव और पार्वती के विनोदपूर्ण एवं प्रेरणादायक अभिनय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है।[14]

'हरिवंश पुराण' में छालिक्य गन्धर्व के साथ 'आसारित' का उल्लेख मिलता है। आसारित से तात्पर्य छालिक्य गन्धर्व तथा वाद्यों की सम्मिलित क्रिया से है। इस आसारित के बाद अभिनय में चतुर रम्भा को अभिनय करते हुए प्रस्तुत किया गया है।[15] रम्भा के अभिनय के तुरन्त बाद उर्वशी, हेमा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा और मेनका को गीत-नृत्य-अभिनय की मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है।[16]

'मत्स्य पुराण' भी शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि के साथ गन्धर्वों, किन्नरों तथा अप्सराओं का उल्लेख करता है।

'यक्षविद्याधरादिलक्षणम्' नामक ५८वें अध्याय में गन्धर्व को वैशाख नामक स्थान पर स्थित तथा गीत और नृत्य में रत बताया गया है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उपर्युक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर ही मूर्तियों का निर्माण हुआ। मथुरा-संग्रहालय की शक, कुषाणकालीन कलाकृतियाँ ध्यान देने योग्य हैं। मथुरा-संग्रहालय में उपलब्ध कुषाण काल के एक शिलापट्ट[17] पर एक अप्सरा को वाद्य यंत्रों से युक्त प्रदर्शित किया गया है तथा एक दूसरी अप्सरा को मजीरा बजाते हुए दिखाया गया है।

मथुरा के जैन कलाकेन्द्र 'कालीटोला' से प्राप्त एक कलावशेष पर एक अप्सरा को नृत्य करते हुए दिखाया गया है। इस कलावशेष के अवलोकन से यह अनुमान लगाया जाता है कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के सामने नीलांजना नाम की अप्सरा का नृत्य-दृश्य हो। इसकी कला शुंगकालीन है। रंगमंच स्तम्भ पर आधारित है। खपरैल की छत है, स्तम्भों के मध्य अप्सरा भावपूर्ण नृत्य की मुद्रा में नृत्य कर रही है। उसके दोनों ओर दो व्यक्ति मृदंग बजा रहे हैं। उसके पार्श्व में खड़ा एक व्यक्ति ढोलक बजा रहा है और अन्य दो व्यक्तियों के वाद्ययन्त्र अस्पष्ट हैं।

अप्सराओं के भित्ति-चित्र अनेक स्थलों पर दर्शनीय हैं। 'आलमपुर' के अनेक मन्दिर के हाल, स्तम्भों पर आधारित हैं। स्तम्भों की डिजाइन तथा मन्दिर के वाह्य रूप में अप्सराओं के चित्र भिन्न-भिन्न मुद्राओं में उत्कीर्ण हैं। भरहुत में बहुत सी अप्सराओं की मूर्तियाँ बनाई गई हैं, जो बहुत ही सुन्दर ढंग से भावपूर्ण मुद्रा में प्रदर्शित हैं। एक प्रतिमा दक्षिण द्वार के वाह्य मुख पर उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा ऊपर से टूटी हुई है। सौभाग्यवश इसकी अभिलेखीय भाग पूर्णरूपेण सुरक्षित है। दाईं ओर चार स्त्रियों की प्रतिमायें हैं। एक बालक नृत्य कर रहा है। ये सभी स्त्रियाँ विभिन्न मुद्राओं में दिखाई गई हैं, इनके हाथ अनेक दिशाओं में फैले हुए हैं, बीच में बाईं ओर बैठी हुई आठ स्त्रियों की प्रतिमायें हैं, इनमें से एक के हाथ में मजीरा है, चार स्त्रियाँ सात तारों वाली वीणा बजा रही हैं और शेष तीन स्त्रियाँ बिना वाद्ययन्त्रों के गायन में लीन हैं। बायें हाथ के ऊपर एक वृक्ष है, परन्तु इसका भी काफी भाग नष्ट हो गया है। शायद इस पर कोई लेख रहा हो।

नृत्य करने वाली चारों प्रतिमाओं के संलग्न-पट्टक आज भी सुरक्षित हैं। इसी से यह अनुमान लगाया जाता है कि ये चारों स्त्रियाँ अप्सरायें हैं। बाईं ओर से ऊपर की प्रतिमा सुभद्रा-अचहरा, दाईं ओर सुदर्शन अचहरा, दायें हाथ को नीचे की प्रतिमा मिसकोसी अचहरा और बाईं

ओर अलम्बुसा अचहरा का है। अचहरा का अर्थ है अप्सरा। इसके नीचे नामपट्टक लगा है, जो वेदिका-स्तम्भ के नीचे अंकित है।

वहीं (साडिकसम्मदं तुरं देवानं···) एक लेख लिखा है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'साडिक' से अभिप्राय 'सट्टक' का प्राकृत रूप था। वही पीछे 'चर्चरी' कहलाया।[१८] 'सम्मद' हर्षाभिनय का नाम था। तुरं का अर्थ तूर्य वाद्य था। इस लेख का संकेत उन दृष्टियों की ओर है, जिसका अभिनय इन्द्र के स्वर्ग में देवों के सामने किया गया है। संभवत: यह दृश्य अप्सराओं द्वारा शाक्य मुनि को मोहने का है।

अप्सराओं के चित्र अजन्ता, एलोरा की भित्तियों पर सुन्दर ढंग से चित्रित किये गये हैं। अजन्ता की गुफाओं की दीवालें नाना प्रकार के चित्रों से चित्रित हैं। यह प्लेट बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त है। अजन्ता गुफा के चतुर्थ कोष्ठ द्वार के दाहिनी ओर बुद्ध की उपदेशात्मक अवस्था की प्रतिमा बनी हुई है। इस प्रतिमा के ऊपर दोनों ओर कुछ हवा में उड़ती हुई नर-नारियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो बुद्ध को कुछ प्रदान कर रही हैं। प्रतिमा के ऊपर दाहिनी ओर हवा में उड़ती हुई नारी-रूप में अप्सरा की प्रतिमा है, जो काले और सफेद रंगों में गीत की अवस्था में उत्कीर्ण है।[१९] सौन्दर्य की दृष्टि से उसकी भाव-व्यञ्जना बहुत सुन्दर है। मुख की बनावट के सन्दर्भ में नेत्र कुछ विशाल बने हुए हैं।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अप्सराओं की, वैदिककाल से ही, मान्यता प्राप्त थी। यहाँ तक कि द्रविड और महाभारतकाल में यह परम्परा पूर्ववत् ही रही। तत्पश्चात् महाभारत-काल से लेकर गुप्तकाल तक इसके उल्लेख एवं कलाकृतियाँ विभिन्न स्थलों पर प्राप्त हुई हैं।

सन्दर्भ—

१- गोल्डस्टुकर—संस्कृत शब्दकोश, पृ० २२२–२२३

२- भवालकर बनमाला— महाभारत में नारी, पृ० ४०९

३- उपाध्याय भगवतशरण— वीमेन इन ऋग्वेद, पृ० ३०

४- शतपथ ब्राह्मण, ११.१

५- डा० तुलसीराम कृत अनुवाद— अलेक्जेन्डर कनिंघम भरहुत स्तूप, पृ० २६

६- महाभारत, आदिपर्व, ६५. ४८

७- वहीं, ७४. ६८

८- वहीं, ७४. ६९

९- महाभारत, वनपर्व, ४३.३

१०- वहीं, आदिपर्व, ७०.१५

११- वहीं, सभापर्व, ७.२४

१२- वही

१३- ललित विस्तार— तिब्बती सेएम फोकाउक्स द्वारा अनुवाद, पृ० ३०६

१४- ए० बी० कीथ— जे० आर० ए० एस०, १९१६, पृ० १४६

१५- हरिवंश-पुराण, २.८९

१६- वहीं, ७०. ७२

१७- मथुरा संग्रहालय, यार्ड ३८

१८- डा० वासुदेवशरण अग्रवाल— भारतीय कला, पृ० १७४–१७५

१९- जी० याजदानी— अजन्ता (टेक्स्ट II), पृ० ५६

सुदूरपूर्वदेशेषु संस्कृतस्य प्रसारः

डॉ० श्रीपति अवस्थी

विश्वस्मिन् सांस्कृतिकप्रगतौ भाषायाः साहित्यस्य च अप्रतिमं महत्त्वं विद्यते । विचारसंक्रमणाय साहित्यमेव सर्वाधिकं सुदृढं साधनं परिकीर्त्यते । उत्तमसाहित्यनिबन्धाय भाषायाः प्रौढत्वं, सुश्लिष्टत्वं सुतराम् अपेक्ष्यते । भाषागताध्ययनान्तरमेव कस्यचिद्देशविशेषस्य साहित्यानुशीलनात् तस्य देशस्य सांस्कृतिकीं, वैज्ञानिकीं, दार्शनिकीं प्रगतिं समीक्षितुं शक्यते । यथा हि पाश्चात्यदेशानां ज्ञान-विज्ञानयोः धारा-प्रवर्तनाय ग्रीकभाषायाः महान् योगो गण्यते । तथैव पौरस्त्यसंस्कृतेः निर्माणे संस्कृत-भाषायाः महत्त्वं सर्वोपरि गीयते । अनयैव प्रगतेः पथः प्रदर्शनं कृतम् । पुरा आसेतुहिमाचलं संस्कृत-मेव सम्पर्कभाषा, राष्ट्रभाषा वा आसीत् । तक्षशिला-नालन्दा-बलभी-काशी-विक्रमशिला-नवद्वीप प्रभृतिषु राष्ट्रविद्यापीठेषु सहस्रशः भारतीयाः वैदेशिकाश्छात्राश्च स्वाध्यायरता आसन् । एते सर्वे ज्ञान-पिपासवः संस्कृतभारतीमुखेनैव ज्ञानमलभन् वैदुष्यमुपार्जितवन्तश्च । अस्मात् कारणादेव सुदूरपूर्वदेशेषु-चम्पा-जावा-सुमात्रा-बोर्णियो-स्याम-कम्बोडिया-ब्रह्मदेशेषु-संस्कृतस्य व्यापक. प्रचारोऽभवत् । भारते तु दीर्घकालपर्य्यन्तं संस्कृतं राष्ट्रभाषापदे समासीनाऽभवत् । अस्माद् हेतोः संस्कृतस्य कृते अमरवागीति नाम्नः सार्थकत्वमुपैति । न केवलमिदमेव 'सिन्धोः परं पारमवापकीर्तिः' इति सूक्तिः चरितार्था भवति ।

सुदूरपूर्वदेशेषु यत्र भारतीयाः स्वकीयान् उपनिवेशान् संस्थापितवन्तः तत्रैव संस्कृतवाणी अपि लोके प्रथिताऽभवत् । विक्रमशताब्देः प्रागेव भारतीयव्यापारिणो, महत्त्वकांक्षिणो राजकुमाराः उत्साहवन्तो धर्मप्रचारकाः तत्रत्येषु द्वीपेषु गत्वा, भारतीयसंस्कृतिं संस्कृतभाषाञ्च प्रसारितवन्तः । देवानां प्रियदर्शिनो राज्ञोऽशोकस्य राज्यकाले सिंहलद्वीपं सुवर्णभूमिं कम्बुजं च अनेके धर्मप्रचारकाः गतवन्तः तत्रैव वसतिं विधाय संस्कृतेः प्राणभूतां संस्कृतभाषां प्रचारयामासुः । एभ्यो देशेभ्योऽनेके संस्कृतभाषायामुपनिबद्धाः शिलालेखाः प्राप्यन्ते । येषामनुशीलनेन संस्कृतभाषायाः व्यापकप्रसारस्य बोधो जायते । ईशवीयस्य तृतीयशतकादारभ्य सप्तमशताब्दीं यावद् ब्रह्मदेशाद् स्यामदेशाद् (थाइलैण्ड) मलयप्रायद्वीपाद् इन्डोनेशियाद्वीपसमूहाद् (अनाम-चम्पा, बोर्णियो,सुमात्रा-जावा-सेलीबीज) प्रभृतिभ्योदेशेभ्योऽनेके लघुशिलालेखाः समुपलब्धाः । एतेषु द्वीपेषु देशेषु च संस्कृतशिलालेखानां समुपलब्धिर्वस्तुत आश्चर्यस्यैव विषयः । चम्पासदृशे लघुद्वीपे पञ्चाशद् अधिकाः शिलालेखाः समुपलब्धाः । एतेऽभिलेखाः गद्यपद्यात्मकाः । किन्तु संस्कृतप्रसारदृशा कम्बुजदेशस्य स्थानं सर्वोपरि गीयते । अत्र हि १५० शिलालेखाः संप्राप्ताः । एतेषां शिलालेखानां सम्पादनं भारतीयेतिहासस्य मान्येन विदुषा डा० आर० सी० मजूमदारमहाशयेन कृतम् । आकार-प्रकारदृशा केचन अभिलेखाः दीर्घतराः केचन लघुलेखाः सन्ति । कम्बुजराज्ञो यशोवर्मण एकस्मिंल्लेखे ५० श्लोकाः लिखिताः सन्ति । कतिपयेषु प्रस्तराभिलेखेषु ९३ श्लोकाः, १०८ श्लोकाः अपि सन्ति । मेबोनस्थानात् समुपलब्धे राजेन्द्रवर्मणोऽभिलेखे २१८ श्लोकाः विद्यन्ते । चम्पादेशात् समुपलब्धो श्लोकैकः संस्कृतभाषायाः प्रौढत्वं, विशिष्टरचना-पद्धतिं, छन्दः कौशलञ्च प्रकाशयति ।[1] एवं हि कम्बुजदेशात् समुपलब्धे प्रह्वतलेखे राज्ञो राजेन्द्रवर्मणः प्रशस्तौ

श्लोको विशेषेण द्रष्टव्यः।[2] एतेषु लेखेषु विविधानां छन्दसां प्रचुरता, भाषायाः प्रौढता, शैल्याः विशिष्टता च द्रष्टव्या।[3] उपर्युक्तेषु लेखेषु कम्बुजसम्राजा यशोवर्मणा नौसेनया सह प्रयाणस्य, चीनदेशस्य कस्मिंश्चित् सामन्तशासकस्य प्रदेशे आधिपत्यस्य ओजस्विवर्णनं विद्यते।

संस्कृतसाहित्यस्य स्पष्टप्रभाव एषु संस्कृताभिलेखेषु परिलक्ष्यते। व्याकरणस्य, काव्यस्य, पुराणेतिहासस्य, धर्मशास्त्रस्य आयुर्वेदस्य स्वाध्यायः सुदूरपूर्वदेशेषु विहित आसीत्। पाणिनीयव्याकरणस्य प्रभावः एतेषु लेखेषु स्पष्टतरं प्रतिभाति।[4]

अस्मिन्नुद्धरणे 'प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे' इति पाणिनिसूत्रस्यैव साक्षात् प्रयोगः कृतः। अन्यच्च राजन्वान् सौराज्ये (८.२.१४) इत्यस्य प्रयोगो लेखे प्राप्यते।[5] पाणिनेः अष्टाध्यायीव्यतिरिक्तस्य पातञ्जलमहाभाष्यस्यापि समुल्लेखः प्राप्यते। एकस्माल्लेखात् ज्ञायते यत् कम्बुजसम्राट् यशोवर्मा महाभाष्यस्य टीकां लिखितवान्।[6] चम्पाद्वीपे अष्टाध्याय्याः व्याख्यानभूतस्य काशिकाग्रन्थस्यापि प्रचलनं तत्र प्रथितमासीद् इति चम्पादेशात् समुपलब्धात् लेखाद् स्पष्टं भवति।[7] अपरस्मिन्नभिलेखे एकः पण्डितः पञ्चव्याकरणनिकायेषु 'पञ्चव्याकरणान्तगः' इति उक्तः। एतेषु द्वीपसमूहेषु वेदत्रय्याः स्वाध्यायः महता समादरेण प्रथित आसीत्। एकस्मिल्लेखे श्रीस्वामीतिनामधेयो ब्राह्मणः वेदव्याकरणेऽन्यतमः 'तर्काऽतिपारगः विप्रः च' इति वर्णितः। महाराजस्य इन्द्रवर्मणो गुरुः शिवसोमः विविधविषयाणामध्येता आसीत्। 'शब्दार्थागमशास्त्राणि काव्यं भारतविस्तरम् रामायणञ्च योऽधीत्य···' अस्माद् उद्धरणाच्च ज्ञायते यदेतेषु द्वीपसमूहेषु रामायणस्य महाभारतस्य च कियान् व्यापकः प्रचार आसीत्। कम्बुजलेखेषु दिलीपस्य महाराजरघोश्च वर्णनं प्राप्यते। एकस्मिन् स्थले राज्ञो रुद्रवर्मणः तुलना दिलीपेन सह क्रियते।[8] एवमेव सम्राजः सूर्यवर्मणो दिग्विजयप्रसङ्गे रघुमपि विडम्बयतः तत्रत्य-राज्ञः उल्लेखः क्रियते।[9]

कम्बुजदेशीयाभिलेखेषु महाकवेः कालिदासस्य, प्रवरसेनस्य, मयूरकवेश्च नामानि सादरं स्मर्यन्ते। प्राकृतभाषायाः प्रसिद्धकवेः गुणाढ्यस्यापि स्मरणं दृश्यते।[10] महाकवेः कालिदासस्य नामत उल्लेखो यद्यपि क्वचिदपि न विद्यते तथापि रघुवंशमहाकाव्यस्य कोमलकान्तपदावल्याः प्रयोगोऽनेकेष्वभिलेखेषु दृश्यते। राज्ञो यशोवर्मणोऽभिलेखे भारवेः सूरकवेश्च नाम्ना संकीर्तनं विद्यते। प्रेरूनाम्नः स्थानात् संप्राप्तेऽभिलेखे कस्यचिन्मनोहरनामकस्य नूतनकाव्यस्यापि समुल्लेखः प्राप्यते। विभिन्नेषु लेखेषु मनुस्मृतेः स्पष्टः प्रभावः दृश्यते। एकस्मिन्नभिलेखे आचार्यो: मनुः धर्मप्रवर्त्तकत्वेन गण्यते। आर्यकौटिल्यस्य अर्थशास्त्रस्यापि प्रतिच्छाया स्पष्टमनुभूयते। कतिपयेषु अभिलेखेषु वात्स्यायनकामसूत्रस्य, विशालाक्षनीतिशास्त्रस्य सुश्रुतसंहितायाश्च भूयान् प्रभावः समुल्लेखश्च दृश्यते।

धर्मेण दर्शनेन च भारतीयं जनजीवनं सर्वाधिकं प्रभावितं वर्तते। अस्माद्धेतोः मैक्समूलरसदृशाः पाश्चात्यविद्वांसः भारतं दार्शनिकाणां देशमिति वदन्ति। अस्मिन् हि कथने सत्यस्य पुटो विद्यते। भारतीयधर्मदर्शनयोर्धारया न केवलं भारतीया एव आप्लाविता आसन् अपितु सुदूरपूर्वदेशवासिनोऽपि सममेव प्रभाविता आसन्। चम्पादेशस्य एकस्मिन्नभिलेखे प्रतिपाद्यते यत् महाराजइन्द्रवर्मा दर्शनशास्त्रस्य विभिन्नप्रस्थानेषु निष्णातो विद्वान् आसीत्।[11] अस्मिन् हि लेखे 'मीमांसाषट्तर्क' इति पदस्योल्लेखः क्रियते। अस्य पदविशेषस्य कोऽर्थः। इति विमर्शकाले राजशेखरकृत–काव्यमीमांसायामुद्धृतपदं समक्षमायाति।

राजशेखरमते षट्तर्कपदेन बौद्ध-जैन-चार्वाक-सांख्य-न्याय-वैशेषिक इति षट्शास्त्राणि भवितुमर्हन्ति। मीमांसा द्विधा। कर्मज्ञानमीमांसाभेदात्। सांख्यमपि द्विविधं निरीश्वर-सेश्वरभेदात्। यदि राजशेखरकृता इयं व्याख्या स्वीक्रियते तर्हि तु चम्पादेशे सर्वाणि भारतीयदर्शनप्रस्थानानि प्रसिद्धानि आसन्। राजशेखरस्याविर्भावकाल ईशवीय नवमशताब्द्यां विद्यते। अयं हि आचार्यः प्रतिहारवंशोद्भवस्य महेन्द्रपालस्य राज्याश्रित आसीत्। इन्द्रवर्मणो राज्यकालः ईशवीयशतकस्य दशमशती विद्यते। अनेन प्रमाणेन ज्ञायते यत् भारतीयविचारधारात्वरितगत्या तेषु तेषु द्वीपसमूहेषु विकसति स्म इति सर्वथा विस्मयावहः।

प्राचीनकम्बुजदेशे कोऽपि लेखः संस्कृताद् भिन्नभाषायां नोपलब्धः। अस्माद् कारणादनुमीयते यदेतेषु देशेषु प्रशासनिककार्येषु वाणिज्यव्यवसायेषु सामाजिकजीवनेषु संस्कृतभाषाया एकच्छत्रं साम्राज्यम् आसीत्। तत्र हि लोकभाषाया किं स्वरूपमासीत् तन्न ज्ञायते। यद्यपि कम्बुजदेशवद् यवद्वीपे (जावा) संस्कृतभाषा राजभाषा नासीत् तथापि यावानीभाषा संस्कृतात् प्रभाविता, किंवा प्रोषिता आसीत्। तस्यां भाषायां संस्कृतग्रन्थानाम् अनेकेऽनुवादाः दृश्यन्ते। संस्कृतग्रन्थानधिकृत्य यावानीभाषायां बहूनि पुस्तकानि विरचितानि। अस्याः भाषायाः प्राचीनतमं पुस्तकम् 'अमरमाला' नाम। इदं हि पुस्तकं अमरकोशस्य अनुवाद एव। यावानीरामायणं वाल्मीकेः रामायणस्य रूपान्तरणमेव। किन्त्वस्मिन् रावणवधानन्तरं सीताप्राप्तिरनन्तरञ्च कथा परिसमाप्यते। भारतीयसाहित्यवदेव तत्रापि रामायणमहाभारतग्रन्थौ तत्रत्य-साहित्यस्य उपजीव्यत्वेन प्रथितावास्ताम्। एतौ ग्रन्थावधिकृत्य इमानि काव्यानि नाटकानि च तत्र प्रसिद्धानि सन्ति। अर्जुनविवाहं, कृष्णायनं, सुमनसान्तकं, भारतयुद्धम्, इन्द्रविजयं, पार्थयज्ञं, कालयवनान्तिकञ्चेति पुराणेषु ब्रह्माण्डपुराणस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत्। भारतीयनीतिग्रन्था अपि यावानीनीतिग्रन्थानामग्रेसराः। नीतिसार नामको ग्रन्थोऽस्य कार्यस्य प्रमाणत्वेन गण्यते। हितोपदेशपञ्चतन्त्रादीनि अधिकृत्यात्रापि कथासाहित्यम् प्रवर्तितम्। यादृशप्रभावः खलु यावानीभाषासु दृश्यते तादृशस्तु अन्यत्र सुदुर्लभः।

सुदूरपूर्वदेशेषु समुपलब्धलेखानामनुशीलनाज्ज्ञायते यद् अत्रत्याः प्रशस्तिकाराः संस्कृतकाव्यशास्त्रेषु सम्यग् निष्णाता आसन्। यतो हि संस्कृताभिलेखेषु काव्यशास्त्रे वर्णिताः रीतयः प्रयुक्ताः सन्ति। गौडीरीतेः सर्वाधिकः प्रयोगो दृश्यते। साहित्यदर्पणे गौडीरीतेर्लक्षणं ह्येवं वर्ण्यते - 'ओजप्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आडम्बरः पुनः। समासबहुला गौडी……'। साहित्यदर्पणोक्त एतल्लक्षणस्य परीक्षा क्रियते चेत् लेखेषु उदाहरणानि प्राप्यन्ते।[12] अभिलेखेषु उपमा-रूपकातिशयोक्तिप्रभृतीनाम् अलंकाराणां बाहुल्येन प्रयोगो दृश्यते। एतेषु कम्बुजलेखेषु छन्दोबाहुल्यमपि महदाश्चर्यभूतम्। शार्दूलविक्रीडितस्रग्धरासदृशानि विलष्टदीर्घछंदांसि अत्र साफल्येन प्रयुक्तानि सन्ति। भारतवदेव अत्रापि गद्यापेक्षया पद्यस्यैव बहुलता आसीत्। तथापि गद्यस्य सर्वथा अभावः कलितुं न शक्यते। कतिपयेषु अभिलेखेषु परिष्कृतं सुललितं गद्यं प्रयुक्तं दृश्यते।

चम्पाद्वीपस्य पोनगरात् प्राप्ते लेखे प्रयुक्तगद्यस्य चमत्कारो द्रष्टव्यः।[13] लेखमिमं पठित्वा बाणभट्टस्य ललितपदावली सद्यः स्मृतिपथम् आयाति। अस्य लेखस्य कालः ८१७ ई० वत्सरः। अतः सम्भाव्यते यत् प्रशस्तिकारोऽपि बाणभट्टस्य कादम्बरीकथाया अभिज्ञ आसीत्। अन्ते विशेषेण समुल्लेखनीयं यद् एतेषु द्वीपसमूहेषु भारतीयशकसंवत् एव प्रथितमासीत्।

सन्दर्भ—

१- सृष्टं येन त्रितयमखिलं भूर्भुवः स्वः स्वशक्त्या,
येनोत्खातं भुवनदुरितं वह्निनेवान्धकरणम् ।
यस्या-चिन्त्यो जगति महिमा यस्य नादिर्न चान्तश्,
चम्पादेशे जनयितुसुखं शम्भुभद्रेश्वरोऽयम् ॥
(चम्पा अभि० ७)

२- तद्वंशजो प्राप्य पुराधिराजः,
संतानसम्पादितमातृवंशजः ।
राजेन्द्रवर्मेति गुणैकराशिः,
अवाप्य यः शम्भूपुराधिराज्यम् ॥ (कम्बुज लेख ६२)

३क- नौकार्बुदं येन जयाय याने
प्रसारितं पीतसितं समन्तात् । (कम्बु० लेख ६२)

ख- आसूक्ष्मकाम्रात–पयोधिचीन,
चम्पादिदेशाद् धरणेरधीशः । (कम्बु० ६२)

४- सद्धर्मनिरतेर्यस्य पदं राज्येन चक्रिरे,
उपसर्गाः क्रियायोगे ते प्राग्धातोर्मुनेरिव । तत्रैव

५- राजन्वन्तीत्यन्य–नृपोन्वशात् प्रान्
निपातनाल्लक्षणमन्तरेण
यो लक्षणैः संस्कृतवर्णवृद्धि
परैस्तु साधुत्त्व-धरान् धरित्रीम् । (कम्बु० लेख ९७/४०)

६- नागेन्द्रवक्त्र-विषदुष्टतयैव भाष्यम्
मोहप्रदं प्रतिपदं किल शाब्दिकानाम्
व्याख्याकृतेन वदनेन्दुविनिर्गतेन । (कम्बु० ले० ६२)

७- सकाशिका व्याकरणोदकौघः । (चम्पा० ४५)

८- यस्य सौराज्यमद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम् । (कम्बु० ३०)

९- स्वयं प्रयाय द्विषतां प्रदेशं
रघुं जयन्तं लघयाञ्चकार । (कम्बु० १७३)

१०- पारदः स्थिरकल्याणो
गुणाढ्यः प्राकृतप्रियः ।

११- मीमांसाषट्तर्क जिनेन्द्रसूर्मिस्–
सकाशिका व्याकरणोदकौघः । (आख्यान शैवोत्तर कल्पमीनः)

१२- आसूक्ष्मकाम्रातपयोधिचीन-
चम्पादिदेशाद् धरणेरधीशः ।

१३- अतिगहनकुञ्जरपुरकाननजनगजपदप्रथनैकराजसिंहायमानस्तु ।

—:o:—

अद्वैतवाद और शून्यवाद की दार्शनिक पद्धति

कु० मंजु

भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद (वेदान्त दर्शन) और शून्यवाद (बौद्ध दर्शन)—दोनों विद्वानों की चर्चा के विषय रहे हैं। प्रस्तुत दर्शनों के कतिपय सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विचारों में अत्यधिक साम्य है। फलतः अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य पर 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने का आरोप किया जाता है। किन्तु ध्यातव्य है कि इन समानताओं के अतिरिक्त भी दोनों दर्शनों की विचार-पद्धति में भेद है। अतः उनकी विधिवत् दार्शनिक पद्धति पर विचार करने के पश्चात् ही उनके साम्य वैषम्य-स्थिति का स्पष्टीकरण हो सकेगा।

भारतीय दर्शन का प्रारम्भ आध्यात्मिकता से होता है। भारत में दार्शनिक जिज्ञासा ज्ञान के स्रोत से नहीं,अपितु आत्मा-विचार के विषय से प्रारम्भ होती है। आत्मविषयक ज्ञान प्राप्त करना ही भारतीय दर्शन का लक्ष्य है-कि आत्मविषयक ज्ञान बुद्धि से प्राप्त हो सकता है, अथवा अनुभव से।

साधारणतः मनुष्य अविवेकी जीवन व्यतीत करता है। वह सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण चाहता है, परन्तु सुख और दुःख परस्पर सापेक्ष हैं। विचार करने पर सुख भी दुःखमय प्रतीत होने लगता है। सुखप्राप्ति की इच्छा से ही दुःख उत्पन्न होता है। जो अप्राप्त है उसकी प्राप्ति तथा जो प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए कष्ट सहना पड़ता है। अतः सभी सुख-दुःख मिश्रित है। सांसारिक जीवन के तीन लक्ष्य (एषणायें) कहे गये हैं—[१] लोकैषणा, [२] पुत्रैषणा, तथा [३] वित्तैषणा। ये ही मानव-मन को दुखित करने के कारण हैं और इन्हें ही लोग सुख का कारण समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में यही माया-मोह है, जिसे बन्धन भी कहा गया है।

योगसूत्र में कहा गया है—"दुःखमेव सर्वविवेकिनः"[1] अर्थात् विवेकी व्यक्ति को समस्त जीवन ही दुःखमय प्रतीत होता है। वह यह सोचने को विवश हो जाता है कि क्या दुःख भोगना एवम् बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ना ही इस जीवन का लक्ष्य है? क्या यह शरीर एवम् दृश्यमान जगत् ही सब कुछ है या इसके परे भी कुछ है? दुःख से मुक्ति और स्थायी सुख की उसे प्राप्ति सम्भव हो सकती है या नहीं? इस प्रकार की जिज्ञासा-प्रवृत्ति ही उसे दर्शन की ओर उन्मुख करती है। इन प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में एक अन्य गौण प्रश्न भी समुपस्थित होता है कि किन व्यक्तियों को दर्शन जानने का अधिकार है? भारतीय दर्शन में इससे सम्बन्धित 'अधिकार सिद्धान्त' की विशद चर्चा की गई है, जिसमें उल्लिखित है कि उचित अधिकारी को ही उचित विद्या प्रदान करनी चाहिए। यही कारण है कि दर्शन के लिए उपयुक्तता की आवश्यकता होती है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में मोक्ष की जिज्ञासा नहीं होती।[2]

उपरिलिखित तथ्यों को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन मुख्यतः अहम् के प्रश्न से सम्बद्ध है। जीवन की दृष्टि से सबसे महत्त्व का प्रश्न अहम् है क्योंकि जो सुख-दुख आदि हैं तथा संसार के साथ जो मनुष्य का संबंध है, वह सब अहम् पर ही आश्रित है।

यहाँ तक कि ईश्वर एवम् जगत् संबंधी प्रश्न भी अहम् से सम्बद्ध होने के कारण ही महत्त्व रखते हैं। जब किसी को अपनी परिमितता एवम् जगत् की दुःखरूपता का अनुभव होता है तभी वह असीम तत्त्व को जानने के लिए प्रयत्नशील होता है। अतः दर्शन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न अहम् का है।[3] अब यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि आत्मा का स्वरूप क्या है? विचार करने पर ज्ञात होता है कि दार्शनिकों के मन में इसका स्वरूप अस्पष्ट है। आत्मा 'मैं' का पर्याय है। 'मैं' शब्द का प्रयोग कभी शरीर, कभी मन और कभी इन्द्रिय आदि के लिए किया जाता है। ऐसा व्यक्ति जो बिना समझे इस 'मैं' का प्रयोग करता है, अज्ञानी कहलाता है। 'मैं चल रहा हूँ' –इस कथन में अहम् को विषय बना दिया गया है, जबकि वास्तविक रूप में अहम् विषयी है। इसी प्रकार 'मैं सोया हूँ',इस कथन में शरीर को जो विषय है, विषयी बना दिया गया है। विषय और विषयी दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं किन्तु व्यवहार में इनका पारस्परिक आरोपण कर दिया जाता है। यद्यपि इनके धर्मों (गुणों) का भी परस्पर आरोपण नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार में इनका पारस्परिक आरोपण कर लिया जाता है। किन्तु यह असंगत है और इस प्रकार का मिथ्यारोपण (असंगत आरोपण) अध्यास है।[4] पर कभी-कभी परस्पर विरोधी धर्म एवं धर्मी के रहने पर भी अविवेक के कारण एक का दूसरे पर आरोपण कर दिया जाता है। क्या ऐसा अविवेकपूर्ण व्यवहार चेतनावस्था में सम्भव है? शंकराचार्य कहते हैं कि यह लोकव्यवहार, जिसमें अविवेक के कारण विषय को विषयी समझ लिया जाता है, वह नैसर्गिक है।[5] अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी रूप आत्मा तथा उसके विपरीत साक्षी का अन्तःकरण आदि में अभ्यास करने से ही अनादि, असीम एवं नैसर्गिक मिथ्या का प्रत्यय, कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व के व्यवहार-रूप में सम्भव है। यह अज्ञात रूप से सर्व-सामान्य है जो सभी अनर्थों का मूल भी है। इस अध्यास को ही अविद्या माना गया है। इस अध्यास को दूर करना दर्शन एवं ब्रह्मविद्या का प्रयोजन है।

आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा एक है या अनेक? आत्मा और परमात्मा एक ही हैं या एक दूसरे से पृथक्, तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हमें है या नहीं? — इत्यादि आत्माविषयक प्रश्न उपनिषदों में बार-बार आया है। केवल बुद्धि, प्रत्यक्ष या इन्द्रियों के द्वारा कोई अदृष्ट तत्त्व को नहीं जान सकता। यदि उसे साधारण (अर्थात् इन्द्रियों के) अनुभव से ही कोई जान पाता तो दर्शन की आवश्यकता ही न होती। निराधार बुद्धि खोखली है, अतः यदि बुद्धि के आधार पर आत्मा को जानने का प्रयत्न किया जाये तो वह कोरी कल्पना-मात्र होगी। अतः किसी ऐसे अधिकारी व्यक्ति की बातों पर निर्भर होना होगा, जो अदृष्ट तत्त्व को जानने का दावा करता हो। इसीलिए दार्शनिक खोज में श्रुति का आश्रय लेना पड़ता है। श्रुति; प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान से भी अप्राप्य अलौकिक उपाय का बोध कराती है।[6] प्रश्न उठता है कि श्रुति का अवलम्ब लेकर परमतत्त्व को जान ही लेंगे, सो कैसे? क्योंकि श्रुतिवाक्य भी तो अनुभव से ही प्राप्त होते हैं। इसका उत्तर है कि श्रुति को इन्द्रियानुभव से नहीं प्राप्त किया गया है, अपितु नित्य, मुक्त, ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर की सांस से श्रुति प्रदत्त है[7] तथा ऋषयो ने अपने निर्मल अन्तःकरण द्वारा उसके मन्त्रों का साक्षात्कार किया है (ऋषियो मन्त्रद्रष्टारः न तु कर्त्तारः)। श्रुति से प्राप्त ज्ञान केवल श्रद्धा पर आधारित नहीं होता, वह अनुभवगम्य भी है परन्तु वह अनुभव इन्द्रिय अनुभव नहीं है। अनुभव की दो श्रेणियाँ मानी जा सकती हैं— एक तो स्थूल अनुभव तथा दूसरा सूक्ष्म अनुभव। अनुभववाद में स्थूल अनुभव

(इन्द्रियानुभव) को स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादियों की दृष्टि में सूक्ष्म अनुभव द्वारा तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। वे अदृष्ट तत्त्व की प्राप्ति में स्थूल अनुभव का निराकरण करते हैं न कि सूक्ष्म अनुभव (अपरोक्षानुभव) का।

जहाँ तक आत्मतत्त्व की गतिशीलता का प्रश्न है, उपनिषद् में उसे चलायमान और अचलायमान दोनों कहा गया है। वह दूरातीत है और निकटस्थ भी। वह सबके अन्तर्गत है और बहिर्गत भी। केनोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि "वह जानने वालों के लिए अज्ञात है और न जानने वालों के लिए ज्ञात।"[९] अतः इन परस्पर विरोधी तथ्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए तर्क की आवश्यता होती है क्योंकि किसी एक अंश को लेकर श्रुति को नहीं समझा जा सकता। किन्तु साथ ही तर्क भी स्वतंत्र रूप से तत्त्व के विषय में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[१०] परमतत्त्व निरपेक्ष और निर्विकल्प है, उसका ज्ञान सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि द्वारा असम्भव है। इसके अतिरिक्त तर्क व्याप्ति-सम्बन्ध पर अवलम्बित होने के कारण परिमित है। अतः अदृष्ट तत्त्व इसका विषय नहीं हो सकता। शंकराचार्य तर्क का पूर्णतः निराकरण नहीं करते, प्रत्युत श्रुति के सहायक रूप में उसे स्वीकार करते हैं।[११] आचार्य गौडपाद भी दर्शन के लिए केवल श्रुति को ही स्वीकार नहीं करते प्रत्युत उसके सत्यासत्य विवेचन के लिए युक्ति को भी आवश्यक मानते हैं।[१२] इस प्रकार वेदान्त दर्शन तर्क एवं श्रुति की सहायता से ऐसे तत्त्व तक पहुँचता है जिसका अनुभव उचित साधनों द्वारा इसी जीवन में किया जा सकता है।

शून्यवाद का लक्ष्य भी निरपेक्ष की प्राप्ति है पर उनकी दार्शनिक जिज्ञासा अहम् संबंधी न होकर ज्ञान-संबंधी है। आत्मा, जो नित्य और स्थायी है, वहाँ उसका सर्वथा निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में शून्यवादी अपनी दार्शनिक खोज में श्रुति का आश्रय न लेते हुए अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा ही लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार बुद्धि, विकल्प तत्त्व का आवरण मात्र है, जिसके द्वारा तत्त्व को नहीं जाना जा सकता। बुद्धि की चार दृष्टियाँ हैं—(१) सत् (२) असत् (३) सदसद्, (४) सदसद्भिन्न। इन चारों दृष्टियों तक ही बुद्धि परिमित है। किन्तु इन चारों कोटियों में किसी के द्वारा भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। विचार करने पर सत् और असत् दोनों दृष्टियाँ असंगत प्रतीत होती हैं। सदसद् अथवा सदसद्भिन्न-इन दोनों कोटियों के द्वारा भी वस्तु के स्वरूप को समझना असम्भव है क्योंकि ये दोनों कोटियाँ प्रथम दोनों कोटियों को एक साथ रखने तथा उनके निषेध से प्राप्त होती हैं। अतः ये कोई नवीन दृष्टिकोण नहीं प्रस्तुत करतीं। इस प्रकार ये सभी कोटियाँ कल्पना मात्र हैं।[13]

शून्यवादी अस्ति [शाश्वतवाद] और नास्ति [उच्छेदवाद]—इन दोनों ही अतिवादिताओं को स्वीकार नहीं करते। वे इन दोनों स्थितियों के परे मध्यममार्ग को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विचार एवम् वाणी से परे जाकर ही तत्त्व को जाना जा सकता है।[१४]

माध्यमिकों के विरुद्ध यह अपत्ति की जा सकती है कि एक ओर तो वे बुद्धि विकल्पों का निराकरण करते हैं तो दूसरी ओर बुद्धि का आश्रय भी ग्रहण किया गया है, अतः उनके सिद्धान्त में आत्मव्याघातमक दोष है। लेकिन ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि बुद्धि को वे ज्ञान का स्रोत नहीं मानते (जैसा कि बुद्धिवादी मानते हैं) और न ही बुद्धि को सहायक

रूप में स्वीकार करते हैं (जैसा कि अद्वैतवादी मानते हैं) अपितु वे बुद्धि द्वारा बुद्धि का ही निराकरण करते हैं। अतः उनके मत में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः माध्यमिक दर्शन में बुद्धि की दो श्रेणियाँ मानी गई हैं—एक तो वह, जहाँ विकल्प विद्यमान रहते हैं तथा दूसरी वह, जहाँ विकल्प शान्त हो जाते हैं। जहाँ विकल्प शान्त हो जाते हैं वह बुद्धि की उच्चस्तरीय अवस्था है। उस अवस्था विशेष को दर्शन में 'बुद्धि' (रीजन) कहा गया है। बुद्धि की प्रथम श्रेणी को 'दृष्टि' तथा द्वितीय श्रेणी को 'प्रज्ञा' का नाम दिया जा सकता है। दृष्टि के कारण ही दुःखमय जगत् का प्रादुर्भाव होता है और परिष्कृत करने पर 'प्रज्ञा' की उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञा' ज्ञान की सर्वोच्च तथा पूर्ण अवस्था है और यही परमतत्त्व है।[15] दृष्टि के आवरण के कारण ही यह अज्ञेय है। अतः निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए दृष्टि का निराकरण आवश्यक है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह कैसे ज्ञात होगा कि बुद्धि-विकल्पों के शान्त हो जाने पर निरपेक्ष तत्त्व अवश्य जान लिया जायगा? प्रत्युत्तर रूप में माध्यमिकों का कथन है कि यदि यह स्वीकार न किया जाय कि ज्ञान का स्वरूप दृष्टि के कारण आच्छादित रहता है तो दृष्टि को ही सत्य मानना पड़ेगा। पर, ध्यातव्य है कि सभी दृष्टियाँ आत्मविरोधात्मक होने के कारण मिथ्या हैं। अतः उनके मिथ्यात्व को जान लेने पर मनुष्य स्वयं ज्ञान के स्वरूप को जान लेगा। दृष्टि का मिथ्यात्व दिखाने के लिए वे चारों दृष्टियों की परीक्षा करते हैं। उदाहरणार्थ वे कार्य-कारण सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं। कार्यकारण के संबंध में प्रचलित सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद दोनों मतों का ही वे खण्डन करते हैं। कारण से कार्य की उत्पत्ति के संबंध में सभी सम्भावित सिद्धान्तों की आलोचना करके माध्यमिक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कार्य की उत्पत्ति न स्वतः हो सकती है, न परतः तथा न उभयतः और न बिना किसी हेतु के।[16] तात्पर्य यह है कि कारण एवम् कार्य की व्याख्या दुष्कर ही नहीं, असम्भव-सी है। समस्त सांसारिक व्यापार कारण-कार्य शृंखला पर आधृत है। अतः वह भी कारण-कार्य के समान विरोधात्मक होने से मिथ्या है। इस मिथ्यात्व को जान लेने पर विशुद्ध ज्ञान (प्रज्ञा) स्वयं प्रकाशित हो जाता है।

माध्यमिकों के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि स्व-पक्ष के अभाव में वे परपक्ष के निराकरण के लिए अनुमानादि का प्रयोग कैसे करते हैं? माध्यमिकों का कोई पक्षान्तर न होने के कारण उनके द्वारा अनुमान का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जाना युक्तिसंगत नहीं है। पर यह आपत्ति तथ्यपूर्ण नहीं है क्योंकि उनकी अपनी कोई प्रतिज्ञा नहीं है। वस्तुतः प्रतिज्ञा और स्व-पक्ष के अभाव-वश उनपर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता। प्रतिपक्षी के मत को असिद्ध करके वे अपना कोई विशेष मत नहीं प्रस्तुत करते, अपितु बुद्धिग्राह्य पदार्थों की निःस्वभावता की ओर संकेत करते हैं। जगत् के पदार्थों को स्वतन्त्र रूप से नहीं समझा जा सकता। वे एक दूसरे से सम्बद्ध होकर ही अस्तित्त्व में आते हैं। अपनी निरपेक्ष सत्ता न रखने के कारण वे शून्य (स्वभाव-शून्य) हैं। माध्यमिक मत में शून्यता मात्र दृष्टि का निराकरण ही नहीं है, परमतत्त्व (प्रज्ञा) को भी शून्य कहा गया है। तत्त्व बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। बुद्धि की चारों कोटियों (अस्ति, नास्ति, अस्ति च नास्ति च, न अस्ति न च नास्ति) द्वारा भी वह अज्ञेय है। इसीलिए उसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा गया है।[17] चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने के कारण ही तत्त्व को भी शून्य (प्रपंचशून्य) कहा गया है। माध्यमिकों का तत्त्व शान्तरूप है।[18] उसके स्वरूप के विषय में वे मौन रहते हैं। क्योंकि बुद्धि एवम् वाणी की पहुँच तत्त्व तक नहीं है। यह मात्र अनुभव और

साक्षात्कार का विषय है ।

जहाँ तक अद्वैतवाद और शून्यवाद के लक्ष्य का प्रश्न है, दोनों दर्शनों का ध्येय निरपेक्ष तत्त्व की प्राप्ति है । किन्तु, विचारणीय है कि दोनों ने ही बुद्धिवाद और अनुभववाद की पद्धतियों का जमकर खण्डन किया है । 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' [16] कहकर अद्वैतवाद में विचार की सीमा निर्धारित की गयी तथा 'तत्त्व' को विचार से परे माना गया । शून्यवाद में भी 'बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं' कहकर तत्त्व की प्राप्ति में बुद्धि की अपर्याप्तता दिखलाई गई है। दोनों की दृष्टि में दृश्यमान जगत् मायिक है । उसकी उत्पत्ति का कारण अविद्या है । यह जगत् दुःखरूप एवं बन्धन-प्रधान है। अविद्या का निवारण होने पर ही परमार्थ की प्राप्ति संभव है। समस्त अनर्थों में मूलहेतु अविद्या का निवारण करके दोनों ही निरपेक्ष तत्त्व तक पहुँचते हैं ।

इन समानताओं के आधार पर इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि अद्वैतवाद और शून्यवाद की दार्शनिक पद्धति में अभेद है । यद्यपि दोनों का लक्ष्य परमार्थ की प्राप्ति ही है, तथापि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए दोनों भिन्न-भिन्न पद्धति अपनाते हैं । अद्वैतवादी स्वीकारात्मक पद्धति अपनाते हैं तो शून्यवादी निषेधात्मक । दोनों ने ही दार्शनिक सिद्धान्तों में तर्क का आश्रय लिया गया है, पर भिन्न-भिन्न प्रकार से । अद्वैतवादी स्वतन्त्ररूप से तर्क को स्वीकार नहीं करते, श्रुति के सहायक रूप में तर्क की आवश्यकता स्वीकार करते हैं । उधर माध्यमिक तर्क का अवलम्ब लेकर बुद्धि का निराकरण करते हैं । वे वेदान्तियों को भी एक दृष्टिवादी के रूप में ग्रहण और उनका खण्डन भी करते हैं । माध्यमिकों के कथनानुसार अद्वैतवाद की सत् दृष्टि ही व्यक्ति को शाश्वतवाद की ओर अग्रेसित करती है । पर शून्यवादी की यह आपत्ति न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि अद्वैतवाद में केवल तर्क के आधार पर सत् को नहीं माना गया है, प्रत्युत वहाँ श्रुति का आश्रय लिया गया है । स्वतन्त्र रूप से तर्क तो वहाँ भी स्वीकार्य नहीं है । अद्वैतमत में स्वीकार्य श्रुतिज्ञान न तो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है और न स्थूल अनुभव द्वारा । श्रुति के मन्त्रों का दर्शन किन्हीं ऋषियों द्वारा किया गया है । उसे ही 'शब्द प्रमाण' (आगम प्रमाण) माना गया है ।[21] श्रुति का उद्देश्य ऐसे ज्ञान को प्रदान करना है जो साधारण संसाधनों द्वारा अज्ञेय है ।[22] श्रुति का आश्रय लेने के कारण अद्वैतवाद को दृष्टि (तर्क) का परिणाम नहीं कहा जा सकता ।

शून्यवादी श्रुति का आश्रय नहीं लेते । उनके अनुसार तत्त्व मौन रूप है । बुद्धि एवम् वाणी की पहुँच तत्त्व तक नहीं है । बुद्धि-विकल्पों को शान्त करके ही तत्त्व को जाना जा सकता है । दोनों मतों में परमार्थ और व्यवहार का विवेचन किया गया है । जहाँ शंकराचार्य अनुभव और व्यवहार का विश्लेषण करके सत्यासत्य तक पहुँचते हैं, वहाँ शून्यवादी सत्यासत्य तक पहुँचने के लिए बुद्धि का विश्लेषण करते हैं । अपने-अपने इस विश्लेषण द्वारा दोनों ही दार्शनिकसिद्धान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अविद्या और अविद्या द्वारा आवृत होने के कारण ही हम वास्तविक से अपरिचित रह जाते हैं। अद्‌वैतवादी अविद्या को तत्त्व का आवरण मानते हैं । उनका विचार है कि अज्ञानवश तत्त्व का स्वरूप छिपा रहता है तथा नामरूपात्मक जगत् को ही वास्तविक समझ लिया जाता है, जो मिथ्या है । इसके विपरीत माध्यमिक अविद्या को ज्ञान का आवरण मानते हैं । उनका कहना है कि अविद्या के कारण हम वास्तविक ज्ञान से अपरिचित रह जाते हैं । अद्‌वैतवादी अविद्या का निराकरण करके तत्त्व तक पहुँचते हैं तो शून्यवादी ज्ञान तक । इस प्रकार अद्‌वैतवाद की दार्शनिक पद्धति तत्त्व-मीमांसीय है तथा शून्यवाद की ज्ञानमीमांसीय ।

सन्दर्भ—

१. योगसूत्र, २.१५
२. ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य, १. १. १
३. वही, अध्यासभाष्य
४. वही
५. वही
६. वही, २. ३. १
७. बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्करभाष्य, २.४.१०
८. ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र ५
९. केनोपनिषद्, २.३
१०. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, २. २. १
११. वही, १. १. २
१२. माण्डूक्यकारिका, गौडपाद, ३.२३
१३. द सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ० १२९–१३७
१४. वही, पृ० १२९
१५. बौद्धदर्शन और वेदान्त, डा० चन्द्रधर शर्मा, पृ० १९
१६. मध्यमकशास्त्रम्, नागार्जुन, १.३
१७. वही, २२.११
१८. वही, १८.९
१९. तैत्तिरीयोपनिषद्, २.४
२०. बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, ९.२२
२१. वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद, पृ० २६५–२७२
२२. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य, १८.६६

—:o:—

सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता : अर्थविज्ञान के निकष पर

डॉ० ओम्प्रकाश पाण्डेय

शब्द के अर्थ-परिवर्तनमूलक आयामों की अनियमितता को भाषाविदों ने ४-५ दिशाओं में नियमित करने का प्रयत्न किया है। अर्थान्तर की इस प्रक्रिया में शब्द कभी-कभी अपने मूल अर्थ से इतनी दूर चला जाता है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। संस्कृत के शब्द जब देशज भाषाओं में व्यवहृत होते हैं तो बहुत बार उनका पूर्व अर्थ विस्मृत हो जाता है और वे एक नये अर्थ से सम्बद्ध हो जाते हैं। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार— 'सम् + प्र + √डुदाञ् (दाने) + घञ्' के योग से बने 'सम्प्रदाय' और उससे तद्धित प्रत्ययों– (क्रमशः– 'ठक्' और 'तल्') के द्वारा निष्पन्न 'साम्प्रदायिकता' शब्द भी इसी प्रकार के हैं, जिनका सम्प्रति अत्यधिक और निर्बन्ध भाव से प्रयोग हो रहा है। राजनैतिक और सामाजिक नेताओं से लेकर सामान्य जनता तक सर्वत्र इनका जिस अर्थ में प्रयोग प्रचलित है, वह अपने मूल अर्थ से बहुत दूर हट गया है। आज 'साम्प्रदायिक' होने का अर्थ है धर्मनिरपेक्षता से दूर होना। जब हम किसी को 'साम्प्रदायिक' कहते हैं तो निश्चित ही हमारे मस्तिष्क में अंग्रेजी शब्द 'Communal' की समानार्थकता निहित रहती है। आज यह शब्द एक गाली-सा बन गया है। 'सेक्युलरिज्म' (Secularism) के लिए इधर कुछ वर्षों से एक नया हिन्दी शब्द प्रचलित हुआ है— 'सर्वधर्मसमभाव'। सम्प्रति 'साम्प्रदायिक' वह है जो सङ्कीर्णहृदय है; दूसरे शब्दों में जो सर्वधर्म समभाव में विश्वास नहीं करता। संक्षेप में साम्प्रदायिकता आज के नागरिक जीवन में एक बहुत बड़ी विकृति मानी जाती है।

इस शब्द के विकास का एक लम्बा इतिहास है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग वैदिक वाङ्मय में हुआ है। ऋग्वेद में तो नहीं, हाँ, परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में 'सम्प्रदाय' शब्द बहुलता से प्रयुक्त है। 'साम्प्रदायिक' शब्द का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख महर्षि जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसा-सूत्रों में किया है—

'तुल्यश्च साम्प्रदायिकम्' (जै० सू० १.२.८)।

उपर्युक्त अंशों के गम्भीर विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ इसका प्रयोग 'सम्प्रदान' शब्द के अर्थ में हुआ है। पूर्वमीमांसा का सम्बन्ध याज्ञिक क्रिया-कलाप से है; अतः उसके सन्दर्भ में देवताओं के आह्वान से लेकर उन्हें वापस भेजने तक की सभी क्रियाएँ 'सम्प्रदान' शब्द में निहित हैं। तात्पर्य यह कि यथाविधि किसी विशिष्ट अनुष्ठान में देवताओं का आह्वान करना, उन्हें हविष् समर्पित करना और बाद में उन्हें ससम्मान विदा कर देना— ये सभी क्रियाएँ 'सम्प्रदाय' के अन्तर्गत हैं। 'घञ्' प्रत्यय का प्रयोग ही भाव में होता है; 'भाव' का अभिप्राय है क्रिया की पूर्णता, जैसे पाक का अर्थ तब से अन्वित होगा, जब सर्वप्रथम बटलोई चूल्हे पर चढ़ी। यह नहीं कि जब पतीली में स्थित वस्तु पककर तैयार हो गई, तभी वह 'पाक' कहलायेगी। संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोशग्रन्थ 'अमरकोश' (नामलिङ्गानुशासन) में

इसका अर्थ दिया गया है— कुलक्रमागत रहन-सहन । वहाँ यह 'आम्नाय' के पर्यायरूप में दिया गया है (देखिए— अमरकोश ३.२.७) । महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपालवध' (१४वें सर्ग) में इस शब्द का प्रयोग 'आदरपूर्वक अभ्यास करने' के अर्थ में किया है ।

१४ वीं शती में, विख्यात वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य के काल में इस शब्द का सम्बन्ध शैक्षणिक जीवन से था । अपनी 'ऋग्भाष्य-भूमिका' में 'साम्प्रदायिक' शब्द की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा है—

'अनध्यायवर्जनादिनियमपुरस्सरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम् ।'

अनध्याय-वर्जन प्रभृति नियमों का पालन करते हुए गुरु-परम्परा से किया जानेवाला अध्ययन 'साम्प्रदायिक' कहलाता है ।

इस प्रकार 'सम्प्रदाय' का आशय परम्परा या परम्परा से प्राप्त सिद्धान्त अथवा ज्ञान है । यह परम्परा बड़ी दूर तक जाती है, जैसे पाणिनि मुनि की वैयाकरण-परम्परा में अध्ययन करने वाला वैयाकरण पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध हुआ । एक और उदाहरण दिया जा सकता है–काशी, पूना आदि स्थान संस्कृत शिक्षा की दृष्टि से विख्यात स्थान है, वहाँ संस्कृत पढ़ना साम्प्रदायिक हुआ । पन्तनगर का कृषि विश्वविद्यालय कृषि-शिक्षण की दृष्टि से प्रसिद्ध है, वहाँ कृषि का अध्ययन करना साम्प्रद्रायिक कहलायेगा । ८वीं शती के महाकवि भवभूति ने भी अपने 'उत्तररामचरित' में 'सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग परम्परा के अर्थ में ही किया है—

'कृशाश्वतनया ह्येते, कृशाश्वात्कौशिकं गताः ।
अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रे स्थिता इति ।।' (–उत्तररामचरित, ५.१५)

यहाँ सुमन्त्र जृम्भकास्त्रों की परम्परा बतला रहे हैं—ये जृम्भकास्त्र कृशाश्व के पुत्र हैं अर्थात् उन्होंने सर्वप्रथम इस अस्त्र का आविष्कार किया, कृशाश्व से ये कौशिक (विश्वामित्र) के पास पहुँचे, तदनन्तर गुरु-परम्परा से अब ये रामभद्र के पास हैं । श्रीमद्भागवत की 'दीपिका' टीका के रचयिता श्रीधरस्वामी ने भी इसकी यही व्याख्या की है । अभिप्राय यह कि ज्ञान की किसी विशिष्ट शाखा का अध्ययन उस विषय के विख्यात आचार्य या पीठ से करना साम्प्रदायिक है ।

अंग्रेजी में इस शब्द के मूल भाव को वहन करने वाला वस्तुतः कोई शब्द नहीं है । प्रायः 'कम्युनल' (Communal) तथा 'सेक्युलर' (Secular) शब्दों का प्रयोग इसके समानार्थक तथा विलोमार्थक रूप में किया जाता है, किन्तु मेरे विचार से ये दोनों शब्द इसके मूल अर्थ और विपरीत अर्थ को किञ्चिदपि अभिव्यक्त नहीं करते । हाँ, 'Traditional' शब्द अवश्य थोड़ा-बहुत इसके अर्थ का आभास करा देता है ।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पहले 'साम्प्रदायिक' शब्द का अर्थ उत्कृष्ट रूप में ही होता था, किन्तु आज इसके अर्थ का अपकर्ष हो गया है । इस अर्थापकर्ष में सर्वाधिक हाथ, पेशेवर राजनीतिज्ञों का है जिन्होंने बिना सोचे-समझे इसका प्रयोग किया है, 'कम्युनल रायट्स' को 'साम्प्रदायिक दंगा' कहने में उन्हें देर नहीं लगती । कहा जा सकता है कि राजनीतिज्ञों की मूर्खता की बलिवेदी पर एक शब्द की गरिमा शहीद हो गई । पत्रकारिता को राजनीतिज्ञों के पीछे-पीछे चलाने वाले पत्रकार भी इस दृष्टि से कुछ दोषी हैं । उन्हीं की यह देन है कि अब इस शब्द से मजहबी कट्टरता (Phanaticism) की गन्ध आने लगी है ।

अवध के हास्य साहित्यकार

जी० पी० श्रीवास्तव का समाज-धर्म

डॉ० हौसिलाप्रसाद सिंह

जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने सर्जित साहित्य में न केवल समाज की समसामयिक परिस्थितियों को हास्य, व्यङ्ग्य और विनोद के माध्यम से प्रतिबिम्बित किया है, वरन् उन्होंने ज्वलन्त सामाजिक समस्याओं को पहचानकर उसके समाधान का भी प्रयत्न किया है। जब तक वैयक्तिक परिधि से बाहर निकलकर कुरीतियों तथा दोषों को सामाजिक अथवा सामूहिक धरातल से नहीं देखा जाता तब तक साहित्य संकुचित और सीमित रहता है। इसीलिए सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, कुत्सित व्यवहारों, अमानवीय मानदण्डों, विघटित मानवीय मूल्यों तथा अमर्यादित आदर्शों को चित्रित करने वाले अस्त्रों के रूप में उन्होंने साहित्य में हास्य, व्यङ्ग्य और विनोद आदि का अधिकाधिक उपयोग किया है। जी० पी० श्रीवास्तव का साहित्य समाज के कुत्सित व्यवहारों का कोष है। कदाचित् इसी कारण उन्होंने समाज की किसी भी कुप्रवृत्ति को अछूता नहीं छोड़ा। जहाँ एक ओर उनका साहित्य समाज की लज्जास्पद कुप्रवृत्तियों, कुप्रथाओं का यथार्थ रूप में जघन्य लेखा उपस्थित करता है, वहीं दूसरी ओर वह समाज की इन बुराइयों के प्रति क्रान्ति करने का आह्वान भी करता है। ऐसी स्थिति में यदि साहित्य में 'समाजवादी साहित्य' के नाम की कोई वस्तु स्वीकार की जाती है तो जी० पी० श्रीवास्तव का साहित्य पूर्णतः समाजवादी है। इस दृष्टि से यह बहुत स्तुत्य और महत्त्वपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि समाज के इसी दोषांकन के कारण आज जी० पी० श्रीवास्तव को हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनकी कृतियों में किन्हीं साहित्यिक गुणों का अभाव सम्भव हो सकता है, पर संस्कृति और समाज के एक अन्धकारपूर्ण पक्ष और उनकी कुप्रथाओं का चित्रण जो समाज की सुरक्षा की जड़ में घुन की भाँति लगा हुआ है, अवश्य उपस्थित किया गया है। इनके प्रति विद्रोह के द्वारा इनका सुधार-परिष्कार मानवता का कर्त्तव्य है, धर्म है। इन सभी तथ्यों को आलोक में लाने का श्रेय सचमुच उन्हीं को है। कुछ तत्कालीन कुप्रथाओं, परम्पराओं और कुप्रवृत्तियों से जी० पी० श्रीवास्तव वस्तुतः क्षुब्ध जान पड़ते हैं, यहाँ उनका उल्लेख करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

(क) वैवाहिक अभिमत—

हिन्दू परिवारों में विवाह से पूर्व भावी वर-वधू एक दूसरे से अनभिज्ञ रहते थे। केश-कर्त्तक अथवा बारी आदि वर अथवा बधू की खोज में भेजे जाते थे। धन के लोभ में वे युवक तथा युवतियों के सत्य-असत्य गुण गिनाकर किनारा काट जाते थे और दम्पति का भावी जीवन क्लेशमय बन जाता था। इस प्रकार की कुप्रथा का जी० पी० श्रीवास्तव ने अनेकानेक स्थलों पर भण्डाफोड़ तथा विरोध किया।[1] उनकी दृष्टि में न पुरानी लकीरों का

पीटना न्यायसङ्गत है और न विदेशी फैशन में मदान्ध होना। वे इसके लिए पूर्वानुराग का होना अनिवार्य मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने 'सड़कों पर प्रेम' करने वाले प्रगल्भ विदेशी युगलों का उपहास किया है।[2] विवाह से पूर्व वर और कन्या का परिचय एवं मिलन बिना स्थूल ऐन्द्रिय सम्बन्ध के वांछनीय है। साथ ही, गुरुजनों और स्वजनों के परामर्श को आवश्यक कहा गया है, क्योंकि युवक-युवतियों का प्रेम बहुधा 'नेत्रहीन' हो जाता है; वे 'ऐब' देख नहीं पाते हैं।[3] दहेज के अभिशाप के अनेक दुष्परिणामों-जिसको समाज आज तक भुगत रहा है—की ओर भी श्रीवास्तव ने विविध स्थलों पर संकेत किया है।[4] बारात में अनगिनत व्यक्तियों को समूहबद्ध रूप में ले आना और उनकी किसी सुख-सुविधा का प्रबन्ध न कर पाना भी एक दूसरी भीषण समस्या है। जी० पी० श्रीवास्तव के मत से आज के युग में कम से कम बराती ही वैवाहिक-कार्य को सुचारु ढंग से सम्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि प्राचीन युग की भाँति न तो अब बारातें पैदल अथवा बैलगाड़ी की यात्राए करती हैं और न डाके आदि का उतना भय ही रहता है। वे लम्बी-चौड़ी बारातों को विवाह के उपद्रव का मूल कारण मानते हैं।[5] वर-वधू के गुणों की उनकी अपनी धारणा है। उनकी अनेक रचनाओं में वृद्धों के तरुण किशोरियों से अनमेल विवाहों के दुष्परिणाम वर्णित हैं। उनके विचारानुसार परिवारों का आर्थिक स्तर और वर-वधू की आयु में समता आवश्यक है। इसी प्रकार धन (सम्पत्ति) का एक वर के लिए उतना महत्त्व नहीं जितना उसकी 'सूरत, शकल, इल्म, हुनर, दिल और नौजवानी' का है। 'विधवा' उनकी दृष्टि में समाज के लिए एक कलंक है। जी० पी० श्रीवास्तव निजी पारिवारिक क्षेत्र में इस विधवा-विवाह का अनुमोदन अपनी बहिन के पुनर्विवाह के द्वारा कर चुके हैं। विधवाओं के महादुःखपूर्ण दयनीय जीवन का अंकन करके उन्होंने विवाह द्वारा उसका परिहार 'प्राणनाथ' तथा 'भूलचूक' आदि रचनाओं में दिखाया है।[6]

(ख) नारी की सत्ता : वेश्यावृत्ति—

जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने साहित्य में नारी की सत्ता के प्रति पुरुष के भावों का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। पुरुष उन्हें पर्दे में रखना चाहते हैं, परन्तु वे बाह्य पर्दा-प्रथा को निरर्थक समझते हैं। उनके मतानुसार नारी का आन्तरिक सतीत्व ही वास्तविक लज्जा का आगार होता है। उन्होंने अनेक स्थलों पर कहा है कि यदि स्त्री का हृदय अमल है तो बाह्य आवरण की कोई आवश्यकता नहीं। हमें नारी के उस आत्मप्रेरित आचरण पर विश्वास रखना चाहिए जो बाह्य अवगुंठनों से कहीं दृढ़तर प्राचीर बनाता है। नारी और पुरुष दोनों पर्दा-प्रथा के कारण एक-दूसरे को नहीं समझ पाते।[7] नारी के दुश्चरित्र का प्रमुख कारण उसके प्रति पुरुष का भाव है। पुरुष ने नारी को मात्र भोग्या समझ लिया है। वह उसकी स्थूल काया पर अपना एकाधिपत्य चाहता है। नारी की समाज में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यदि कोई स्त्री समाज में स्वतंत्र जीवन-यापन करना चाहती है तो उसके लिए वेश्यावृत्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं। वह मात्र 'जुल्म' सहना जानती हैं; रोकना नहीं'।[8] पुरुष का स्वभाव इतना पाशविक है कि औरतों के दूकान पर बैठने से पानों का विक्रय अधिक होता है। वह वासना के सन्मुख इस प्रकार आत्म-विस्मृत हो चुका है कि 'गड़बलझाला' में वृद्ध, मनहूस, बुद्धू को अपनी पीठ पर सवारी कराता है।[9] नारी छल-कपट से हँस हँस कर फँसाई जाती है।[10] उससे 'प्रेम के नाम पर धोखेबाजी' का व्यवहार होता है।[11]

जी० पी० श्रीवास्तव भारतीय नारियों के सतीत्व एवं संयत आचरण का बड़ा आदर करते हैं। उनकी रचनाओं में पाश्चात्य फैशन में भ्रमित युवक-युवतियों का चाल-चलन यथार्थ

रूप में चित्रित है । 'नकदम' में मैडम लीला इसका उदाहरण हैं । उन्होंने नारी को किसी उत्सव, मेला, तीर्थ आदि में सम्मिलित होने का निषेध नहीं किया है । हाँ, इनकी आड़ में फैला व्यभिचार उनकी दृष्टि में अवश्य ही निन्दनीय है । उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया है कि हिन्दू इस भ्रष्टाचार के प्रति चूँ तक नहीं करते ।[12]

समाज में कतिपय धनाढ्य राजा-महाराजा और नवाब आदि वेश्याओं को प्रश्रय देते हैं । इनके कारण समस्त समाज का वातावरण दूषित हो जाता है । वेश्यावृत्ति पर उन्होंने अनेक स्थलों पर व्यंग्य किया है, पर कहीं-कहीं उसका समर्थन करते भी जान पड़ते हैं । 'लतखोरी लाल' में इनकी अटारियों को 'बोलबाल का शिक्षालय' कहा गया है ।[13] इसी प्रकार 'मय्या अकिल बहादुर' के एक तर्क-वितर्क के सन्दर्भ में वह कहते हैं— 'आखिर वे लोग जायेंगे कहाँ ? समाज में इनका भी तो रहना जरूरी है । जिस मकान में नाली न हो वह कितने दिन तक खड़ा रह सकता है ? सारा मकान गन्दा होकर बैठ जायगा' ।[14] इसके वीभत्स दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि कई स्थान पर तो बाप और बेटे एक ही वेश्या से प्रेम करते देखे जाते हैं । वेश्याएँ उनका हर सम्भव अपमान करती हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि अर्थ-प्रधान होती हैं प्रेमप्रधान नहीं ।[15]

(ग) धर्माडम्बर—

धूर्त, धर्माचार्य और धर्माडम्बरी सभी जी० पी श्रीवास्तव के लिए उपहास्यास्पद हैं । उन्होंने हिन्दू, मुसलमान और अंग्रेज, तीनों के ढोंगी कार्य-कलाप की विधिवत् खिल्ली उड़ाई है । 'कुर्सीमैन' में धोती प्रसाद भंगी के बदले उसकी झाड़ू से मारे जाने में गनीमत समझते हैं ।[16] अस्पृश्यता जैसे कलंकित आडम्बर पर उन्होंने कई रचनाओं में व्यङ्ग्य किया है । इसी रचना में 'मंगलामुखी' हिन्दू वेश्याओं से सम्भोग में पण्डित भी धर्म पर आँच नहीं मानते ।[17] 'लतखोरीलाल' में 'ताड़वाली-गणिका' के यहाँ छेदी मियाँ हिन्दुओं को छत से पान डोरे से लटका कर देते हैं ।[18] अंग्रेज एक ही रूमाल से मुँह और जूता दोनों पोछते हैं, पर उनके धर्म में उदारता तथा अन्य धर्मावलम्बियों को अपने अन्तर्गत आत्मसात् करने की अद्वितीय क्षमता है । अनेक अछूत हिन्दू जातिप्रथा और साम्प्रदायिकता की यातना से बचने के हेतु ईसाई धर्म ग्रहण करते हैं । उनकी दृष्टि में 'यज्ञोपवीत' आदि का धारण करना लकीर का फकीर होना है ।[19] उनका कथन है कि 'हमें अपने प्राचीन संस्कारों को भूलना न चाहिए, परन्तु साथ ही उनका समय के अनुरूप विकास करते रहना चाहिए, न कि अन्धानुकरण' ।[20] धर्माडम्बर के प्रचारकों, उपदेशकों और जाति विरादरी के कर्णधारों एवं धार्मिक नेताओं की उन्होंने अच्छी खबर ली है जिसका उदाहरण 'गड़बलझाला' का मनहूस प्रस्तुत करता है ।[21] सभी लोग स्वार्थ के लिए धर्म के सभी नियमों को तोड़-मरोड़ लेते हैं । वस्तुतः उन्होंने धर्म के ढोंगी प्रचारकों का विरोध अवश्य किया है, परन्तु किसी धर्म विशेष का नहीं । उनकी दृढ़ आस्तिकता अनेक अवसरों पर लक्षित होती है ।[22] हाँ ! हिन्दू परिवार की अपेक्षा मुसलमान परिवार में प्रत्येक स्थान पर झगड़े-झंझट, मारपीट, भोग-विलास और गाली-गलौज से पूर्ण निम्न-स्तर को उन्होंने स्वीकार किया है ।[23]

(घ) शासन—

जी० पी० श्रीवास्तव की 'सन्ध्याकाल' में सर्जित रचनाओं में जनतंत्र की सरकार पर

गहरे व्यङ्ग्य किए गये हैं, यथा— 'बौछार' में रविवार का अवकाश और ग्राम पंचायतों की कुरीतियों का यथार्थ चित्रण किया गया है।[24] यही नहीं, यथार्थ के अनुरोध से उन्होंने अंग्रेजी शासन की विभिन्न कुप्रथाओं, कुरीतियों तथा कुप्रवृत्तियों और अधिकार साहबी पर व्यङ्ग्य द्वारा कटाक्ष किये हैं। अधिकारी वर्ग अंग्रेजों से पक्षपातपूर्ण प्रश्रय पाकर प्रभुता से मदान्ध दिखाया गया है। उनके मतानुसार 'पुलिस अपने बाप की भी सगी नहीं होती'।[25] उनके साहित्य में पुलिस का ऐसी संस्था के रूप में अंकन हुआ है जो किसी की भी 'आबरू' मिट्टी में मिला सकती है, पर सम्मान किसी को नहीं दे सकती। उनका सारा पौरुष छल-छन्द की अभिवृद्धि में लगा रहता है। वकील, जज, टिकट कलेक्टर, टी० टी० आई, पटवारी सभी अपनी मानवता और सामाजिकता को त्यागकर 'हेकड़ी' में चूर रहते हैं। ये सभी लोग सफेद को स्याह ओर स्याह को सफेद' करने में अत्यन्त पटु हैं। उनकी 'उलटफेर' नाम्नी रचना में इसका सविस्तार दिग्दर्शन कराया गया है।[26]

(ङ) आर्थिक व्यवस्था—

भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर भी जी० पी० श्रीवास्तव ने कम चोटें नहीं की हैं। उन्होंने डाक के बढ़े मूल्य, यातायात सम्बन्धी नियंत्रणों, चोर बाजारी और महँगाई, एक साथ कई स्थानों पर कटाक्ष किया है, जो समाज की रीढ़ को तोड़ देते हैं।[27] मध्यम वर्ग के प्राणी कार्यालयों के अफसरशाही से तंग है। घर पर इनाम, आयकर तथा चन्देवाले दम नहीं लेने देते। बेकारी और ऋण समाज के अभिशाप हैं। माह के माह लोगों को 'अवैतनिक उम्मेदवारी' करनी पड़ती है। वकील दलाली के कार्य में दक्ष हैं जो समाज में दुर्व्यवस्थाओं को फैलाते हैं।[28] वे अन्धाधुन्ध व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद में लीन मंदिर और वेश्यासेवी राजा-नवाब रईसों से सन्तुष्ट नहीं हैं। ऐसी भीषण समस्याओं के समाधान की ओर संकेत करने का उपक्रम भी उन्होंने किया है जो 'लक्कड़ बग्घा' तथा 'उलटफेर' में द्रष्टव्य है।

(च) पारिवारिक संस्था—

जी० पी० श्रीवास्तव ने अपने साहित्य में 'मध्यमवर्ग' को ही 'परिवार' की संज्ञा से अभिहित किया है।[29] उनकी मान्यतानुसार परिवार के सदस्यों के परस्पर विरोध प्रत्येक घर में कलह और फूट उत्पन्न कर देते हैं। बाप-बेटे, स्त्री-पुरुष और सास बहू का मन अन्तस् से कभी एक दूसरे से नहीं मिलता।[30] दामाद अपनी उद्दण्डता के कारण 'शनीचर' ग्रह की समता करते हैं।[31] उन्होंने इस कलह से छुटकारा पाने के लिए परिवार की एकता को नष्ट नहीं करना चाहा। इसी कारण हिन्दुओं की संयुक्त परिवार-प्रथा का उन्होंने सदैव अनुमोदन किया है।[32]

(छ) शिक्षा और साहित्य-सर्जन—

अधिकांशतः भारतीय जनता निरक्षर है जिसकी मान्यताएँ अद्भुत हैं। उनके कथनानुसार 'अगूँठा' ही उसकी समस्त विद्या का भण्डार है। इसके प्रयोग से वे अनेक प्रपंचों की व्यूह-रचना में फँस जाते हैं। 'करिया अच्छर भैंस बराबर' में उन्होंने इस समस्या को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। लम्बी दाढ़ी' के पण्डित जी सदृश गुरु स्वयं संस्कृत का गला घोट रहे हैं। तथाकथित 'ग्रेजुएट' लोग अपनी शान में 'भोली नादान और संकुचीली स्त्री को मूर्ख, फूहड़, गँवार और गावदी' समझते हैं। वे कोई गलती कर ही नहीं सकते क्योंकि वे 'ग्रेजुएट' हैं।[33]

अर्वाचीन साहित्य और समाज के प्रति उनकी दृष्टि कुछ सत्य और अधिकतर अपनी प्रारम्भिक असफलता के कारणवशात् क्षोभपूर्ण है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में सम्पादक, प्रकाशक और समीक्षक किसी की बुद्धि और योग्यता पर उनका विश्वास नहीं। मात्र कपट और प्रचार के द्वारा यह सभी अपना 'आदर और आतंक' फैला देते हैं।[३४] इस लपेट में उन्होंने लेखकों तथा कवियों तक को नहीं छोड़ा है। कवि और कथाकार यथार्थ से दूर कल्पना के स्वर्णिम देशों में भटकते रहते हैं। 'झूठमूठ' नाम्नी रचना इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'लम्बी दाढ़ी' में 'मास्टर साहब' जो उपन्यास पढ़ते हैं और वास्तविक जीवन में जो देखते हैं उसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। कवियों तथा लेखकों का यौवन भुक्त भोगी जीवन ही शृंगारी भावों की अभिव्यक्ति कराता है, ऐसी उनकी मान्यता है।[३५] भाषा की कठोरता से भावों का सौन्दर्य दब जाता है। 'साहित्य का सपूत' (अंक२-दृश्य २) में ऐसी ही भाषा पर कठोर व्यङ्ग्य किया गया है जो बड़ा मर्मस्पर्शी और स्पष्ट है।

(ज) आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता—

जी० पी० श्रीवास्तव की दृष्टि में इस जगत् में आध्यात्मिकता का कोई औचित्य नहीं है। यहाँ तो मनुष्य का जीवन आध्यात्मिक सुख और शांति की कामना से दूर लौकिक सुख-भोग में इतना लिप्त हो गया है कि उसकी दृष्टि आत्मकेन्द्रित और लोभी हो गई है।[३६] उन्होंने मनुष्य की इस भौतिकतावादी मनोवृत्ति पर तीखे व्यङ्ग्य बाण छोड़े हैं। चिकित्सक धन के लोभसंवरणवश रोगी के प्राणों की तनिक भी चिंता नहीं करते। वकील अपने 'मुवक्किलों के फाँसी हो जाने पर भी शुकराना' चाहते हैं। धर्म और समाज के नेता जनता के चन्दे से 'गुलछर्रे' उड़ाते हैं। साधू-संत, पण्डे और महन्त भोग में रत हैं ज्योतिषी विद्याहीन 'लुटेरे' हैं। 'दर्जी' अन्धाधुन्ध कपड़ा चुराते हैं। 'परोपकार की भावना' का प्रायः लोप हो चुका है। स्वार्थ की पराकाष्ठा यह है कि 'लालबुझक्कड़' का गोबरधन कहता है कि दौलत को उसकी पुत्री का विवाह सम्पन्न हो जाने पर मरना चाहिए था।[३७] उनके विचारानुसार मनुष्य की तीन कोटियाँ है—सात्विक, राजसी और तामसी। सात्विक जीव परमार्थी हैं, राजसी स्वार्थी तथा परमार्थी दोनों, पर तामसी जीव चाहे अपनी हानि हो जाय, दूसरों को कष्ट देने में ही सुख पाते हैं। आजकल ऐसे ही व्यक्तियों का आधिक्य है।[३८] संसार में छल-कपट का बोल-बाला है। 'दुनियाँ उसी को पूजती है जो दुनियाँ को उल्लू बनाता है, लूटमार ही सबसे उत्तम उद्योग है।[३९]

(झ) मौलिक-विचार एवं चिन्तन—

व्यक्तिगत जीवन की अनेक असफलाओं के कारणवशात् ही जी० पी० श्रीवास्तव की समस्त रचनाओं में समाज के प्रति एक क्षोभ और विद्रोह की भावना सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनकी दृष्टि में समाज का ढाँचा स्वार्थपूर्ण है। वे कलयुगी समाज का चित्रण करते हुए कहते हैं कि— 'साधू कौन ? जो निकम्मा है। ब्रह्मचारी कौन ? जिसके पास टका न हो। देवता को मानने वाला कौन ? जो रोगी है। और पतिव्रता कौन ? वृद्धा नारी'।[४०] उनके अनेक विचार संसार के प्रति घृणा और जुगुप्सा भाव जाग्रत करते हैं। आज के संसार में समाज में संसारनिरपेक्ष, ऐकान्तिक सदाचारपूर्ण जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति का प्राप्य, उनके अनुसार; दुःख, नैराश्य, संत्रास, और कुंठा ही हैं। इसे पलायनवादी प्रवृत्ति की छाया ही कहा जायगा।[४१] गृहस्थी के झंझटों से ऊबा हुआ निवृत्तिपरायण ऐकान्तिक सन्यासी का जीवन, अभीष्ट आदर्श नहीं, वरन् विस्फोट की हलचल के

द्वारा उसमें सुधार और परिष्कार करने वाला एक विद्रोही जीवन अनुकरणीय है, ऐसा उनका अभिमत है।[42]

साहित्य के प्रति उनकी विचार-सरणि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मात्र कुप्रवृत्तियों, कुप्रथाओं तथा न्यूनताओं का लेखा ही साहित्य का प्रतिपाद्य नहीं है, वरन् उसके सुधार की एक न एक आशा-पूर्ण किरण को प्रकाशित करना भी उसका महान् धर्म है। 'उलटफेर' में हँसमुख और आजिज के जीवन इसके प्रमाण हैं। उन्होंने व्यक्तिगत न्यूनताओं के लिए अनेक स्थलों पर समाज को दोषी ठहराया है, इस दृष्टि से उनकी धारणा साम्यवादी ठहरती है। उपयुक्त सुरक्षा तथा जीवन के साधन न उपलब्ध होने से ही व्यक्ति चोरी और डाके में हाथ डालता है। 'बौछार' में फूल कहता है— 'चोरी! इसके सिवाय बेकारों के लिए कोई काम ही नहीं।...... अजी जनाब, मजबूरियाँ ही लोगों को चोर और डाकू बनाती हैं'।[43] धन-वैभव के अभाव में भी स्त्री-पुरुष का नैसर्गिक प्रेम स्वर्ग के समान होता है। उनके मतानुसार 'जो मुहब्बत, जो सच्चाई, जो सादगी इस छोटी झोपड़ी में है, वह बड़े-बड़े महलों में भी दिखाई नहीं पड़ती'।[44] नारी का आदर्श उनकी दृष्टि में यह होना चाहिए— 'पति का वह प्रेम जो हम स्त्रियों के लिए सारे संसार की धन-दौलत से भी बढ़कर है और त्रिलोक के सारे आनन्द और सुखों से भी जिसकी बराबरी नहीं होती'।[45] अतः नारी का कर्तव्य सुखी, समृद्ध परिवार का निर्माण करना है। अतः इन विविध विचार-विन्दुओं के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि जी० पी० श्रीवास्तव की दृष्टि समाज के प्रति समाजवादी, साम्यवादी और आदर्शवादी ही रही है।

सन्दर्भ—

१,२- मार मार कर हकीम, पृ० क्रमशः २१ तथा २३
३,४- नकदम, पृ० क्रमशः ३७ तथा ४१
५- चाल बेढब, पृ० ४१
६- मार मार कर हकीम, पृ० २८
७,८,९,१०,११,१२- दुमदार आदमी, क्रमशः पृ० ४१, ५३, ५३, ६२, ६२
१३- लतखोरीलाल, पृ० ४५
१४,१५- भैया अकिल बहादुर, पृ० ११२
१६,१७- कुर्सीमैन, क्रमशः पृ० ३५, ४१
१८- लतखोरी लाल, पृ० ८१
१९,२०- नकदम, पृ० ३७
२१- गड़बड़झाला, पृ० ४७
२२,२३- नकदम, पृ० ७३
२४,२५- बौछार, पृ० क्रमशः २९ तथा ५१
२६- उलटफेर, पृ० २१–४५
२७,२८- लतखोरीलाल, पृ० ३४
२९,३०,३१,३२- प्राणनाथ, पृ० ५७
३३- बौछार, पृ० ८१
३४- वार्त्ताओं का परिचय, पृ० १३०
३५- साहित्य का सपूत, पृ० ३५
३६,३७- लाल बुझक्कड़, पृ० क्रमशः ४३ तथा ५५
३८,३९- कुरसीमैन, पृ० क्रमशः ६७ तथा ७३
४०,४१- नकदम, पृ० क्रमशः ६६ तथा ६७
४२- प्राणनाथ, पृ० ९१
४३- बौछार, पृ० ४६ तथा १३६
४४,४५- प्राणनाथ, पृ० क्रमशः २९ तथा ५५

—:o:—

अयोध्या में राम की मधुरोपासना

डॉ० कृष्ण चन्द्र लाल

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जन्मस्थली होने के कारण अयोध्या रामधामों में अपना प्रमुख स्थान रखती है। यही कारण है कि रामोपासकों का अयोध्या के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। ख्यात रामभक्तकवि एवं महात्मा गोस्वामी तुलसीदास ने अपने सर्वपूज्य ग्रंथ रामचरितमानस का प्रणयन इसी पावन भूमि में किया और राम-भक्ति को जन-जन के हृदय में अभिषिक्त करके समूचे उत्तर भारत को 'राममय' बनाने का असाध्य कार्य किया। कहा जा सकता है—यदि गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव न हुआ होता और उन्होंने 'मानस' की रचना न की होती तो राम की मर्यादा भक्ति शायद ही इतनी प्राणवती होकर जनमानस में पैठती। किन्तु एक तथ्य जो हमे आश्चर्य में डाल देता है, वह यह कि जिस पुण्य-वसुन्धरा पर गोस्वामी जी ने 'मानस' की रचना करके राम की मर्यादा-भक्ति का प्रसार किया, सम्प्रति वह धरा (अयोध्या) राम की रसिक भक्ति-धारा के प्रवाह में पूर्णतः निमग्न हो गयी है। यहाँ से वहाँ तक अयोध्या में रसिक-गद्दियाँ और सीताराम की मधुर लीला में मस्त रसिक-भक्त ही दृष्टिगोचर होते हैं। आज अयोध्या राम-रसिकों की प्रमुख निवासस्थली बन गयी है, यहाँ तक कि निगुर्णोपासक भी सीताराम की लीलाओं में रसमग्न दिखाई पड़ते हैं।

राम की रस-भक्ति का प्रवर्त्तन १७ वीं शताब्दी में स्वामी अग्रदास ने किया, जो मैहर के रहनेवाले थे। यद्यपि यह रसिक धारा उनसे पूर्व भी अपने क्षीण रूप में गोस्वामी जी की मर्यादा राम भक्ति-धारा के समानान्तर ही बहती चली आ रही थी, परन्तु उस समय वह व्यक्ति-साधना तक ही सीमिति थी। अग्रदास जी ने 'ध्यानमंजरी' जैसे ग्रन्थ की रचना करके उसके सैद्धान्तिक स्वरूप को प्रस्तुत किया और इस साधना के भक्तों को 'रसिक' कहकर 'रसिक-सम्प्रदाय' को जन्म दिया। वे जानकी जी की उपासना सखी भाव से करते थे। रसिक साधना में युगल दम्पति के ध्यान और उनकी मधुर लीलाओं के रसपान पर विशेष बल दिया जाता है, जो केवल उच्च संस्कार-सम्पन्न रसिकों को ही प्राप्त हो सकता है—

यह दम्पति वर ध्यान
रसिक जन नित प्रति ध्यावै।
रसिक बिना यह ध्यान
और सपनेहु नहिं आवै॥
(ध्यानमंजरी)

इस भक्ति में 'सखीभाव' की प्रधानता होती है। साधक अलि (सखी) के रूप में दिव्य साकेत में सम्पन्न होने वाली सीताराम की मधुर लीलाओं का अवलोकन-सुख प्राप्त कर कृत-कृत्य होता है। 'युगल सरकार' का नित्य साहचर्य-सुख प्राप्त करना ही उसकी साधना

का परम लक्ष्य होता है। सीताराम की लीला का सुख वह दो प्रकार से प्राप्त करता है—

१. तत्सुख भाव से

२. स्वसुख भाव से।

तत्सुखी-भाव का तात्पर्य है, उसके सुख से सुखी रहना। इसमें सखियाँ उनकी लीलाओं की मात्र द्रष्टा होती हैं, परन्तु स्वसुख में वे भोक्ताभाव से उन लीलाओं में साक्षात् उपस्थित रहती हैं और उनके अंग-स्पर्शादि का सुख प्राप्त करना ही उनका स्वसुख है, जो तत्कृपोपलब्ध होता है। इन दो भावनाओं के विकास में रसिक साधना की दो शाखाएँ हो गयी हैं— तत्सुखी शाखा और स्वसुखी शाखा।

स्वामी अग्रदास जी ने तत्सुखी भावना को प्रमुखता दी थी, परन्तु १९वीं शताब्दी में अयोध्या के प्रसिद्ध महात्मा जनकराज किशोरी शरण 'रसिक अली' जी ने स्वसुखी भावना का प्रवर्त्तन किया, जिसका तत्सुखी भावोपासकों ने घोर विरोध किया, परन्तु उसका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं हुआ। अयोध्या में इन दोनों शाखाओं के भक्त और गद्दियाँ हैं, इतना अवश्य है कि स्वसुखी भावोपासकों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि रसिकों ने राम के जिस रूप को अपने ध्यान का केन्द्र बनाया, वह गोस्वामी तुलसीदास के राम से काफी भिन्न है। गोस्वामी जी ने हमारे सम्मुख राम के दनुजदलन, दुष्टनिकन्दन और मर्यादा पुरुषोत्तम वाले रूप को प्रस्तुत किया था और सीता को उनकी परम शक्ति माना था। रसिकोंने राम को कृष्ण की भाँति लीलापुरुष और सीता को राधा की भाँति लीला नायिका माना तथा उनकी लीलाओं को सम्पन्न करने वाली असंख्य सखियों की कल्पना की, जो सीता-राम के मनोनुकूल लीलाएँ किया करती हैं—

'जेहि विधि मुदित
रहहिं सियारामा।
सो सब विधि
अलिगन करहिं सुकामा॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राम-भक्ति में उभरती हुई इस साधना को गर्हित और निंद्य घोषित करके विद्वानों को सावधान रहने की चेतावनी दी थी किन्तु उसका इस साधना और उसके साहित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह साधना धीरे-धीरे बल पकड़ती गई और देखते-देखते लगभग सभी प्रमुख रामतीर्थों (चित्रकूट, मिथिला, अयोध्या) में यह छा गयी। कालान्तर में डा० भगवती प्रसाद सिंह और डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने इस साधना के स्वरूप और साहित्य का गहन अध्ययन-विश्लेषण करके प्रमाणित किया कि इसकी शृंगारिकता से विमुख होने की आवश्यकता नहीं है। यह तो रस-साधना है, भक्ति का प्रगाढ़तम रूप है। इसका साहित्य भी उपेक्षणीय या निन्दनीय नहीं है।

अयोध्या में मधुरोपासना का प्रसार—

मध्यकाल में मुगल शासकों की धार्मिक असहिष्णुता का शिकार अयोध्या भी हुई थी

और एक प्रकार से इसके हिन्दू-धर्मस्थली होने के गौरव को नष्ट कर देने का कुत्सित प्रयास भी हुआ था। फलतः अयोध्या मुगल शासकों के आतंक के कारण दीर्घ काल तक भक्तों का निवास–स्थल नहीं बन सकी। राम-भक्तों के लिए एक विशेष प्रकार का संकट और था, वह यह कि दसनामी गोसाइयों के आतंक और अत्याचार ने भी अयोध्या में वैष्णवों का जीना दूभर कर दिया था और वे अयोध्या छोड़कर अन्य रामतीर्थों में चले गये। फलतः दीर्घकाल तक अयोध्या रामोपासकों से शून्य रही, परन्तु मुगल साम्राज्य के पतन और नवाबों की कुछ उदार धार्मिक नीति से अयोध्या में पुनः धार्मिक वातावरण पनपा। इस समय तक अन्य क्षेत्रों की भाँति अयोध्या में भी दसनामी गोसाइयों के आतंक को समाप्त करने के लिए रामानन्दी भक्तों के सैनिक-संगठन के सात अखाड़े भी स्थापित हो चुके थे, जिन्होंने उनके अत्याचार को समाप्त करके वातावरण को शान्तिमय बनाया। अयोध्या में अखाड़ों की स्थापना हो जाने और उससे वैष्णवों की सुरक्षा का प्रबन्ध हो जाने के कारण मिथिला, चित्रकूट आदि स्थानों में रहनेवाले रामरसिकों का आगमन शुरू हुआ। मिथिला से आने वाले रसिक की चर्चा करते हुए साकेतवासी महात्मा रघुनाथ प्रसाद ने लिखा है :

मिथिलापुर के सन्त महन्ता।
आवहिं लै सौगात अनन्ता॥
ते सब कनक भवन पहुँचावैं।
सियाराम हित लाड लडावैं॥
रामकोट रजधानी खासी।
रहत तहाँ माधुर्य चपासी॥

इस प्रकार धीरे-धीरे रैवासा, गलता और चित्रकूट से भी रसिकों ने अयोध्या में आकर राम की रसोपासना का प्रचार किया और अपनी गद्दियाँ स्थापित कीं, परन्तु अयोध्या में मधुरोपासना का विधिवत् प्रचार-प्रसार महात्मा रामप्रसाद बिन्दुकाचार्य ने १८वीं शताब्दी में किया।

बिन्दुकाचार्य जी का जन्म लखनऊ के निकट मलीहाबाद में सं० १७६० में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाल्यकाल में इनका मन पढ़ने लिखने में न लगकर इधर-उधर घूमने और लाल-मुनियों के लड़ाने में अधिक रमता था, जिससे तंग आकर उन्हें जिम्मेदार बनाने के उद्देश्य से इनके माता-पिता ने इनका विवाह कर दिया, परन्तु ये घर-गृहस्थी के प्रपंच में पड़ते हुए भी उससे सर्वथा उदासीन ही रहे। कुछ कालोपरांत इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। पत्नी का अन्तिम संस्कार करने के बाद ये गांव के बाहर ही जानकी बाग नामक स्थान में भगवद्-भजन करने लगे। कुछ वर्षों के बाद रामनवमी के अवसर पर ये अयोध्या चले आये। उस समय यहाँ शैव संन्यासियों का उपद्रव जोरों पर था। वे वैष्णवों को देखते ही या तो मार डालते थे, या उन्हें बुरी तरह पीटकर धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य करते थे, परन्तु अपनी साधना और सिद्धि के चमत्कार से राम प्रसाद जी ने उन गोसाइयों को इस प्रकार चमत्कृत किया कि वे इनके सामने श्रद्धावनत हो गये और धीरे-धीरे इनकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। इन्होंने अपनी कुटी 'सोनपुर कुण्ड' पर बनवाई। सम्वत् १७८७ को जानकी नवमी के दिन एक विशेष घटना घटी। उस दिन पूजा के समय ये अपने मस्तक पर तिलक लगाना भूल

गये, परन्तु दण्डवत् करके उठने के बाद इनके मस्तक पर 'बिन्दी' लगी हुई थी । राम प्रसाद जी को अपनी भूल का ज्ञान हुआ और साथ ही उनमें यह विश्वास जाग्रत हुआ कि यह बिन्दी महरानी जानकी जी की लगाई हुई है । क्योंकि वह बिन्दी इनके बहुत धोने पर भी नहीं मिटी । इस घटना के आधार पर ही ये 'बिन्दुकाचार्य' की पदवी से विभूषित हुए और साधुओं में इनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई । अयोध्या में इनकी गद्दी 'बड़ा स्थान' के नाम से ख्यात है । इनकी परम्परा वाले भक्त 'बेन्दी वाले' कहलाते हैं ।

बिन्दुकाचार्य जी एक उदार और युगल सरकार के सौन्दर्य में हमेशा डूबे रहने वाले सन्त थे । प्रसिद्ध है कि ये युगल सरकार के समक्ष तम्बूरा लेकर और पैरों में घुँघरू बाँधकर कीर्तन करते थे । उनका घुँघरू अभी भी 'बड़ा स्थान' में सुरक्षित है । बिन्दुकाचार्य जी अपने को सीता जी की सखी मानकर उपासना करते थे ।

बिन्दुकाचार्य जी के बाद अयोध्या में वैष्णव भक्तों का जमाव शुरू हो गया । उनके समय में ही महात्मा रामचरणदास 'करुणासिन्धु' का अयोध्यागमन समूची रसिक-साधना के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ । उन्होंने बिन्दुकाचार्य जी के शिष्य रघुनाथप्रसाद का शिष्यत्व ग्रहण किया, परन्तु कुछ कालोपरान्त जब रैवासा में 'अग्रसार' ग्रन्थ को पढ़ने के लिए गये तो वहाँ इन्हें अपने तिलक को परिवर्तित कर देना पड़ा । वहाँ से अयोध्या लौटने के बाद इन्होंने जानकी घाट पर 'चारुशीला भवन' और 'चारुशीला बाग' का निर्माण कराया और नित्य 'मानस' की कथा कहने लगे । इन्होंने रामचरितमानस की शृंगारपरक टीका 'आनन्द लहरी' नाम से की, जिससे इन्हें काफी ख्याति मिली। इसके साथ ही राम की मधुरोपासना के सैद्धान्तिक स्वरूप को विवेचित करने के लिए 'रामनवरत्न सार संग्रह' ग्रन्थ का प्रणयन किया और लोगों के सामने इस साधना के शास्त्रसम्मत रूप को प्रस्तुत किया । रसिक-साधना को परिपुष्टि करने में 'करुणासिन्धु' जी का अन्यतम स्थान है । उनके इस महान् व्यक्तित्व के कारण ही कुछ लोगों ने उन्हें ही रसिक-साधना का प्रवर्तक स्वीकार कर लिया है ।

रामचरणदास जी के तीन शिष्यों– जीवाराम युगलप्रिया, जनकराज किशोरीशरण 'रसिकअली' और हरिदास ने भी इस सम्प्रदाय को सुदृढ़ करने और उसके प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया । इनमें रसिकअली और हरिदास जी अयोध्या के थे । रसिकअली जी का नाम रसिकाचार्यों में परिगणित होता है, क्योंकि इन्होंने परम्परागत रसिक-साधना में 'स्वसुखी भावना' का प्रवर्तन किया । उन्होंने अपने 'आत्म सम्बन्ध दर्पणम्' नामक ग्रन्थ में इस भावना का सम्यक् विवेचन किया है ।

१९वीं शताब्दी में अयोध्या रसिक-भक्तों का प्रमुख केन्द्र बन गयी । इसी शताब्दी में अयोध्या के चार महान् संतों का आविर्भाव हुआ—

१- उमापति त्रिपाठी 'कोविद' २- रघुनाथ दास
३- युगलानन्य शरण ४- बनादास

ये चारों अपने समय के बड़े ही ख्यात महात्मा हैं और इन्होंने रस-भक्ति को न केवल साधना से पुष्ट किया, वरन् उसके सैद्धान्तिक विवेचन के लिए विपुल संख्या में साहित्यिक ग्रन्थों का

प्रणयन भी किया । इनमें महात्मा युगलानन्यशरण और बनादास जी पर पृथक्-पृथक् शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किये जा चुके हैं । इनके अतिरिक्त जानकीप्रसाद रसिकबिहारी, रघुनाथदास रामसनेही, शीलमणि, जानकीवरशरण प्रीतिलता, सरयूदास सुधामुखी, परमहंस सीताशरण, पंडित रामवल्लभाशरण 'प्रेमनिधि', स्वामी रामवल्लभाशरण 'युगल विहारिणी', कामदेन्द्रमणि, रूपकला, और सियालालशरण 'प्रेमलता' जैसे अनेक विद्वान् एवं सिद्धि प्राप्त महात्माओं ने अयोध्या को पवित्र किया है और विपुल संख्या में शिष्यों को दीक्षित करके रसिक-सम्प्रदाय को सम्वर्द्धित किया है।

सम्प्रति अयोध्या में राम की मधुरोपासना का ही बोलबाला है । इस समय के रसिक-साधकों में महात्मा सीतारामशरणजी (लक्ष्मणकिला), जानकीजीवन शरण जी (दरबार लालसाहब), महंथ रामसूरतशरण जी (गोलाघाट), श्रीकांतशरण जी (सद्गुरुकुटी, गोलाघाट), अंजनीनन्दन शरण जी (ऋणमोचन घाट), पं० हरिनामदास जी (जानकीघाट), शत्रुहनशरण जी (रसमोद-लता कुंज) और जानकीशरण मधुकर जी (चारुशीलाबाग) आदि उल्लेखनीय हैं । इनमें अंजनी नन्दनशरण जी का साकेतवास हो गया है । उन्होंने 'मानस-पीयूष' और 'विनय-पीयूष' जैसे ग्रन्थों को लिखकर हिन्दी जगत् में अविस्मरणीय ख्याति अर्जित की है और तुलसी-साहित्य के अध्ययन के लिए व्यापक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है ।

अयोध्या में प्रमुख रसिक-गद्दियाँ—

अयोध्या में राम की मधुरोपासना के प्रचारकाल से लेकर आज तक अनेक रसिक-गद्दियाँ स्थापित हो गयी हैं । इन रसिक गद्दियों में कुछ ऐसी भी हैं जो अयोध्या की एक गद्दी से पृथक् हो कर स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित हो गयी हैं परन्तु उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं हुआ है । उक्त पृथक्करण भक्तों के रहने की सुविधा या महान्ती आदि के लिए उत्पन्न हुए विवादों के फलस्वरूप हुआ है । अयोध्या में निम्नलिखित प्रमुख रसिक गद्दियाँ हैं—

१- बड़ा स्थान – श्रीरामप्रसाद 'बिन्दुकाचार्य' की परम्परा—

यह अयोध्या में स्थापित होने वाली प्रथम रसिक गद्दी होने के कारण 'बड़ा स्थान' के नाम से अभिहित की जाती है । इसके संस्थापक रामप्रसाद 'बिन्दुकाचार्य' थे, जिनके मस्तक पर महारानी जानकी जी ने स्वयं 'बिन्दी' लगा दी थी जिससे ये 'बेन्दीशाखा' के प्रवर्तक कहलाये । अयोध्या में इनकी परम्परा वाले रसिक 'बेन्दीवाले' कहलाते हैं । इस परम्परा के भक्त सिंहासन सहित श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाते हैं जिसके मध्य में श्वेत बिन्दी रहती है। इस सम्प्रदाय में यह बिन्दी तीन आकारों में लगाई जाने के कारण इस परम्परा की तीन शाखाएँ हो गयी हैं । एक शाखा के रसिक चवन्नी के आकार की बिन्दी धारण करते हैं, दूसरी के अठन्नी और तीसरी के रुपये के आकार की । अयोध्या में बेन्दी परम्परा की निम्नलिखित तीन गद्दियाँ हैं—

(क) बिन्दुकाचार्य की मूल-गद्दी जिसमें रघुनाथप्रसाद, जानकीप्रसाद, अयोध्याप्रसाद, उद्धवप्रसाद, सरयूप्रसाद, राघवप्रसाद, गोपालप्रसाद और राममनोहर प्रसाद आदि महान्त हुए हैं । सम्प्रति यहाँ के महान्त श्री रघुवरप्रसाद हैं ।

(ख) मनीराम छावनी में मणिरामदास जी ने अपनी अलग गद्दी स्थापित की। ये बिन्दुकाचार्य जी की चौथी पीढ़ी में हुए थे। इस परम्परा में राम शोभादास और राम मनोहरदास उच्चकोटि के महात्मा हुए हैं। सम्प्रति इस गद्दी के महान्त श्री नृत्यगोपालदास जी हैं।

(ग) जानकीघाट पर महात्मा रामचरणदास 'करुणासिन्धु' जी ने रैवासा से 'अग्रसार' ग्रन्थ का अध्ययन करके लौटने के बाद अपनी अलग गद्दी स्थापित कर ली। रैवासा में उन्होंने अपना तिलक परिवर्तित कर दिया था। परिवर्तन के फलस्वरूप उनके तिलक के ऊर्ध्वपुण्ड्र और बिन्दु दोनों श्वेत न रहकर पीत हो गये। इस परम्परा में सियारामशरण जानकीशरण और लक्ष्मणशरण जैसे महात्मा हुए।

२— लक्ष्मण-किला की गद्दी—

चिरान छपरा के प्रसिद्ध महात्मा जीवाराम 'युगलप्रिया' के शिष्य महात्मा युगलानन्य-शरण ने लक्ष्मण किला पर अपनी गद्दी स्थापित की और एक नयी शाखा को जन्म दिया। इनके तिलक में ऊर्ध्वपुण्ड्रपीत, मध्य में नीचे श्री बिन्दु, ऊपर चन्द्रिका, ऊर्ध्वपुण्ड्र के दोनों ओर युगल नाम की छाप, दोनों भृकुटियों के ऊपर मुद्रिका की छाप का प्रयोग होता है। अयोध्या में इस परम्परा से सम्बधित गोलाघाट और ऋणमोचनघाट पर भी रसिक गद्दियाँ हैं। इनमें गोलाघाट की गद्दी की स्थापना जानकीवरशरण 'प्रीतिलता' के शिष्य स्वामी रामवल्लभाशरण ने की। इस समय लक्ष्मण किला पर महान्त सीतारामशरण और गोलाघाट में महान्त रामसूरतशरणजी विद्यमान हैं। इन दोनों जगहों में रसिक ग्रन्थों का विशाल पुस्तकालय भी है। लक्ष्मण किला के संस्थापक महात्मा युगलानन्य शरण के महिमाशाली व्यक्तित्व और उत्कृष्ट साधना के कारण इस गद्दी को अयोध्या में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

३— 'रसिक निवास'-'रसिक अली' की परम्परा—

जनकराज किशोर शरण 'रसिक अली' जी स्वसुख शाखा के प्रवर्त्तक थे। इन्होंने अयोध्या और मिथिला में इस शाखा का प्रचार किया। अयोध्या में इनके शिष्य रामसेवक शरण से स्वर्गद्वार में यह परम्परा चली। इसी परम्परा में जनकदुलारी शरण 'बावन जी' जैसे उच्चकोटि के महात्मा हुए। जानकी घाट पर चरूशीला बाग इसी परम्परा का प्रमुख स्थान है। यहाँ पर इस समय जानकी शरण 'मधुकरिया' विद्यमान हैं।

४— तपसी की छावनी—

इसकी स्थापना रामदास 'तपसी' ने की। इनका स्थान अयोध्या के प्राचीन वैष्णवपीठों में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। संतसेवा इस परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता है। इनका सम्बन्ध रैवासा के अग्रदास जी से है।

५— हनुमन्निवास की परम्परा—

इसकी स्थापना महात्मा गोमतीदास ने की जो पंजाब के रहने वाले थे। यद्यपि गोमतीदास के गुरु सरयूदास जी दास्य भावोपासक थे, परन्तु बृन्दावन, चित्रकूट, अयोध्या आदि तीर्थों के रसिकों के साथ सत्संग करने से इनमें शृंगारीभावना के प्रति रुचि जागृत हुई। इसकी प्रेरणा इन्हें मुख्य रूप से अयोध्या के महात्मा जानकीवर शरण 'प्रीतिलता' से मिली। फलतः अयोध्या में इन्होने 'हनु-

मन्निवास' में जो अपनी गद्दी स्थापित की वह शृंगारी परम्परा की गद्दी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इस परम्परा के तिलक में सिंहासन समेत तीन ऊर्ध्वपुण्ड्र हैं। उसके मध्य में श्री की लम्बी रेखा लगती है, जो नीचे की ओर मोटी और ऊपर की ओर पतली होती है।

६— रूपकला कुंज की परम्परा—

१९वीं शती के उत्तरार्द्ध में 'रूपकला' जी का अविर्भाव हुआ। सं० १९५० में ये अयोध्या आये और नयाघाट पर रूपकला कुंज में अपनी गद्दी स्थापित की। इनके दीक्षा गुरु छपरा में परसा नामक स्थान की वैष्णव गद्दी के महान्त रामचरणदास जी थे, जिनकी परम्परा सुरसुरानन्द से चलती है। अतः रूपकला जी की परम्परा का सम्बन्ध उन्हीं से है। इनके तिलक में पीत सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में नीचे श्री की बिन्दी, ऊपर बिल्वपत्राकार पतली श्री रेखा, ऊर्ध्वपुण्ड्र के दोनों ओर राम नामांकित मुद्रिका और ऊपर चन्द्रिका की छाप होती है।

'रूपकला' जी के एक शिष्य श्रीरामपूजाशरण जी ने 'रूपकला मन्दिर' के पास ही अपना 'दिव्यकला कुंज' नाम से पृथक् स्थान बना लिया। आजकल अयोध्या के रसिक-पीठों में इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

७— जयपुर मंदिर की परम्परा—

इस गद्दी का सम्बन्ध गलतागादी की उस शाखा से है जिसकी स्थापना अग्रदास जी के शिष्य झांझूदास ने की थी। इस परम्परा में सियासखी, चन्द्रअली और रामानुजदास 'रूपरस' जैसे महात्मा हुए हैं। अयोध्या में राजकिशोरवर शरण 'परमानन्द' जी इस परम्परा के ख्याति प्राप्त महात्मा हुए।

८— दरबार लाल साहब की परम्परा—

कनक भवन के द्वार पर ही उसके उत्तरी कोने में शीलमणि जी ने 'दरबारलाल साहब' नामक स्थान में अपनी गद्दी स्थापित की। इस शाखा के भक्त सख्य भावोपासक हैं। शीलमणि जी के बाद परमहंस सीताशरण, रामदास इस गद्दी के महान्त हुए। इस समय जानकीजीवन शरण जी विद्यमान हैं, जो एक उच्चकोटि के साहित्यकार भी हैं। इनकी परम्परा में श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र, मध्य में श्री की पत्राकार पतली रेखा का तिलक लगाया जाता है।

९— साकेत राजमहल की परम्परा—

यह भी सख्य भावोपासना की रसिक गद्दी है। कामदेन्द्रमणि जी ने, जो राम की उपासना सख्य भाव से करते थे, इस गद्दी की स्थापना की। इन्हीं की परम्परा से सम्बन्धित सीताराम शरण रसरंग मणि जी की भी परम्परा है। अन्तर केवल इतना है कि रसरंगमणि जी अपने को राम का दास और सखा दोनों मानते हैं, जबकि कामदेन्द्रमणि केवल सखा मानते हैं। इस परम्परा के भक्त श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र और मध्य में श्री की बिन्दी लगाते हैं।

१०—'नयाघाट' में कोविद जी की परम्परा—

पं० उमापति 'कोविद' अयोध्या के उच्चकोटि के महात्मा थे। ये वात्सल्य निष्ठा के अकेले सन्त थे। ये राम को अपना शिष्य और अपने को उनका गुरु मानते थे। इनका स्थान अयोध्या में स्मार्त वैष्णवों का मुख्य आचार्य पीठ रहा है। 'कोविद' जी के बाद यह

गद्दी चार पट्टियों में विभक्त हो गयी। पं० उमापति कोविद की परम्परा में शिवरतन त्रिपाठी, पं० रामेश्वरपति त्रिपाठी, पं० निरीक्षणपति त्रिपाठी और चन्द्रशेखर मणि त्रिपाठी जैसे महात्मा हुए। इसी परम्परा के पं० निरीक्षणपति त्रिपाठी के द्वितीय पुत्र पं० शिवेक्षणपति त्रिपाठी ने पिता के साकेत वास के अनन्तर अपनी अलग गद्दी स्थापित कर ली। इसी प्रकार पं० बब्बन त्रिपाठी और राजाराम त्रिपाठी ने भी अपनी अलग-अलग गद्दियाँ स्थापित कर लीं। ये सब गृहस्थ साधक थे, अतः उक्त गद्दियों की स्थापना उनके पुत्रों के परस्पर के वैमनस्य और अलगाव के कारण हुई।

११– बड़ी छावनी की परम्परा–

राजपूताना के महात्मा ब्रह्मानन्द ने विद्याकुण्ड पर अपनी गद्दी स्थापित की, जिसका सम्बन्ध प्रसिद्ध रामानन्दी संत बालानन्द से है। कालान्तर में यही गद्दी दो शाखाओं में बँट गयी। दूसरी गद्दी की स्थापना बड़ी छावनी में ही बाबा रघुनाथदास ने की, जो दास्य निष्ठा के सन्त थे। मानस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता रामायणी रामबालकदास जी इसी गद्दी के कथावाचक थे।

१२– जानकीघाट की परम्परा–

१९वीं शती के उत्तरार्द्ध में पं० रामवल्लभाशरण 'प्रेमनिधि' ने इस गद्दी की स्थापता की। इनका सम्बन्ध स्वामी रामानन्द के शिष्य योगानन्द से है, जो मठिया-आरा (बिहार) के थे। इस परम्परा में रामपदारथ दास वेदान्ती एक उच्चकोटि के महात्मा हुए, जिनकी सिद्धियों और चमत्कारों की ख्याति दूर-दूर फैली। इस समय पं० हरिनामदास जी इस गद्दी के महान्त हैं। इस परम्परा में श्वेत सिंहासन सहित ऊर्ध्वपुण्ड्र और मध्य में श्री रेखा से युक्त तिलक लगाया जाता है।

१३– रामघाट की परम्परा–

'विश्राम सागर' के प्रणेता रघुनाथदास रामसनेही ने रामघाट में अपनी गद्दी स्थापित की। ये देवादास के शिष्य थे। इनकी परम्परा का सम्बन्ध स्वामी रामानुजाचार्य से है, जिसका विस्तृत परिचय इन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में दिया है। ये दास्य निष्ठा के सन्त थे।

१४– नृत्यराघव कुञ्ज की परम्परा–

प्रसिद्ध सख्यरसावेशी महात्मा रामसखे जी ने अयोध्या में नृत्यराघव कुञ्ज में अपनी गद्दी स्थापित की। ये माध्व सम्प्रदाय की गद्दी उडपी (दक्षिण भारत) के शिष्य थे। इनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा अयोध्या में और भी गद्दियाँ स्थापित हुई हैं। 'रामसखे की बगिया' में महात्मा अवधशरण ने अपनी गद्दी स्थापित की। ये रामसखे के प्रशिष्य जानकीशरण के शिष्य थे। रामसखे के शिष्य शीलनिधि जी ने 'श्रावणकुञ्ज' में अपनी गद्दी स्थापित की, परन्तु इनकी छठवीं पीढ़ी में हुए महान्त जनककिशोरी के साकेतवास के उपरान्त यहाँ की परम्परा समाप्त हो गयी और नृत्यराघवकुंज के महान्त श्री सरयूशरण ही उसके भी अधिकारी हो गये। 'रामसखे की बगिया' के संस्थापक श्री-अवधशरण के शिष्य श्री भरतशरण ने 'सरयूमन्दिर' में अपना अलग स्थान बनाया। इस प्रकार उक्त सम्प्रदाय की कई गद्दियाँ स्थापित हो गयीं।

—:o:—

गढ़वाल हिमालय में विद्युत्-विकास की सम्भावनाएँ

त्रिलोकी प्रसाद पन्त

गढ़वाल हिमालय, जिसका अक्षांशीय एवं देशान्तरीय विस्तार क्रमशः २९° २६′ एवं ३१° २८′ तथा ७७° ४९′ एवं ८०° ६′ है, अपनी विशिष्ट भौम्याकृति एवं प्राकृतिक दशाओं के कारण एक पृथक् स्वरूप प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत उत्तरकाशी, चमोली, पौड़ी-गढ़वाल, टिहरी-गढ़वाल एवं देहरादून जिले आते हैं। जिसका क्षेत्रफल ३००९० वर्ग किलोमीटर है। गढ़वाल हिमालय के उत्तर में तिब्बत, पूर्व में पिथौरागढ़, अल्मोड़ा एवं नैनीताल (कुमाऊँ-मण्डल), दक्षिण में बिजनौर, पश्चिम में सहारनपुर तथा हिमांचल प्रदेश स्थित हैं। इस प्रकार गढ़वाल हिमालय की उत्तरी सीमा भारत की तिब्बत से लगने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सीमा है।

मनुष्य के उपयोग में आने वाली जल विद्युत् ऊर्जा का गढ़वाल हिमालय में निरीक्षण करना इस अध्ययन का एक उद्देश्य है। आज हमारे देश में विद्युत् उत्पादन को औद्योगीकरण की प्रथम शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है अर्थात् विद्युत्-शक्ति अर्थ-व्यवस्था का एक आधारभूत अवस्थापन है। आज के युग में बिना विद्युत् के कोई भी योजना लाभदायी सिद्ध नहीं हो सकती है। ऊर्जा के स्रोत के रूप में यहाँ पर अपार जल-शक्ति है। व्यावहारिक रूप से जल-शक्ति का उपयोग केवल पहाड़ी प्रदेशों में या वहाँ हो सकता है, जहाँ कि एक बड़ी नदी जल-प्रपात बनाती हुयी ऊँचाई से गिरती है। "गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से पानी के किसी भार को ऊँचाई से नीचे उतरने में ऊर्जा मिलती है और इस ऊर्जा की मात्रा पानी के भार तथा उसकी ऊँचाई पर निर्भर करती है, जिससे वह नीचे आता है।"[1] अधिक ऊँचाई से तथा अधिक भार के पानी से निश्चित अधिक ऊर्जा का उत्पादन किया जा सकता है। गुरुत्वाकर्षण से जल में गति उत्पन्न होती है और इसकी गति की ऊर्जा एक चक्की के पहिए या वरीवर्त (TURBINE) के घूर्णक को स्थानान्तरित की जाती है। वरीवर्त का उपयोग एक वैद्युत् जनित्र (Electric Generator) को चलाने के लिए किया जाता है। भारत में यद्यपि कोयले का भण्डार पर्याप्त मात्रा में है, परन्तु जल विद्युत्, कोयला-विद्युत् की अपेक्षा सस्ती लागत में उत्पादित हो जाती है। "दोनों के लिए अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों के होते हुए जल-विद्युत् योजनाएँ कोयले की अपेक्षा कम व्यय पर विद्युत का उत्पादन करती हैं।"[2]

गढ़वाल हिमालय में कोयला-विद्युत् विकास की सम्भावनाएँ लगभग शून्य हैं, क्योंकि इस क्षेत्र में कोयला नहीं पाया जाता है। अतः बाहरी क्षेत्र से कोयला लाकर विद्युत् उत्पादन करना नितान्त अभितव्ययी होगा। गढ़वाल हिमालय के खनिज भण्डारों के विदोहन और प्रदेश–औद्योगीकरण के लिए बिजली की कितनी आवश्यकता होगी, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। गढ़वाल में सदानीरा सरिताओं और नदियों का जाल बिछा हुआ है। जल की अपरिमेय शक्ति विद्युत् उत्पादन के लिए सुलभ है। "यमुना के स्रोत से सोलह मील (२५-६ कि० मी०) तक यमुना की धारा ५०२६ फीट उतराई पर बहती है, जो प्रतिमील ३१४ फीट

(प्रति कि०मी० १९७ फीट) की उतराई पर बहती है ।"[3] गढ़वाल हिमालय के जल-प्रवाह को सम्पूर्ण रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है[4]—

१— पश्चिमवर्ती—यमुना, टोंस जल-प्रवाह ।

२—पूर्ववर्ती—अलकनन्दा, भागीरथी जल-प्रवाह ।

३— दक्षिणवर्ती—नयार जल-प्रवाह ।

इन तीनों जल-प्रवाहों में से भागीरथी, अलकनन्दा, वृहत्तम हैं । भागीरथी की सहायक भिलंगना व अलकनन्दा की सहायक मन्दाकिनी, पिण्डर, नन्दाकिनी व धौली गंगा हैं, जिनका कुल प्रवाह–क्षेत्र लगभग २१ हजार चार सौ वर्ग किलोमीटर है, जिसमें से ८४५० वर्ग किलोमीटर वर्फ से ढका है ।

डा० कौशिक ने एक सर्वेक्षण के अनुसार इस क्षेत्र में जल-शक्ति की क्षमता १० मिलियन किलोवाट में आँकी हैं ।[5]—

तालिका नं० १

गढ़वाल हिमालय की सम्भावित जल-शक्ति

क्रम सं०	नदी का जल क्षेत्र	अनुमानित जल शक्ति (किलोवाट में)
१—	यमुना टोंस जल क्षेत्र	१००००००
२—	भागीरथी जल क्षेत्र	३००००००
३—	अलकनन्दा जल क्षेत्र	६००००००
	कुल क्षमता	१०००००००
		(दस मिलियन किलोवाट)

गढ़वाल हिमालय में दो प्रमुख परियोजनाएँ लगभग पूरी हो चुकी हैं । जिनमें से प्रथम डाक पत्थर के पास यमुना में, दूसरी कालागढ़ में रामगंगा पर है । अन्य जल-विद्यु्त् योजनाएँ जो कि गढ़वाल-हिमालय में निर्माणाधीन हैं या विचाराधीन, निम्न प्रकार से हैं:—

उत्तरकाशी जनपद

विद्यु्त् योजनाएँ	निर्दिष्ट क्षमता (मेगावाट)
१– लोहारीनाग पाला हाइडिल स्कीम	२८०
२– मनेरीभाली हाइडिल स्कीम (प्रथम)	९९
३– मनेरीभाली हाइडिल स्कीम (द्वितीय)	१५६
४– पाला मनेरी हाइडिल स्कीम	२४०
५– हरसिल डाम प्रोजेक्ट	३००
६– भैरोघाटी हाइडिल स्कीम	९०
७– धरासू डाम प्रोजेक्ट	—
टिहरी जनपद	
८– टिहरी डाम प्रोजेक्ट	१०००

९– कोटली भेल डाम प्रोजेक्ट	१०४०
१०– कोटेश्वर, शिवपुरी हाइडिल स्कीम	—
११– कोटेश्वर डाम प्रोजेक्ट	१८०
१२– उत्यासू डाम प्रोजेक्ट	९००
चमोली जनपद	
१३– बावला नन्दप्रयाग हाइडिल स्कीम	१३०
१४– नन्दप्रयाग लँगासू हाइडिल स्कीम	४२
१५– तपोवन विष्णुगाड हाइडिल स्कीम	२११
१६– विष्णुगाड पीपलकोटी हाइडिल स्कीम	१००
१७– विष्णुप्रयाग जलविद्युत् योजना	१६२
१८– भ्यूडार गंगा जल विद्युत् योजना	—
पौड़ी जनपद	
१९– रामगंगा प्रोजेक्ट	१९८
२०– मरोड़ा डाम (नयार बाँध)	८००
२१– पाथर पानी डाम	—
२२– हुइनी बाँध योजना	४४
देहरादून जनपद	
२३– यमुना हाइडिल स्कीम (प्रथम)	
(१) ढकरानी पावर हाउस	३३-७५
(२) ढालीपुर पावर हाउस	५१
२४– यमुना हाइडिल स्कीम (द्वितीय) भाग-१ छिब्र पावर हाउस	२४०
२५– व्यासी डाम	२२४
२६– यमुना हाइडिल स्कीम (द्वितीय) भाग-२ खोदरी पावर हाउस	११२
२७– लखवाड़ डाम	३००
२८ आसन बैरेज हाइडिल स्कीम	३०
२९– किसाऊ डाम प्रोजेक्ट	४५०
३०– त्यूनी स्टोरेज स्कीम	—
३१– ऋषिकेश हरिद्वार हाइड़िल स्कीम	१४०

गढ़वाल की पूर्ववर्ती (भागीरथी, अलकनन्दा) जलप्रवाह, दक्षिणवर्ती (नयार) जलप्रवाह एवं पश्चिमवर्ती (यमुनाटोंस) जलप्रवाह से बरसात के दिनों में उसकी बाढ़ से उत्तर भारत के करोड़ों लोगों को विपत्ति का सामना करना पड़ता है। लाखों एकड़ भूमि प्रतिवर्ष जलमग्न हो जाती है तथा अरबों रूपये की फसल नष्ट हो जाती है। इन नदियों को अभी तक बाँधने का प्रयास नहीं किया गया था, लेकिन अब धीरे-धीरे इस दिशा में कदम उठाये जा रहे हैं।

भागीरथी की योजनाएँ—

अपने उद्गम स्थान गोमुख से निकलने के पश्चात् गंगोत्री के निकट भागीरथी का जल बाँधकर सुरंगों में डाला जायेगा। जनपद उत्तरकाशी में लोहारीनाग पाला जल-विद्युत्-योजना की सुरंग १३.५ कि०मी० लम्बी होगी। इसकी क्षमता २८० मेगावाट आँकी गयी है।[6] पाला मनेरी जल-विद्युत्-योजना की सुरंग की लम्बाई १२ कि०मी० रखी गयी हैं तथा इसके बिजलीघर से २४० मेगावाट बिजली पैदा होगी। हरसिल बाँध विद्युत् परियोजना जो कि अभी बिचाराधीन है, से ३०० मेगावाट विद्युत् पैदा होने की सम्भावना है। मनेरीमाली जलविद्युत्-परियोजना के प्रथम चरण का कार्य तेजी से हो रहा है। यद्यपि १९७७ की बाढ़ से इस कार्य में कुछ व्यवधान अवश्य आ गया था, तथापि इस परियोजना की विद्युत् क्षमता ९९ मेगावाट है। मनेरीभाली जलविद्युत् परियोजना के द्वितीय चरण में १५६ मेगावाट विद्युत् पैदा होने का लक्ष्य रखा गया है। इसके लिए लगभग १५ कि०मी० लम्बी सुरंग बनाने की योजना है। भागीरथी पर सबसे बड़ा बाँध, जो कि निर्माणाधीन है, टिहरी बाँध है। यह बाँध टिहरी नगर के पास भागीरथी और भिलंगना के संगम पर बनने वाला विशाल बाँध है। "इस बाँध की ऊँचाई इसकी निचली सतह से २६०.५ मीटर, जलाशय का क्षेत्रफल ४२वर्ग कि०मी०, जलाशय की क्षमता ३५३९० लाख घनमीटर होगी।"[7] आठ अरब २७ करोड़ ३० लाख रूपये की लागत से बन रहे टिहरी बाँध परियोजना पर अब तक लगभग ९० करोड़ रूपये व्यय हो चुके हैं। एशिया में सबसे बड़ी तथा विश्व में दूसरी सबसे बड़ी इस परियोजना के १० वर्ष में सम्पन्न होने पर १००० मेगावाट विद्युत् पैदा होगी और २.७० लाख हेक्टेयर असिंचित भूमि को सिंचित करने के अतिरिक्त गंगानहर में जलवृद्धि होने से १४.१२ लाख हेक्टेयर कृषि भूमि को अतिरिक्त पानी मिलने से अन्न उत्पादन में वृद्धि होगी। बाँध के पूरे होने पर टिहरी नगर और उससे संलग्न २२ गाँव ४२ वर्ग कि०मी० झील में डूब जायेंगे और १०५गावों के लोग विस्थापित होंगे, जिनकी जनसंख्या लगभग ४० हजार होगी। इसमें सन्देह नहीं कि बिजली और पानी से, जो टिहरी बाँध के निर्माण से प्राप्त होंगे, मुख्यतः पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के मैदानी जिलों को भी लाभ पहुँचेगा। भागीरथी पर अन्तिम कोटेश्वर बाँध होगा। इसकी ऊँचाई ७१.३ मीटर होगी और इससे १८० मेगावाट बिजली पैदा होने की सम्भावना है। टिहरी व कोटेश्वर बाँध बहुउद्देशीय परियोजना है।

अलकनन्दा की योजनाएँ—

गंगा की प्रमुख सहायक अलकनन्दा का उद्गम गढ़वाल-तिब्बत सीमा के निकट ७८०० मीटर ऊँचाई पर अलकापुरी ग्लेशियर है।[8] इसका नियमित जलप्रवाह शक्ति का प्रमुख स्रोत है। अलकनन्दा में भागीरथी से अधिक पानी मौजूद है। अलकनन्दा को जल-विद्युत्-योजनाओं हेतु बाँधने के लिए कदम उठाये जा रहे हैं, फलतः अलकनन्दा घाटी में निम्न महत्त्वपूर्ण सार्वेक्षण विद्युत् उत्पादन की दृष्टि से किये जा रहे हैं।

अलकापुरी से निकलने के बाद अलकनन्दा, बद्रीनाथ होते हुए पाण्डुकेशर पहुँचती है। भ्यूँडार नदी, गोविन्दघाट के पास अलकनन्दा से मिलती है। भ्यूँडार नदी पर घघरिया स्थान पर जलशक्ति उत्पादन की योजना है। भ्यूँडार नदी का पानी ७.५ कि०मी० लम्बी सुरंग द्वारा गोविन्द-घाट के पास पहुँचकर ४० मेगावाट विद्युत् उत्पन्न कर सकेगा। एशिया में सबसे ऊँचे स्थान

(७८०० फुट) पर बनने वाली विष्णुप्रयाग जलविद्युत्-परियोजना जनपद चमोली में ऋषिकेश-बद्रीनाथ मार्ग पर जोशीमठ से २० किमी० की दूरी पर लाभबगड़ (शक्तिनगर) नामक स्थान पर बनायी जा रही है। इस योजना के अन्तर्गत लामबगड़ से १२ किमी० लम्बी तथा ४.३ मीटर व्यास की सुरंग बनाई जायेगी जिससे विष्णुगढ़ के समीप ९४३ मीटर ऊँचाई से जल-प्रपात द्वारा १६२मेगा-वाट विद्युत् पैदा की जायेगी। इस परियोजना को शासन की ओर से भी अन्तिम स्वीकृति मिल गयी है। धौलीगंगा पर तपोवन विष्णुगाड जलविद्युत् परियोजना में १७.८ किमी० लम्बी सुरंग से पानी पीपलकोटी विद्युत्गृह में लाकर १०० मेगावाट विद्युत् पैदा की जायेगी। बावला नन्दप्रयाग हाइडिल स्कीम के अन्तर्गत बावला गाँव के पास पुनः अलकनन्दा को बाँधकर उसका पानी ९ किमी० लम्बी सुरंग द्वारा नन्दप्रयाग लाकर १३० मेगावाट विद्युत् पैदा हो सकेगी। नन्दप्रयाग लँगासू हाइडिल स्कीम अभी परीक्षाधीन है। अलकनन्दा पर अन्तिम बाँध उत्यासू स्थान पर बनाया जायेगा, जिसकी ऊँचाई २५६ मीटर तथा विद्युत् उत्पादन क्षमता ९०० मेगावाट होगी। यह विशाल जलाशय बाढ़ को रोकने में अत्यधिक सहायक हो सकेगा। उपर्युक्त के अतिरिक्त मन्दाकिनी नदी–घाटी में विद्युत् उत्पादन हेतु परीक्षा भविष्यम्भावी है। देवप्रयाग (अलकनन्दा व भागीरथी का संगम) से नीचे तीन विशाल बाँध गंगा पर बाँधे जायेंगे। इनमें सबसे बड़ी परियोजना 'कोटली बहल' है। इसकी विद्युत्-क्षमता १०४० मेगावाट आँकी गयी है। गंगा की सहायक नदियों नयार, व ह्वीनी पर भी बाँध बाँधने की योजना है। नयार बाँध से ८०० मेगावाट तथा ह्वीनी बाँध से ४४ मेगावाट विद्युत् पैदा होगी। इसके अलावा ऋषिकेश से चार किमी० नीचे ऋषिकेश–हरिद्वार–हाइडिल–परियोजना निर्माणाधीन है। इसकी उत्पादन क्षमता १४० मेगावाट है।

यमुना की योजनाएँ—

यमुना नदी, जो कि यमनोत्री से निकलती है तथा इसकी सहायक नदी टोंस पर भी अनेक जल-विद्युत परियोजनाएँ निर्माणाधीन अथवा विचाराधीन हैं। यमुना हाइडिल स्कीम के अन्तर्गत टोंस नदी पर एक ५५ मीटर ऊँचाई वाला बाँध निर्माणाधीन है। इस परियोजना के अन्त-र्गत छिब्र पावर हाउस में पानी ६.२ किमी० लम्बी तथा ७ मीटर व्यास की सुरंग द्वारा भेजा जायेगा तथा पावर हाउस जमीन के अन्दर होगा। उसके पश्चात् ५.६ किमी० सुरंग द्वारा पानी छिब्र व खोदरी पावरहाउस में भेजा जायेगा, जिसकी क्षमता ३६० मेगावाट है।[10] यह कार्य दो चरणों में पूरा होगा। किसाऊ डाम की ऊँचाई २३८ मीटर है। लखवाड़ व्यासी डाम प्रोजेक्ट बहुउद्देशीय परियोजना है। इस योजना के अन्तर्गत १९२ मीटर ऊँचा कंकरीट का विशाल बाँध बनाया जायेगा, जिसमें .४७ मिलियन एकड़ फीट जल जमा हो सकेगा। इस परियोजना से ३०० मेगावाट विद्युत् पैदा हो सकेगी। इसके अलावा यमुना परियोजना के अन्तर्गत आसन बैरेज हाइडिल स्कीम त्यूनी स्टोरेज स्कीम आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार गढ़वाल हिमालय में बहुउद्देशीय परियोजनाएँ या तो निर्माणाधीन हैं, या परीक्षाधीन। स्पष्ट है गढ़वाल-हिमालय के पांचों जनपदों में बहुउद्देशीय परियोजनाएँ चलाने की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं। यदि नई सभी परियोजनाओं को कार्यरूप दिया जाय तो न केवल स्थान विशेष की विद्युत् आवश्यकता पूरी होगी, बरन् पूरे उत्तर-भारत में विद्युत्

संकट को हल करने में सहायता मिलेगी । अतः राष्ट्रीय स्तर से ये परियोजनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या विशाल परियोजनाएँ वर्तमान स्थिति में उपादेय होंगी ? इनके निर्माण में जो विपुल धनराशि अपेक्षित है तथा इनके पूर्ण होने मे जो दीर्घ अवधि लगेगी, वे तो बड़ी समस्या हैं ही परन्तु उससे कहीं अधिक जटिल, कहीं अधिक भयंकर समस्या है— विस्थापितों के पुनर्वास की । ऊँचे व विशाल बाँधों के बनने से घाटियों की घनी आबादी वाले उर्वर अन्न-उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर क्षेत्र जलमग्न हो जायेंगे । शताब्दियों से बसे लोगों को हटाने तथा विस्थापित करने की बात बहुत जटिल है । गढ़वाल हिमालय को इस समय ऐसी योजनाएँ चाहिए, जो कम से कम समय में तथा कम से कम खर्च पर क्रियान्वित हो सकें और जिनकी वजह से कम से कम मानवीय समस्या उत्पन्न हो ।

आज जब कि सारा विश्व तेल संकट से गुजर रहा है, बिजली ही मानवीय प्रगति की मूल आधार है । ऐसी स्थिति में गढ़वाल हिमालय में पहले छोटी व फिर बड़ी परियोजनाओं के विकास के लिए विकासोन्मुख योजनाओं में प्राथमिकता मिलनी ही चाहिए ताकि भारत में ऊर्जा-संकट को कम करने में गढ़वाल हिमालय अपनी भूमिका अदा कर सके ।

सन्दर्भ—

१- शेरवुड टेलर, शक्ति : वर्तमान व भविष्य, पृ० ९९
२- वही, पृ० १०८
३- पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, गढ़वाल का इतिहास, पृ० ४७
४- डा० नित्यानन्द व चन्द्रशेखर जोशी, उत्तराखण्ड भारती, वर्ष-२, अंक- २—३ गढ़वाल के भौगोलिक संसाधन-सम्भावनाएँ एवं उपयोग-विधि, पृ० ४३
५- Kausic, S.D. 1965 Hydroelectric Power Potential in the Himalayan Dist. of U.P., Himanchal and Punjab, Agra University Journal of Research (letter) Agra, Vol. XIII P.P. 75–92.
६- ब्रह्मदत्त विद्यालंकार, नवभारत टाइम्स, नई-दिल्ली, ९ मई, १९७६
७- हिन्दुस्तान, ३ मई, १९८०
८- Edwin T. At Kinson, The Himalayan Gazetter, Vol. I, Part I, Page 181.
९- ब्रह्मदत्त विद्यालंकार, नवभारत टाइम्स, नई-दिल्ली, ९ मई, १९७६
१०- Report beological Survey of India, Distt. Dehradun (1976)

—:o:—

शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मणों के केन्द्र

(एक आभिलेखिक अध्ययन)

डॉ० गौरीशंकर तिवारी

साधारणतः दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर— त्रयोदश शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के बंगदेशीय शाण्डिल्य ब्राह्मणों के देशान्तरगमन, प्रसार एवं प्रभाव के सम्बन्ध में सूचनायें मान्यखेट के राष्ट्रकूट खोट्टिग का कोलगल्लु दान पत्र,[1] किआर विष्णु मूर्ति अभिलेख[2] एवं उत्तरी कोंकन के शिलाहार राजवंश के मुम्मुनिराज के ताम्रपत्र[3] से मिलती हैं। इनसे प्रतीत होता है कि बंगदेश में शाण्डिल्य ब्राह्मणों के प्रमुखकेन्द्र वरेन्द्री में स्थित दो तडाग्राम एवं तटकग्राम के अतिरिक्त गौड देश भी था।

तडाग्राम (वरेन्द्री)—

मान्यखेट के राष्ट्रकूट खोट्टिग के कोलगल्लु दानपत्र से ज्ञात होता है कि तडाग्राम शाण्डिल्य ब्राह्मणों का केन्द्र था एवं सुविख्यात विद्वान् ब्राह्मण गदाधर का जन्म यहीं हुआ था, जो वरेन्द्री देश में स्थित है।[4] पुराने समय में वर्तमान बंगाल के चार भाग थे।[5] १– वरेन्द्री, २– राढ़ा ३– बंग, ४– समतट। वरेन्द्री उत्तरी बंगाल का राजशाही डिवीजन है, राढ़ा दक्षिण पूर्वीबंगाल से जुड़ा है। राढ़ा के दो भाग–उत्तर राढ़ा और दक्षिण राढ़ा हैं। प्रथम दक्षिण में अजय तक सीमित था, जिसके उत्तर पूर्व में भागीरथी और पश्चिम में सन्थाल परगना था। यह वर्तमान वीरभूमि जिला से जुड़ा था एवं मुर्शिदाबाद जिले का भाग इसी में था।

विद्वान् लक्ष्मी नारायण राय ने तडाग्राम का तादात्म्य वर्तमान तटग्राम से स्थापित किया है, जो बंगाल में दीनाजपुर के दक्षिण पूर्ण १२ मील दूर है।[7]

वरेन्द्री के तडाग्राम से शाण्डिल्य ब्राह्मणों का प्रसार दक्षिण कन्नड देश में हुआ। इसका स्पष्ट संकेत खोट्टिग के कोलगल्लु दानपत्र में तडाग्राम के शाण्डिल्य गोत्र से सम्बन्धित प्रभावशाली ब्राह्मण परिवार के विद्यमान लोहासनी (सन्त) गदाधर के विशिष्ट गुणों एवं कृत्यों के उल्लेख से मिलता है।[7] ऐसा कहा जाता है कि गदाधर ब्राह्मण को संभवतः दक्षिण कन्नड़ देश में ले जाने का श्रेय कृष्ण तृतीय को था, जो उत्तरी भारत में आक्रमण के समय (९६३—९६४ ई० में) प्राप्त किया था।[8] वह उसकी विद्वत्ता से सुपरिचित एवं प्रभावित होने के पश्चात् संभवतः वरेन्द्री से कन्नड़ देश लाया होगा।

वरेन्द्री के तडाग्राम-निवासी शाण्डिल्य गदाधर लोहासनी को गौड देश का शिखामणि कहा जाता था।[9] लोहासनी परिवार के शाण्डिल्य ब्रह्मचारी कहे जाते थे। गदाधर को ब्रह्मचारी या योगी कहा जाता था। गदाधर ने स्वयं ही अपने कुल के भविष्य के ब्रह्मचारियों को सम्बोधित करते हुए शिवभक्त बनाने का आदेश दिया था। गदाधर वरेन्द्री देश का दीपक था।

गदाधर अपने अगाध पाण्डित्य एवं देव भक्ति के कारण सर्वत्र प्रशंसा का पात्र समझा जाता

था । उक्त आभिलेखिक साक्ष्य के अनुसार वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण परिवार के लोग शैव मतावलम्बी थे ।[10] ब्राह्मण गदाधर ने युद्ध-देवता कार्तिकेय की मूर्ति की स्थापना—कोलनाल ग्राम में किया था एवं इसके साथ ही महेश्वर (शिव का नामान्तर), पार्वती एवं विनायक की मूर्तियों की स्थापना करायी थी तथा अत्यधिक धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उसने सूर्य एवं विष्णु की मूर्तियों को भी प्रतिष्ठापित किया था ।[11]

मान्यखेट के राष्ट्रकूट खोट्टिग के कोलगल्लु दानपत्र में एक मात्र वरेन्द्री के तडाग्राम के लोहासनी (योगी) गदाधर के प्रशंसनीय कृत्यों का उल्लेख करने के पूर्व ही सुविचारित ढंग से देव कार्तिकेय (स्कन्द) एवं उसके स्वर्णासन का उल्लेख है ।[12] इससे संकेत मिलता है कि ब्राह्मण गदाधर युद्धदेवता स्कन्द के प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे । ऐसा भी संभव है कि वह तत्कालीन राष्ट्रकूट नरेश खोट्टिग के समय विशेष सैनिक अधिकारी रहा हो एवं महान् कार्य करने के कारण उसकी प्रशंसा में खोट्टिग के कोलगल्लु दान पत्र में प्रशस्तिकार मधुसूदन ने प्रतीकों के माध्यम से संकेत प्रदर्शित किया हो । वह टकारी के कर्मार कुल से सम्बन्धित प्रभावशाली द्विज परिवार में उत्पन्न हुआ था ।[13] गदाधर की प्रशस्ति में युद्ध देवता कार्तिकेय के अजेय पराक्रम एवं बलशालिता का उल्लेख हुआ है ।[14] एक शक्तिशाली राक्षस तारक के विरुद्ध युद्ध में यह देवताओं की सेना का सेनापति था, जिसमें उसने राक्षसों को परास्त करके तारक को मार डाला; इसीलिये उसका नाम सेनानी और तारकजित् है । उसका चित्रण मयूरारोही के रूप में किया जाता है ।[15] प्रशस्ति के उन्नीसवें श्लोक से प्रतीत होता है कि वह कार्तिकेय के राज्य का प्रशासन एवं संचालन करता था ।[16] वह सेनानी एवं प्रशासकीय अधिकारी ज्ञात होता है । वह संभवतः सेनानी एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति का व्यक्ति था । ब्राह्मण गदाधर ने धार्मिक जलाशय, मठ, बानप्रस्थ आश्रम एवं कुछ कुओं का निर्माण कराया था ।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कि गदाधर अपने देवी—देवतापरक मूर्तियों, धार्मिक एवं परोपकारी कृत्यों के कारण उच्चस्तर का निष्ठावान्, प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति या ब्रह्मचारी था । वह महान् प्रशंसा का पात्र था ।

ऐसा विदित होता है कि लोहासनी ब्राह्मण परिवार वरेन्द्री में सुविख्यात एवं प्रभावशाली होने के कारण भी मान्यखेट में विशेष धाक जमा चुका था, जिससे तत्कालीन शासक एवं प्रजागण प्रभावित हुये ।

कोलगल्लु के दो अभिलेख में विशेषरूप से कार्तिकेय एवं वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण के सम्बन्ध का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी गदाधर ने भविष्य के ब्रह्मचारियों को कपर्दी (शिव) की आराधना करने के लिये कहा है । यह प्रतीत होता है कि वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण शैव-धर्म के अनुयायी थे । उन्होंने व्यावहारिक रूप से स्कन्द, शिव-पार्वती आदि की मूर्तियों की स्थापना किया । देवी-देवताओं की मूर्तियों की स्थापना अभिलेखकर्त्ता शाण्डिल्य ब्राह्मण ने कराया था, जिससे प्रतीत होता है कि वह उन देवताओं की पूजा—अर्चना करता था । संभवतः तत्कालीन शाण्डिल्य ब्राह्मण पुजारी का कार्य मन्दिरों आदि में करते थे । यह कार्य भी पौरोहित्यकृत्यान्तर्गत माना जाता है, जो उनके व्यवसाय का द्योतक हो सकता है ।

बंगाल के वरेन्द्री के प्रभावशाली शाण्डिल्य गोत्र से सम्बन्धित लोहासनी परिवार के लोग ब्रह्मचारी कहे जाते थे। इससे ज्ञात होता है कि मान्यखेट में भी वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण सत्यधर्मानुयायी या कट्टर धार्मिक विचार वाले समझे जाते थे। ऐसा संभाव्य है कि शाण्डिल्य ब्राह्मण परिवारों में सब्रह्मचारी या नैष्ठिक ब्रह्मचारी (आजन्म अविवाहित) भी हुआ करते थे, जिनका समाज में विशेष प्रभाव था। इस प्रकार वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मणों का प्रसार एवं प्रभाव विशेष रूप से मान्यखेट में लगभग दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय एवं खोट्टिग के समय में हुआ था।

तटक ग्राम (वरेन्द्री)—

उक्त मान्यखेट के राष्ट्रकूट खोट्टिग के कोलगल्लु दान-पत्र से ज्ञात होता है कि वरेन्द्री के शैवमतावलम्बी शाण्डिल्य ब्राह्मणों का वहिर्गमन एवं मान्यखेट (दक्षिण भारत) में लगभग दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। वरेन्द्री में शैव मतानुयायी ब्राह्मणों के अतिरिक्त वैष्णव मतावलम्बी शाण्डिल्य ब्राह्मण भी थे जिनका वहिर्गमन एवं पूर्वी-बंगाल में प्रसार लगभग द्वादश शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर त्रयोदश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। इस तथ्य के सम्बन्ध में सूचनायें पूर्वी-बंगाल में प्रस्तर मूर्ति अभिलेख से मिली हैं। मूलतः प्रस्तर अभिलेख से ज्ञात हुआ है कि भगवान् विष्णु का मूर्ति-अभिलेख वरेन्द्री के तटकग्राम निवासी बंगोक ने किया था, जो शौरशर्मा का प्रपौत्र, पितामह ब्राह्मण का पौत्र एवं दम्पति संयोग और अनुयमी का पुत्र था।[१४]

पूर्वी-बंगाल से प्राप्त प्रस्तर विष्णु-मूर्ति अभिलेख में शाही नाम का उल्लेख न होना विशेष रूप से ध्यातव्य है। यह कहना भी यथार्थ होगा कि अभिलेख उस समय लिखा गया जब विष्णु की मूर्ति का अभिषेक करते समय कोई ऐसा सम्माननीय या योग्य नरेश नहीं था, जिसके नाम का उल्लेख किया जाय।

उपरि वर्णित बात की पुष्टि निम्न एक दूसरे तथ्य से भी होती है, जिसका सम्बन्ध शाण्डिल्य ब्राह्मण बंगोक के परिवार का वरेन्द्री से वहिर्गमन एवं पूर्वी-बंगाल में प्रसार एवं प्रभाव से है।

ऐसा कहा जाता है कि शाण्डिल्य ब्राह्मण बंगोक उस प्रभावशाली परिवार का था, जिसका वहिर्गमन वरेन्द्री के किसी स्थान विशेष अर्थात् उत्तरी-बंगाल से हुआ था। उत्तरी-बंगाल से शाण्डिल्य ब्राह्मण वहिर्गत होने के पश्चात् वंग (पूर्वी बंगाल) की ओर अवश्य ही पहुँचे, जो विक्रमपुर के परगना से जुड़ा है एवं वह क्षेत्र है जहाँ विष्णु की मूर्ति अभिषेक के थोड़े ही दिन बाद मिली थी। इस तथ्य का स्पष्ट रूप से संकेत विष्णु-मूर्ति-अभिलेख में ब्राह्मण बंगोक एवं उसके तीन पीढ़ी से सम्बन्धित पूर्वजों के नामों के वर्णन से मिलता है।[१७]

वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण बंगोक का नाम भी विशेष महत्त्व रखता है। बंगोक उस परिवार से सम्बन्धित था, जिसमें उसके पिता, पितामह एवं प्रपितामह अर्थात् तीनों के नाम शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं तथा उन्हें देवतापरक नामवाला कहा जा सकता है। प्रपौत्र बंगोक का नाम देशपरक है, जो देश के नाम के आधार पर बना है। इस प्रकार के नामकरण का आधार भौगोलिक कहा जायगा। 'बंगोक' नाम से प्रतीत होता है कि उसका परिवार वरेन्द्री या उत्तरी बंगाल से वहिर्गत होने के पश्चात् ज्यों ही पूर्वी बंगाल अर्थात् बंग में आया, थोड़ें दिन बाद उसका जन्म हुआ। इस प्रकार उत्तरी बंगाल से शाण्डिल्य ब्राह्मणों का प्रसार बंग अर्थात् पूर्वी-बंगाल से हुआ था, जो ब्राह्मण परिवार

के इतिहास के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण विषय माना जा सकता है।

द्वादश शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तरी बंगाल का वातावरण अशान्त था, जहाँ से वरेन्द्री के ब्राह्मण विनिर्गत हुये एवं तत्पश्चात् पूर्वी बंगाल में उनका प्रसार हुआ। उत्तरी बंगाल में आतंक की स्थिति लगभग १२०० ई० में मुहम्मद बिन बख्तियार के आक्रमण से उत्पन्न हुई थी। उस समय उत्तरी बंगाल का शासक लक्ष्मणसेन था। तत्कालीन सेन नरेश को अपने कोर्ट सहित पूर्व की ओर विक्रम पुर भागना पड़ा। मुहम्मद ने भी अपना कोर्ट (न्यायालय) वरेन्द्री के दीनाजपुर से दक्षिण-१४ मील दूर देवकोट में लगाया।[२०] ऐसी स्थिति में यह संभाव्य है कि सत्यधर्मानुयायी भट्ट ब्राह्मणों के लिये वरेन्द्री से दुर्दिन में भागना आवश्यक हुआ एवं वे वंग देश की ओर आये, जहाँ सेन राजाओं का तब भी राज्य था, जो सेन राज्यान्तर्गत पड़ता था।

पूर्वी बंगाल के प्रस्तर-विष्णु-मूर्ति-अभिलेख के आधार पर यह कहना सर्वथा उचित होगा कि वरेन्द्री में स्थित तटक-ग्राम में शाण्डिल्य ब्राह्मण थे, जो वैष्णव कहे जाते थे। विष्णु के स्वर्ग में निवास करने की कामना से भगवान् विष्णु की मूर्ति का अभिलेख पूर्वी बंगाल में शाण्डिल्य बंगोक ने किया था।[२१]

शाण्डिल्य बंगोक के प्रपितामह शौर शर्मा, पितामह ब्राह्मण, तथा पिता और माँ के संयोग एवं अपमानु का नाम विशेषरूप से ध्यातव्य है।[२२] विष्णु-मूर्ति-अभिलेख के सम्पादक ने नलिनी का भट्टसली ने पिता का नाम अनुयमी, अपमानु के स्थान पर, अनुवाद किया है।[२३] प्रपितामह के नाम के साथ उपपद शर्मा का प्रयोग हुआ है, किन्तु पितामह एवं पिता तथा पौत्र और पुत्र के नाम के साथ उपपद का प्रयोग नहीं है, जिससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन वरेन्द्री के शाण्डिल्य ब्राह्मण परिवार में नामकरण में उपपद रखने में किसी विशेष परम्परा या नियम का निर्वाह नहीं किया जाता था। अभिलेख में देशपरक या भौगोलिक आधार पर नाम बंगोक हुआ है, जो विशेष रूप से ध्यातव्य है। प्रपितामह, पितामह एवं पिता का नाम शुद्ध संस्कृत भाषा में है, जिससे सुशिक्षित ब्राह्मण-परिवार होने का संकेत मिलता है।

किआर-विष्णु-मूर्ति-अभिलेख से संकेत मिलता है कि पूर्वी बंगाल में भी शाण्डिल्य ब्राह्मण विष्णु की पूजा करते थे, जैसा कि उन्होंने भगवान् विष्णु की मूर्ति की स्थापना कराया था। अवश्य ही वे विष्णु मन्दिर की पूजा एवं अर्चना से सम्बन्धित धार्मिक अनुष्ठान एवं कृत्य किया करते थे। उदाहरणार्थ—शाण्डिल्य ब्राह्मण बंगोक विष्णु का भक्त था एवं उनकी मूर्ति का अभिलेख किया था। संभवतः वह पुजारी का काम भी उस मन्दिर में करता था। इससे संकेत मिलता है कि शाण्डिल्य ब्राह्मण पुजारी का कृत्य करते थे, जो किसी सीमा तक पौरोहित्य कृत्य सदृश प्रतीत होता है। यह कृत्य भी उनके-व्यवसाय का द्योतक है।

उपर्युक्त किआर-विष्णु-प्रतिमा-अभिलेख के आधार पर यह सर्वथा कहना उपयुक्त होगा कि द्वादश शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वरेन्द्री या उत्तरी-बंगाल से शाण्डिल्य ब्राह्मण सेन शासक लक्ष्मण सेन के समय में वहिर्गत हुये एवं उनका प्रसार तथा प्रभाव बंग अर्थात् पूर्वी-बंगाल में लगभग तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ज्ञात होता है।

गौडदेश (बंगाल)—

उपरिवर्णित मान्यखेट के राष्ट्रकूट खोट्टिग के कोलगल्लु दानपत्र (शक् सं० ८८९—९६७) एवं किआर-विष्णु-मूर्ति-अभिलेख (१२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के

आधार पर ज्ञात हुआ है कि बंगाल देश के वरेन्द्री (उत्तर-बंगाल) से शाण्डिल्य ब्राह्मणों का वहिर्गमन हुआ था।[२४] वंग देश के वरेन्द्री या उतरी-बंगाल के अतिरिक्त गौड-देश से सामवेदीय शाण्डिल्य ब्राह्मणों का देशान्तरागमन लगभग एकादश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था।

साधारणतः पश्चिमी-बंगाल में स्थित वर्तमान मुर्शिदाबाद जनपद ही गौड-देश माना जाता है। गौड-देश या गौड-राज्य की राजधानी कर्णसुवर्ण थी। गौड नाम, गौड लोगों एवं देश के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।[२५] इससे प्रतीत होता है कि गौड देशवासी गौड कहकर सम्बोधित किये जाते थे। गौड की सीमा-विस्तार के सम्बन्ध में परवर्ती धारणा संकुचित अर्थ में यह की जाती है कि यह पद्मा के दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम बंगाल में स्थित बर्दवान क्षेत्र के उत्तर तक है। गौड देश में वर्तमान मुर्शिदाबाद एवं माल्डा का दक्षिणी-भाग भी पड़ता था।[२६] गौड-देश को आधा पश्चिमी-बंगाल माना जाता है। उक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि बंगाल में गौड-प्रदेश महत्त्वपूर्ण समझा जाता था एवं स्थान विशेष के कारण गौड शाण्डिल्य-ब्राह्मणों का वहिर्गमन लगभग एकादश शताब्दी के पूर्वार्द्ध के प्रथम-भाग या द्वितीय-भाग में हुआ था एवं उनका प्रसार तथा प्रभाव एकादश शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम भाग में उत्तरी कोंकन के शिलाहार राजवंश के ब्राह्मण धर्मावलम्बी नरेश मम्मुनिराज के समय में हुआ था। मम्मुनिराज के ताम्र-पत्र से ज्ञात है कि वह गौड-देश के ब्राह्मणों के अरिरिक्त मध्यदेश, लाटदेश एवं अन्य अनेक अज्ञात स्थानों के ब्राह्मणों को भूमि-दान किया था।[२७]

शिलाहार राजवंश के नरेश मम्मुनिराज के दानपत्र (शक् सं० ९७१–१०४९) से ज्ञात होता है कि गौड-देश से शाण्डिल्य ब्राह्मणों का वहिर्गमन हुआ एवं उनका प्रसार तथा प्रभाव उत्तरी कोंकन तक था। गौड-देश के शाण्डिल्य ब्राह्मण सामवेदीय कौथुम शाखानुयायी थे।[२८]

शिलाहार मम्मुनिराज का दान-ग्रहीता ब्राह्मण कोको पण्डित था, जो गौड-देश से वहिर्गत कौथुम शाखानुयायी शाण्डिल्य ब्राह्मण परिवार से सम्बन्धित था।[२९]

मम्मुनिराज के दानपत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तरी कोंकन में कौथुम शाखानुयायी शाण्डिल्य ब्राह्मण गौड ब्राह्मण कहे जाते थे। यद्यपि गौड-देश के ब्राह्मण देश के अनेक भाग में मिला करते हैं, जिससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उनके पूर्वज गौड-देश से वहिर्गत हुए थे। उनका 'आद्यस्थान' गौड-देश था, जहाँ से उनके पूर्वजों को कतिपय कारणों से देशान्तर गमन करना पड़ा।

सामवेदीय शाण्डिल्य ब्राह्मण उत्तरी कोंकन में गौड शाण्डिल्य ब्राह्मण समझे जाते थे। ऐसा भी संभाव्य है कि गौड स्थान विशेष रूप से सम्बन्धित होने के कारण आज भी उत्तरी कोंकन में शाण्डिल्य ब्राह्मणों का उपनाम, नाम के साथ 'गौड' पुकारा जाता हो।

गौड शाण्डिल्य ब्राह्मणों का उपनाम 'पण्डित' प्रयुक्त किया जाता था, क्योंकि पिता एवं पुत्र दोनों के नाम के साथ 'पण्डित' उपनाम का प्रयोग हुआ है। उपनाम 'पण्डित' उनके पाण्डित्य या विद्वत्ता का द्योतक है।

दान-ग्रहीता के रूप में गौड-देश से निर्गत शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है।[३०] इनसे सम्बन्धित ब्राह्मण–नामों में पितामह कोको पण्डित तथा पुत्र पण्डित को सामवेद की कौथुम शाखा का अध्येता बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गौड के शाण्डिल्य ब्राह्मण दान-दक्षिणा प्राप्त करते थे एवं इस प्रकार की परम्परा उत्तरी कोंकन में

भी किसी न किसी रूप में व्याप्त थी। इस दान-दक्षिणा-प्राप्ति को भी पौरोहित्य कृत्य कहा जा सकता है।

उक्त मम्मुनिराज के दानपत्र में उट्टंकित तथ्यों के आधार पर यह कहना उचित ही होगा कि गौड-देश से लगभग एकादश शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सामवेदीय कौथुम शाखा के शाण्डिल्य ब्राह्मण वहिर्गत हुए एवं एकादश शताब्दी के अन्तिम भाग में उनका अत्यधिक प्रसार उत्तरी कोंकन में हुआ।

उपर्युक्त आभिलेखिक साक्ष्यों में वर्णित तथ्यों के आधार पर यह कहना उचित है कि पूर्व मध्ययुगीन बंगाल में शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मण-केन्द्र तडाग्राम (वरेन्द्री) एवं तटक ग्राम (वरेन्द्री) तथा गौड थे। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत में स्थित मान्यखेट क्षेत्र विशेष में राष्ट्रकूट नरेश खोट्टिग के समय में वरेन्द्री (तडाग्राम) के शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण फैल गये थे। ऐसा ज्ञात होता है कि वरेन्द्री के तटक ग्राम के शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मण भी अपना निवास मान्यखेट में बनाये थे। यह क्रम दशवीं शताब्दी से लेकर द्वादश शताब्दी तक चलता रहा। ठीक इसी तरह से गौड देश (बंगाल) के शाण्डिल्यों का भी दक्षिण भारत में विस्तार राष्ट्रकूटों के समय में ही हुआ था।

सन्दर्भ—

१. खोट्टिग का कोलगल्लु दान पत्र, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग २१ पृ०२६४
२. किआर-विष्णु-मूर्ति-अभिलेख, ए० इ०, १७, पृ० ३५६
३. मम्मुनिराज का ताम्रपत्र, ए० इ०, २५, पृ० ६१
४, ५, ६, ए० इ०, २१, पृ० २६०—२६४, २११-१२, २६०
६. श्री एन० लक्ष्मी नारायण राय ने 'लोहासनी' का तात्पर्य सन्यासी लगाया है (लोहासनी च शाण्डिल्योतपस्वी गदाधरः) ए० इ०, २१, पृ० २६४
८. तत्रैव, पृ० २६०
९. 'विद्वज्जनाश्रयो विद्वान् गौडचूडामणिर्गुणी'। तत्रैव, पृ० २६४, श्लोक १३
१०. तत्रैव,
११ तत्रैव, पृ०, २६३, श्लोक २—८, तथा पृ० २६४
१२. तत्रैव, पृ० २६३, श्लोक २—८
१३. तत्रैव पृ० २६५
१४. ए० इ०, २१, पृ० २६३
१५. आप्टे-संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २६९-७०
१६. १७, ए० इ०, २१, पृ० २६३, २६४
१८. से२३ किआर-विष्णु-प्रतिमा-अभिलेख- ए० इ०, १७, पृ० ३५६
२४. मम्मुनिराज का ताम्रपत्र, ए० इ०, २५, पृ० ६१
२५. ए० इ० ३०, पृ० २८७
२६. नन्दूलाल डे, द जियोग्राफीकल डिक्सनरी आफ एन्शियेन्ट एन्ड मेडियवल इन्डिया, पृ० ६३
२७. २८, २९, ए० इ०, २५, पृ० ६१—६१
३०. "…गौड देस (श) विनिर्ग्गतसा(शा)ण्डिल्य-गोत्रकौथुमसाखा (शाखः) कोकोपण्डितः पितामहपण्डितसुतः …" ए० इ०, २५, पृ० ६१

मानस का मर्म

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

गोशाईं तुलसीदास के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त आलोचना में प्रवृत्त होने पर स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही रही है कि 'मारग सोइ जाकहं जोइ भावा'। जो मन में आया उसी को प्रायः उगल देने का प्रयास किया गया प्रतीत होता है। तुलसीदास का स्वरूप ठीक-ठीक अंकित करने का प्रयत्न न करके मन जिधर चला गया उसी को शब्दबद्ध कर दिया गया। सबसे अधिक लोगों ने रामचरितमानस को ही अवलम्ब बनाया। मानस प्रबन्ध-काव्य है, उसमें जो कुछ कहा गया है वह, आरम्भिक और कुछ अन्तिम अंश को छोड़कर, सभी कुछ पात्रों के माध्यम से ही कहा गया है। पात्र के अनुरूप विचारधारा व्यक्त की जाती है, इसका ध्यान भी नहीं रखा गया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ-जहाँ दर्शन, भक्ति, धर्म, नीति आदि की बातें कहलाई गई हैं, सभी को एकत्र कर तुलसीदास की विचारधारा का निर्णय करने का प्रयास किया गया। फल यह हुआ कि विभिन्न प्रकार की दार्शनिक बातें एक ही व्यक्ति कहता प्रतीत हुआ और तब एक शब्द खोजा गया, जिसे 'समन्वय' कहते हैं। किसी ने यह भी समझने का कष्ट नहीं उठाया कि समन्वय का अर्थ क्या है। सीधा अर्थ कर लिया गया मेल या अन्वय। उपसर्ग लगने से अर्थ बदल जाता है, यह भी नहीं सोचा गया। हार और संहार का एक अर्थ कैसे होगा ? समन्वय का अर्थ है दो या दो से अधिक पदार्थों का ऐसा मेल, जिसके परिणामस्वरूप मिलाए गए सभी पदार्थों से भिन्न एक नया पदार्थ बन जाए। ऐसा तो तुलसीदास का प्रयास कहीं नहीं है। इसलिए सबसे पहले उनकी समीक्षा से समन्वय शब्द को हटाना आवश्यक है। उसके बदले यदि कहना हो तो व्यवस्था शब्द बहुत अच्छा या उपयुक्त न होने पर भी उससे काम चल सकता है। कम से कम इस शब्द के प्रयोग से भ्रमात्मक धारणा का प्रचार नहीं हो सकेगा। तुलसीदास निर्गुण-सगुण दोनों को ग्रहण किए रहने की कैसी अच्छी व्यवस्था इस दोहे में बतलाते हैं—

> हिय निर्गुन नैननि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

यह समन्वय है या व्यवस्था, इसका निर्णय विचारशील स्वयं कर लें।

तुलसीदास जैसे बहुश्रुत महात्मा की रचना में से कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा लेकर भानमती का कुनबा जोड़ने का प्रयास प्रायः होता रहा है। किन्तु वे सर्वत्र इतने स्पष्ट हैं कि कहीं किसी प्रकार के भ्रम की सम्भावना नहीं है। भ्रम बहुधा समीक्षक के अज्ञान के कारण हुआ है। विनय-पत्रिका में तुलसीदास लिखते हैं कि 'तुलसिदास जग चिद्विलास यह बूझत बूझत बूझै। रघुपति भक्ति वारिछालित मन बिन प्रयास हीं सूझै।' स्पष्ट ही तुलसीदास ने चिद्विलास की कल्पना जगत् के सम्बन्ध में नहीं की है। वह पहले से शांकर वेदान्त में मान्य है। भ्रम यह होता है कि जगत् को तो केवलाद्वैत ने अचित् माना है, फिर चिद्विलास उसे कैसे कह सकते हैं। भक्तिमार्गी तुलसीदास ने यह कल्पना की है तो जगत् को किसी के बूझने में समय क्यों लगता है, प्रयास क्यों करना पड़ता है ? बूझते-बूझते पर्याप्त समय में उसका ज्ञान होता है। ज्ञानमार्ग से उसे चिद्विलास समझने में

प्रयासाधिक्य भी है और समयाधिक्य भी, पर भक्ति से निर्मल मन में प्रयास करना ही नहीं पड़ता। डा० सम्पूर्णानन्द ने 'चिद्विलास' नाम की एक पुस्तक ही वेदान्त का सिद्धान्त समझाने के लिए लिखी है, वह भक्ति का ग्रन्थ नहीं है।

भगवान् शंकराचार्य एक ही पारमार्थिक सत्ता मानते हैं। वह ब्रह्म की ही सत्ता है। दूसरी सत्ता भ्रमात्मक होती है। जगत् को उन्होंने अनिर्वचनीय कहा है और अनिर्वचनीय का स्वरूप समझाने के लिए उसे सदसद्विलक्षण बताया है। जिसका तात्पर्य है— सद्विलक्षण, असद्विलक्षण और सद्+असद्+विलक्षण। यह बात उन्होंने विनय-पत्रिका में 'केसव कहि न जाइ का कहिये' में कही है—

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥

सद, असद्, सदसद् जगत् के लिए कहा जाए तो भ्रम ही है। तब इस भ्रम को छोड़कर कोई प्रयत्नशील हो तो आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। अपना प्रत्यभिज्ञान इस भ्रम को त्यागने से ही हो सकता है। पारमार्थिक सत्ता जगत् की नहीं। पर प्रश्न यह उठता है कि जब ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब यह सब किया किसने। उसी की माया मानने पर माया अचित् है इसलिए वह तो खेल खेल नहीं सकती। खेल तो चित् ही खेलता है। चाहे उसकी माया कहिए, चाहे खेल कहिए, है सब उसी का। अतः जो विलस रहा है वह चित् ही है। उसकी चिति ही निर्माण करती है— ईंट पर ईंट रख कर चिनाई या जुड़ाई करती है। चिति ही उसका बल है। शंकर वेदांत माया या सृष्टि को अचित् कहता रह गया, पर आगम को इससे संतोष नहीं हुआ। इसी से उसने माया को चित् शक्ति घोषित किया। फिर तो सृष्टि भी ब्रह्मस्वरूप ही हो गई। भक्ति क्षेत्र में चिच्छक्ति तंत्र से आई और वह माया के स्थान पर महामाया हो गई। वह ब्रह्मस्वरूप चित् हो गई। वही आदि शक्ति हो गई। फिर तो अवतार उसके बिना होता ही नहीं। तुलसीदास के रामचरितमानस में मनु-शतरूपा ने तो 'चाहहुं तुमहि समान सुत' की इच्छा प्रकट की थी। इस पर भगवान् को कहना पड़ा—

बापु सरिस खोजहुँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

इतना अतिरिक्त कहा—

आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिअ मोरि यह माया॥

'मेरी माया' अर्थात् चिन्माया, महामाया। सारी माया जिसके भीतर ही है—

माया सब सिय माया माहूँ।

फिर तो तुलसीदास जी यह कह देते हैं—

सीयराममय सब जग जानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

'शांकर अद्वैत नहीं', आगमों या तंत्रों का अद्वयवाद भक्ति के क्षेत्र में छा गया। 'अचित् माया' चिन्माया की कुक्षि में समा गई। शक्ति और शक्तिमान् का सामरस्य उभर आया—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौ सीताराम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

'नानापुराणनिगमागमसम्मत' कहना है उन्हें। आगम को उन्होंने निगम के साथ ही ध्यान में रखा है। भक्तिधारा ने शक्ति और भक्ति को एक कर दिया है। मानस में भक्ति पटरानी है, महामाया पट्टमहिषी है, पर अचिन्माया 'खलु नर्तकी बिचारी' रह गई। वह महारानी के संकेत पर केवल

नृत्य दिखाकर चली जाती है, उसका प्रभाव या आधिपत्य परिमित है ।

दोनों को ठीक-ठीक समझने के लिए चाहें तो कह सकते हैं कि चिन्माया, महामाया; ब्रह्म सम्बन्धी माया है और अचिन्माया भ्रम में डालनेवाली जीव सम्बन्धी माया है। ब्रह्मसम्बद्ध और जीवसम्बद्ध माया कहने को तो पृथक् है, पर दूसरी माया पहली माया के ही अधिकार के खाते में पड़ी हुई है । तंत्र अचित्य रूप में ही उसे मानता है। वह अचित् भी हो सकती है और चिद-चित् भी ।

मानस के व्यास सम्प्रति अनेक प्रकार के प्रश्न किसी प्रसंग में स्वयम् खड़े करते हैं और उनका अद्भुत मनोरंजक समाधान करके श्रोताओं को मुग्ध कर देते हैं। मानस के द्वितीय सोपान में वनगमन के समय राम आगे हैं और लक्ष्मण पीछे तथा दोनों के बीच में सीता जी । तुल-सीदास लिखते हैं—

आगे राम लखन पुनि पाछे । मुनिवर वेष बिराजत काछे ।
उभय बीच सिय सोहति कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।।

उन्होंने कहा—सीता जी तो 'माया' हो नहीं सकतीं । इसलिए यहाँ 'माया' का अर्थ संपत्ति या धन है। यह उनके ध्यान में नहीं आया कि तुलसीदास ने कितनी सूक्ष्मता से बात कह दी है । 'राम' ब्रह्म हैं। लक्ष्मण 'जीव' हैं । सीता, राम से सम्बद्ध होकर महामाया या चिन्माया हैं और जीव से सम्बद्ध होकर अचिन्माया या भ्रमकारिणी माया । दर्शन की बारीकियाँ बिना समझे जनता में मानस का दार्शनिक या आध्यात्मिक व्यास बन जाना मनोरंजनकारी व्याख्या से तो हो सकता है, पर मानस का मर्म ठीक-ठीक नहीं समझाया जा सकता ।

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।

मैं = अहम्वृत्ति, मोर = ममत्ववृत्ति और तैं-तोर = भेदवृत्ति । इसी प्रसंग में उन्होंने श्री-मद्भागवत के आधार पर दो प्रकार की माया का भी उल्लेख किया है ।

तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।
एक रचै जग गुनबस जाके । प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके ।

पहली दुष्ट अविद्या है और दूसरी विद्या है । जगत् के सम्बन्ध में भ्रम अज्ञान से होता है। पर ब्रह्म के सम्बन्ध में 'मोह' ज्ञान रहते भी होता है । भक्त के लिए अविद्या तो कष्टदायिनी नहीं होती । क्योंकि—

भगति करत बिन जतन प्रयासा । संसृतिमूल अविद्या नासा ।
भोजन करिअ तृप्तिहित लागी । जिमि सो असन पचवै जठरागी ।।

जैसे भोजन पचकर कब पक्वाशय में चला गया इसका पता नहीं चलता, वैसे ही अज्ञान को भक्ति पचा लेती है । पर काकभुशुंडि ऐसे भक्त को भी राम की बाललीला देखते समय यह मन में आया कि नर की भाँति यह कैसी लीला हो रही है, फिर तो वे विद्या माया के चक्कर में पड़ ही गए। ज्ञान भगवान् में अखंड रहता है। पर जीव में वह खंडित होता रहता है, एकरस नहीं रह पाता। इसलिए ज्ञानी भी माया के चक्कर में पड़ जाते हैं। मानस के सभी श्रोता ज्ञानी हैं, फिर भी उन्हें सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में भ्रम होता है और उसी के निवारण के लिए मानस लिखा गया है । काक-भुशुंडि का कहना है कि—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानहि कोय ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होय ।।

सगुण ब्रह्म या अवतार की ऐश्वर्यलीला सुगम है, पर उनकी माधुर्यलीला अगम है । जब वे नारि-

विरह में दुखी होते हैं तब ज्ञानी का ज्ञान इसे देख सुन कर खंडित होने लगता है।

काकभुशुंडि ने कहा ही है कि—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या।
ताते नास न होई दास कर। भेदभगति बाढ़ै विहंगबर॥

हरिभक्त जब विद्यामाया से व्याकुल होता है तब वह समझ जाता है कि भूल हो गई। फिर वह अपने को संभालता है और यह निश्चय करता है कि मुझे तो उपास्य-उपासक भेद करके अपनी भक्ति पर ही दृढ़ रहने में कल्याण है, भगवान् की लीला अचिंत्य है। प्रश्न होता है कि भेदभक्ति क्यों? इसलिए कि 'सेवकसेव्यभाव बिन भव न तरिअ उरगारि'।

भगवान् की लीला में संदेह वस्तुतः अहंकार के कारण होता है और दास्यभाव के अतिरिक्त उसके शमन का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अभेद भक्ति में अहंकार के उठ खड़े होने की संभावना रहती है। फिर भक्ति में बिना कल्पित भेद किए भक्ति होगी तो कैसे। इसलिए भेदभक्ति ही स्वारस्यदायिनी होती है। भक्त के सुरक्षित रहने का सबसे उत्तम मार्ग यही है। इसीसे सगुण के उपासक तो मोक्ष भी नहीं चाहते। 'जनम जनम रतिराम पद यह बरदान न आन' का ही अभिलाष उन्हें रहता है।

मुझे यही बताना था कि तुलसीदास की सारी बातें सुस्पष्ट होती हैं। रामभक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने इसीसे कह दिया है कि उसमें सब कुछ सध सकता है—

घर कीने घर जात है घर छोड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही रामप्रेमपुर छाइ॥

रामभक्ति से घर और बन दोनों सध सकते हैं। अब इन घर-बन का चाहे जो अर्थ लगा लीजिए। पहली पंक्ति में 'घर' लोक को मानें, तो उसे बनाए रखने से परलोक नहीं सधेगा। यदि उसे छोड़ा जाय तो लोक ही चला जायगा। इसलिए यदि लोक-परलोक दोनों को साधना है तो रामभक्ति का माध्यम सर्वोत्तम है। घर को प्रवृत्ति मानिए तो वन को निवृत्ति मानना पड़ेगा। घर को प्रेय माना जाय तो बन को श्रेय मानना पड़ेगा। पहले को भोग मानिए तो दूसरे को योग मानना पड़ेगा। 'जोग भोग महं राखेउ गोई' जनक के लिए उन्होंने कहा ही है। इसलिए तुलसीदास की भक्ति न तो ज्ञानरहित है और न कर्मविरहित।

त्रिवेणी का रूपक देकर उन्होंने 'जुग बिच (ज्ञान और कर्म के बीच) भगति देवधुनि-धारा' कहा ही है। यों तो उन्होंने भक्ति को स्वतंत्र भी कहा है—

सो स्वतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥

पर स्वतंत्र कहकर भी ज्ञान और विज्ञान (ज्ञान का आचरण-कर्म) से उसे हीन नहीं कहा है। उसके अधीन हों, पर रहते साथ ही हैं।

मानस के चार घाटों की स्थापना स्वयं तुलसीदास ने ही की है— 'घाट मनोहर चारि।' मानस की व्याख्या की परम्परा ने शिवपार्वतीसम्वाद को ज्ञानघाट, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-सम्वाद को कर्मघाट, काकभुशुण्डि-गरुण-सम्वाद को उपासनाघाट और तुलसी-संत-जन-घाट को विनय या शीलघाट बताया है। इन अभिधानों का तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञानघाट कर्म-उपासना से रहित है। वहाँ प्राधान्य ज्ञान का रखकर, सभी की चर्चा है। ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिए। कर्मघाट में ज्ञान-उपासना भी है। विनय या शीलघाट में सभी है। मानस की परिसमाप्ति चौथेघाट पर ही है। इसका आरम्भ शिव-पार्वती-सम्वाद से है। इसका नाम रामचरितमानस इसलिए है कि यह पहले शिव के मानस में था और ग्रन्थ की समाप्ति पर भी 'यत्पूर्वंप्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना' आया है, इसलिए मानस की मूलकथा शिव-प्रोक्त ही है। वह क्रमशः अन्य वक्ताओं तक पहुँची है।

यशस्तिलकचम्पू में ओज गुण

कु० सत्यभामा श्रीवास्तव

साहित्य जगत् में काव्यरचना हेतु जिस प्रकार तीन रीतियाँ स्वीकार की गई हैं उसी प्रकार तीन गुण भी प्रमुख माने गये हैं–ओज, प्रसाद और माधुर्य दण्डी[1] ने गुणों की संख्या दस मानी है। वीर रस की उचित उद्‌भावना के लिए ओजगुण-प्रधान शैली का प्रयोग होता है। ओज की पुष्टि के लिए कटु ध्वनियों का प्रयोग, कान्तिगुण तथा समास बाहुल्य होना आवश्यक है।[2]

यशस्तिलकचम्पू ओजगुण प्रधान कृति है। इस काव्य में ओजगुण का अनेकश प्रयोग हुआ है। चतुर्थ आश्वास में सुवेल पर्वत के वर्णन में ओजगुण का प्रयोग दर्शनीय है–

'क्वचिद्रक्ततुण्डकुटुम्बिनीलपनचापलच्युतोच्चिलिङ्गावचयवञ्चनसंरब्धव्याधयुद्धमध्यागतसहचरीप्रणीतफूत्कारकोलाहलकुत्कीलकुञ्जकुहरम्,···क्वचिदनेकनाकुनिर्गतनिर्मोकालोकनकुपितकलापिनीपोतखरमुखावलिख्यमानमेदिनीवदनम्'।[3]

अर्थात् 'किसी स्थान पर पर्वत की लताओं से आच्छादित प्रदेश वाली गुफा का मध्य भाग ऐसी व्याधकामिनियों के द्वारा किये हुए फूत्कार से अव्यक्त वाचालित है, जो कि शुकपत्नियों के मुख की चपलता से नीचे गिरे हुए दाडिम फलों की रक्षा के ग्रहण में प्रारम्भ किये हुए व्याधयुद्ध के मध्य युद्ध निवारण के लिए प्रविष्ट हुई थीं, किसी स्थान पर शृगालसमूह लताओं की झाड़ियों में विलम्ब करते हुए जङ्गली वानरों द्वारा भयभीत कराये गये मृगों के भागने से भयभीत किया गया है, कहीं पर पृथ्वी का अग्रभाग बहुत सी बामियों से निकली साँपों की केंचुलियों के दर्शन से कुपित हुई मयूरी के बच्चों के व्रणयुक्त नखों व चोचों द्वारा विदीर्ण किया जा रहा है'।

उपर्युक्त उद्धरण में गौडी रीतियुक्त ओजगुण की अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार अद्‌भुत रस पर आश्रित चण्डमारी देवी का वर्णन ओजगुण से ओतप्रोत है। देवी ने गमन के वेग से तिरस्कृत किये गये सूर्यादि महाग्रहों तथा पिशाचों के सञ्चार से विद्याधरों को कुपित कर दिया था, उन्होंने परस्पर टकराने से फूटते हुए नरपञ्जरों और डमरुओं के अग्रभाग में बँधे हुए घंटों की टङ्कार को सुनकर आकाश में आये हुए तथा नृत्य करते हुए नारद की आशा को तोड़ दिया था, उन्होंने सर्पों से बँधे हुए जटाजूट के निर्दयतापूर्वक बाँधने के कारण हर्षरहित सर्पों के कण्ठविवर से निकले हुए फूत्कारों से बढ़े हुए ललाट नेत्रों की अग्निज्वालाओं से सूर्य की विमान की ध्वजाओं के विस्तार को भस्मीभूत कर दिया था।

इस प्रकार के वर्णन में समास बहुल कटुशब्द 'र' तथा 'ड' के प्रयोग से ओजगुण की अभिव्यक्ति हुई है।[4] आचार्य मम्मट ने इस प्रकार के वर्णों एवं सघन रचना को ओज

गुण का व्यञ्जक माना है।[5]

द्वितीय आश्वास में वर्णित सभामण्डप-वर्णन में ओजगुण का प्रकर्ष देखा जासकता है—

'समाचरितमहावीथीप्रचारेण शाखानगरेणानेकरत्नचितमेतदुचितमतिविचित्रवस्त्रशोभापनीतातपमभिषेकमण्डपमनेकतोरणमङ्गवेदिकावासविभक्तकक्षान्तरं सन्निकायं विरचय्य।[6]

अर्थात् 'उस सभामण्डप में महावीथियों की रचना की गयी थी, जिसमें नाना प्रकार के रत्न जड़े हुए थे, जो राज्य पट्टाभिषक व विवाह अभिषेक के योग्य था, जिसने अत्यन्त मनोज्ञ वस्त्रों से सूर्य के आतप को रोक दिया था, जिसकी निवास भूमियाँ बहुत से तोरणों से मण्डित की गयी थीं'। आचार्य सुदत्त के वर्णन में भी ओजगुण की उद्भावना हुई है—

'समस्तसमयानवद्यविद्याविदग्धबुधप्रकाण्डपुण्डरीकमण्डलीमार्तण्डः कृत्स्नदिगन्तविश्रान्तविश्रुतशिष्यश्रेणिसमीरपथप्रथमानकीर्तिकलहंसीनिवासीकृतनिखिलभुवनाभोगः··· ।[7]

अर्थात् 'जो आचार्य समस्त शास्त्रों के निर्दोष ज्ञान में पारङ्गत हुए महाविद्वानों के समूह रूप श्वेतकमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे, जिसकी कीर्ति रूपी राजहंसी समस्त दिशाओं के प्रान्त में रहने वाली विख्यात विद्वत्तापूर्ण शिष्य मण्डली रूप आकाश में व्याप्त हो रही थी, जिसके कारण वह समस्त पृथ्वीमण्डल पर निवास कर रही थी, जिसने तीव्रतर पाप कर्म से कलुषित करने वाले कमनीय कामिनी आदि विषयरूप भयङ्कर सर्पों को समाप्त कर दिया था'। यशस्तिलक का ग्रीष्म-ऋतु-वर्णन भी ओजगुण से ओतप्रोत है—

'यस्य च दावदाहद्विगुणितप्रतापातपैस्तपनोपलशैलशिलाशिखोच्छलदविरलस्फुलिङ्गसङ्गसंतापितस्थलजलजराजिभिः···विरहदहनदह्यमानमहिलाश्वासानिलपुनरुक्तोष्णबन्धैरुपार्जितजगज्जातज्योतिः'[8]

अर्थात् 'जो ग्रीष्म कालीन किरणों की उष्णता के प्रज्वलित होने से द्विगुणित हो गयी थी, जिन्होंने सूर्यकान्त मणियों के पर्वतों की शिलाओं के अग्रभाग से निरन्तर उछलते हुए अग्निकणों के समागम से स्थलकमलों की पंक्तियों को संतप्त कर दिया था, जिनके प्रकाश का प्रसार वृक्षों के मूलभागों में विद्यमान बिलों से आधे निकले हुए सर्पों के मुखों से उगले हुए तीव्र विषरूपी अग्नि की ज्वालाओं से अत्यन्त भयङ्कर था, जिनकी उष्णता विरहरूप अग्नि द्वारा भस्म की जाने वाली कामिनियों के श्वासों द्वारा द्विगुणित था'। यहाँ पर समासबाहुल्य के कारण ओजगुण है। भयानक रस पर आधारित ओजगुण का उदाहरण द्रष्टव्य है—

'अतिबादप्ररूढदंष्ट्राङ्कुराग्रसंलग्नघनसंघातनिर्जितवराहवेषविष्णुसमुद्धृतधराशोभाभिः,सनादक्रोडक्रीडत्क्रमाक्रान्तिमुखरघर्घरकघोरघोषभीषितानिनिमिषपरिषद्भिः'[9]

अर्थात् 'उन्होंने मुख से बाहर निकली हुई दाढ के अग्रभाग पर स्थित मेघों के द्वारा वराहवेषधारी भगवान् विष्णु द्वारा धारण की हुई पृथ्वी की शोभा को जीत लिया था, उन्होंने आकाश और पृथ्वी के मध्य में ध्वनि सहित क्रीड़ा करने वाले अपने पैरों की व्याप्ति से मुखरित घर्घर मालाओं के भयङ्कर शब्द से देवसमूह को भी भयभीत कर दिया था'। यहाँ पर ओजगुण व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग हुआ है।

वीर रस पर आधारित ओजगुण का दर्शन हमें करबालवीर नामक योद्धा के कथन में होता है—

अखर्वगर्वदुर्वारवीर्यपर्यस्तमानसः ।
मदीयस्वामिसेवासु यः कोऽपिहतसाहसः ॥
विपक्षपक्षक्षयदक्षदीक्षः कौक्षेयको मामक एष तस्य ।
रक्षांसि वक्षः क्षतजैः क्षरद्भिः प्रतीक्षतेऽक्षुण्णतया रणेषु ॥[10]

अर्थात् 'जो व्यक्ति महान् अहंकार और न रोकी जाने वाली शक्ति से पतित है, मेरे स्वामी यशोधर महाराज के चरणकमलों की आराधनाओं में अपना साहस नष्ट करने वाला होता है, उसके हृदय से प्रवाहित होते हुए रुधिर से यह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली मेरी तलवार, जिसका व्रत-धारण शत्रु-समूह को नष्ट करने में समर्थ है, युद्ध भूमियों पर पूर्ण रूप से राक्षसों की पूजा करती है' । यहाँ पर 'र' तथा 'क्ष' ओज व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार चण्डमारी देवी के प्राङ्गण-वर्णन में समास बहुल ओज गुण स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है ।[11]

मद्य पीने वाले एक सन्यासी के कथा–वर्णन में ओजगुण का चमत्कार देखा जा सकता है । कथावस्तु में एक ऐसा वर्णन है कि 'जहाँ के राजा की गर्व रूपी अग्नि में शत्रुओं के वंश रूप मकर हवन किये गये थे, ऐसे पोदनपुर नाम के नगर में एकपाद नामक सन्यासी नदी में स्नान करने के लिए जा रहा था । मार्ग में वह ऐसे स्थान से गुजरा जहाँ पर अपनी छाया में दूसरे हाथी की शङ्का से कुछ मतवाले हाथी के तीक्ष्ण दाँतों के द्वारा पृथ्वी का मध्य भाग विदीर्ण किया जा रहा था ।'[12]

प्रथम आश्वास में वर्णित मारिदत्त का वर्णन ओज-गुण में ही किया गया है—

उत्सर्पद्दर्पवैरिव्रजभुजगकुलाभोगसङ्कोचमन्त्रः
प्रह्वक्षोणीशकल्पद्रुमधरणिसुधासारवर्षाम्बुवाहः ।
आसन्नोदन्वदद्रिद्रवदमरसखीगीतकीर्तिप्रवाहः
कामं कल्पायुरेष प्रतपतुसुचिरं धर्मधामावलोकः ॥[13]

अर्थात् 'जो महाराज शत्रुसमूहरूपी सर्पसमूह को वशीमन्त्र के समान वश में करते हैं, जो पृथ्वी पर अमृत की वर्षा करने वाले मेघ सदृश राजा होकर चरण-कमलों में नम्रीभूत राजाओं को धन-मानादि से संतुष्ट करते हैं, समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के स्वामी होने से जिनका कीर्तिप्रवाह अत्यन्त निकटवर्ती समुद्र के तट पर स्थित देवियों द्वारा गान किया जाता है, ऐसे वे मारिदत्त राजा ऐश्वर्यशाली होवें' । उक्त उदाहरण में क्लिष्ट भाषा के प्रयोग के साथ समासबहुलता से युक्त ओजगुण स्पष्ट है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचम्पू में ओजगुण का स्थान-स्थान पर समुचित प्रयोग किया है । धार्मिक विचारों की प्रधानता होने के कारण काव्य में अधिकांशतः लम्बे समासों का प्रयोग हुआ है । इस काव्य के गद्यभाग में कवि ने मुख्य रूप से समास-बहुल ओजगुण का प्रयोग किया है । कहीं-कहीं वर्ण्य-विषय और अपनी रुचि के अनुसार कवि ने समास-बहुल, अल्पसमास युक्त तथा समासरहित पदावली का प्रयोग किया है ।

सन्दर्भ—

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यसुकुमारता
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।
काव्यादर्श, १/४२

२. समस्तात्युद्भटपदमोजः कान्तिगुणान्वितम् ।
गौडीयामपि गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ।।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १/२/१२

३. यशस्तिलकचंपू, आ० ४, पृ० ११४
४. वही, १, पृ० ७३
५. योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।
काव्यप्रकाश, ८/७५
६. यशस्तिलकचम्पू, आ० २, पृ० १६२
७. यश०, आ० १, पृ० ३०
८. वही, पृ० ९१
९. वही, पृ० २७
१०. वही, आ० ३/१०, ११
११. वही, आ० १, पृ० २८
१२. वही, आ० ७, पृ० २९५
१३. वही, १/१६४

—:०:—

BHITARI PILLAR INSCRIPTION
SOME NEW INTERPRETATIONS

Dr. Vimal Chandra Pandey

The following four lines in the Bhitari Pillar Inscription of Skandagupta need re-appraisal:

विचलितकुललक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ।
समुदितबलकोशान् पुश्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपच्चरणपीठे स्थापित्तोवामपादः ॥

Fleet's translation of these lines runs as follows:

"By whom, when he prepared himself to restore the fallen fortunes of (his) family, a (whole) night was spent on a couch that was the bare earth, and then, having conquered the Pushyamitras who had developed great power and wealth, he placed (his) left foot on a foot-stood which was the king (of that tribe himself)."[1]

Referring to these lines, H. C. Raychaudhuri observes that 'while preparing to restore the fallen fortunes of his family he was reduced to such straits that he had to spend a whole night sleeping on the bare earth.[2]

In this regard D. C. Sircar has to make the following observations: 'This shows that before the actual seizure of power, Skandagupta passed sometime in utter distress, probably owing to defeat and the success of a rival for the throne.'[3]

In his effort to explain as to why Skandagupta has to pass a whole night on bare earth, R. C. Majumdar adds that 'in course of his fight with them (his enemies) to restore the fallen fortunes of his family, Skandagupta passed a whole night on bare earth[4].'

S. Chattopadhyaya is also in agreement with Majumdar's interpretation. Now the Bhitari pillar Inscription leaves us in no doubt that Kumaragupta's death was followed by some catastrophe which made the fortunes of the Gupta family unstable. It is also true that Skandagupta made a

serious attempt to restore them Also, the inscription does make a mention of his passing a whole night on bare earth. But there is nothing in it to suggest that he was forced to do so because he was reduced to such straits' or was 'in utter distress.' In fact, 'the passing of a whole night on bare earth is an expression hardly used in Sanskrit literature or inscriptions to demonstrate the hero's distress or fortitude. Such an expression has either been used to describe mourning or penance. We had elsewhere opined that 'the catastrophe which had ruined the fortunes of the Gupta family had taken place immediately after the death of Kumaragupta', that 'the period during which Skandagupta had to fight with the Pushyamitras was also the period of mourning in the royal house' and that 'the Post-cremation rites included sleeping on bare earth on the part of the performers of those rites.' Thus, it would appear that 'it was on a Sombre day of mourning that Skandagupta had to face the wrath of the onslaught of the powerful Pushyamitras, while still spending a night on bare earth.'

Alternately, these lines in the Bhitari Pillar Inscription suggest Skandagupta's accession to the throne imnediately after the death of his father. The pre-consecration rites enjoin upon the king-designate to spend the preceding nights on bare earth, observing celebacy [6]

Again, the exact significance of the following line in the Bhitari Pillar Inscription has not been brought out by the scholars:

क्षितिपच्चरणपीठे स्थापितो वामपाद:

In this connection it should be remembered that 'the placing of the left foot on somebody' is proverbially indicative of one's utter contempt for him.

The *Ramayana* contains an incident to the point. When Ravana tries to cajole Sita, confined in the Ashoka garden, to yield to his desires, the latter snubs him saying:—

चरणेनापि सव्येन

न स्पृशेयं निशाचर: ।[7]

(O *Ravana* ! I cannot touch you even with my *left foot.*)

Here, in the Bhitari Pillar Inscription, the scribe uses the same proverb to bring home Skandagupta's utter contempt for his rival (s).

REFERENCES—

1. C 11, Vol.III, p.55
2. PHAI, p. 578
3. SI, p. 322, ft.6
4. NHIP, p.175
5. VIJ, XVI, i, p.4
5. Ramayana, II.4.23:
7. Ibid, V.26.10

POTTERY YARD AND ITS FUNCTIONS IN THE EXCAVATION

V. K. Tiwari

In determining the cultural sequence of a site, in a chronological order, the archaeological evidences, such as numismatic epigraphy, datable ceramics and other finds, are of immense value. And at times, when the site does not yield the aforesaid datable material the ceramic remains from the site are of vital significance and they alone play a very decisive part in establishing the cultural sequence of the site. Thus it appears that it has rightly been remarked that "the pottery is the alphabet of archaeology." The part played by it in the field archaeology is so vital that a proper understanding be essential. Owing to these facts, the effective functioning of pottery yard in a excavation is indispensable. It would be therefore important for the excavator to understand the salient features of the functioning of a pottery yard. In the following pages, an attempt has been made to visualise the significance of the pottery yard and the work done there.

Pottery yard literally means a storage space for pottery, but it does not confine to pottery only, it also shelters other excavated materials, although, the major part of it is occupied by pottery, Infact pottery yard is the place where all the cxcavated materials are collected cleaned, recorded, sorted, preserved and packed for transportation to a destination. It may be prepared in advance of the actual digging to facilitate keeping of pottery and other antiquities of various layers and sectors of quadrangle seperatly. Normally, baskets are used in keeping of the pottery. The proper maintenance of thc pottery yard not only helps in avoiding the heavy expenditure on baskets but also keeps a flow of baskets both in the pottery yard and the site.

The pottery yard is prepared in the gird system. Each gird of 4×4 meters is sub-devided into 16 squares of 1×1 meter each. Thus a gird covers an area of 16 meters square. In between a gird a passage known as "delivery passage" of 50 Cm. is left. It is not only ornamental but utilitarian too,

as it serves as approches to squares and girds each one for one quadrangle of the trench. The 16 Squares accomodate the pottery of 16 various levels. These squares may be occupied in clockwise directions. Small wooden plates, each bearing one number from 1 to 16 may be painted and fixed in each square. Similarly, a plate may be fixed for the trench and one each for the grids, rep-representing the four quadrangles of the trench. For vertical excavation the same system may be followed, otherwise according to the suitability, two or three grids may be combined by removing the passage in between them.

The pottery yard may be located in the vicinity of site, but it may not be on the mound itself. The Place, where, the pottery yard is to be prepared has to be cleened throughly and levelled up. The size depends on the extent of the excavation but it is always useful to keep the margine for its extension on atleast two sides. The pottery yard may be rectanguler or square in the plan. The help of a theodolite, measuring poles and compass may be taken to keep the sides absolutely straight and at right angles. The right angle measure may also be used. Thus having fixed the four corner points, big iron nails, atleast 10 Cm. long, are put at the points. The string may be fixed arround all the four nails, and the area of the yard is now ready to be devided into grids and squares. A tape, each, to be held on the four sides. The nailes may be fixed up at a level of one Cm. each on two sides of the right angles, to make square and when four squares are made the passage may be left. The same process may be repeated till the yard is complete. The brick bates, terracotta nodules may be used for making line; along the string, which may be callected from the site, but in absence of that burnt bricks may be used. A band of drains on the exterior may be built around the pottery yard to check the rain water. The area may be provided with a fencing to prevent the entry of cattles etc. otherwise the pottery may get mixed.

As soon as a basket containing pottery from the site, reaches the pottery yard, the two levels tied with the baskets are checked up. If they differ or some details are omitted, the pottery basket may be returned to the excavator for the necessary correction. Before the pottery is kept in the pottery yard, two sherds from each basket may be marked with the same reading and the marking may be costed with vinyle acetate solution. This serves as a better fixative

to the ink of the levels, or else they may be kept inside a bed of potsherds to avoid its fadding, or danger of its being damaged by the whiteants and rates. This may be covered with the rest of the potsherds.

The next process is washing of pottery, which reveals the nature of pottery, the fabric, texture, surface, colour paintings and other feetures. Normally, clean and fresh water is used for it. If the water has saline contents, it may be bolled before the use. The saline nature of the water may also be avoided by using 1% silver nitrate solution. If the water is acidic, it may not be used though the acidic effect itself, to some extent is washed away by water. Pottery of one layar only at a time is given for wash to an individual. Generally, tubs are used to contain water, and the quantity of water may be so much to submerge the pottery fully. One of the pottery levels may also be tied to that tub and other to remain tied with the basket. The pottery may be allowed to remain dipped into the water for atleast five minutes. This will relieve the earth etc. and help easily cleaning. Quire brushes are generally used to clean the pottery. Paint and tooth brushes may also be used in case of delicate washing. The poets and sherds having paintings should not be scrubbed with a stiff hard bursh, otherwise the pigments of painting would peel off. Likewise the pots and sherds which have lost the slip or the slip is peeling off may not be cleaned with hard bursh. It may be cleaned with the cotton and wool. At times very fragile pottery may arrive for cleaning, which if put in the water will desintergrate, this may however, be first sent to fild chemist for preservation. The pottery may often have saline encrustation, it can be removed from water after keeping the specimen in the water for some time. In case there are very hard encrustations, hot water may be applied for rmoving them. Moss and lichnencrustation etc. can be removed with the diluted mild acides, provided there is no paintings, otherwise the pigments may be removed with the encrustations. The water may be changed as often as possible.

Salt contents of the pottery may also be removed by paper pulp technique. It has to be applied repeatedly till the specimen is free from that salt. The pottery may be thoroughly washed with fresh non saline water after each application of the paper pulp. In the specimen of pottery, when the pigment is peeling off, it may be preserved with the application of 5% vinyle acetate solution in tolvine, droppers and cotton wool may be used for the application of the

solution. The specimen to be preserved should be completely dried.

After cleaning of pottery, it may be found that some sherds are not worth retaining. The process of discarding has been termed as 'sorting'. It is done on a table which is known as "Sorting table", which is different from the ordinary tables. The top of this consists of a horizontal plank, about 15 cm. wide and rest is sloping. The horizontal plank is to acomodate baskets and on the sloping top, the pottery is poured for sorting. The height and size of the table may be kept according to the convinience. In the process of sorting, the selected pottery is kept back in the basket, put on the table and the discorded sherds are thrown down, where another basket is kept. The pottery of one stratum is sorted at a time. The pots which are complete or to a major extent complete may be kept in the selected pottery. The portion of a rim, shoulder and bases are normally retained as they give an idea of the shapes and types. Besides this, the sherds bearing painting, incisions and graffity marks are also selected. The shorted pottery must contain the representative ceramic industry of stratum. This will keep the character of the habitation unchanged. Pottery, having special fcatures like reserve slip or otherwise decorated, is also collected. The sherds, which do not represent any shape, type or ware, may be rejected. The quantitive proportion of each ware is to be mantaind. There may be a few sherds of a pot in a basket which may join such sherds, are selected. Observation reveal that a sherd of a pot may be discovered from another basket of the same stratum, when in context of that collection, it may look meaningless, A sherd or ware of a pot may, at times, be picked up from the pottery of the succeeding stratum. Such fragments are collected and join together.

The rejected pottery is dumped in a pit dug for this purpose. A tin plate, bearing the name of site and the year of excavation, either painted or engraved on it, should be kept in the pit on a bed prepared by potsherds, to save it from rusting. The pottery dump pit may be in the vicinity of the pottery yard. It is always worth recording in the publishable reports, the location of such pottery dumb pit, to avoid the confuşion for any further excavator.

The selected pottery is now kept into the cloth bags. The size of bag may be from 30 × 20 cm. to 40 × 30 cm. according to need and convinience. One of the lebels is kept inside the bag and the other is tide outside and the bag is tide finally with a string. It now sent to be marked.

The purpose of markig pottery is to maintain the knowledge of the locus and the startum of a sherd or group there of, at the time of study and reporting, when the pottery of more than one strata is mixed up. The marking is, generally, done with black ink but incase of black pottery, white ink is to be used. The ink should be waterproof and hence unwashable. The location of marking on sherds, is also a point of consideration. It is done at a place which may not be visible, incase the sherd is to be photographed. It should be written on the inner side, bottom or outside as the case may be. The letters should be uniform in the case of the thick sherds, marking may be done on the core side, in no case marking should be done on the finage of the sherd as by any chance during the transportation or careless handling, the sherd may get broken by the finage and the marking may get lost. At times, it has also been observed that the marking is removed by the constant friction of the sherds in the pottery, to avoid, it is suggested that if not all the marked sherds, atleast a couple of them, the marking may be quoted with the vinyle acetate solution.

The marking should indicate the site, the grid, the quadrangle numbers, the sector and the stratum from which the pottery has been collected. Thus the marking K.L.B.–IC5 Qd–2 (6) will indicate that the pottery is from kalibangan, the site, C5 is the trench No., the quadrangle is two and the stratum is six. In case of the dump or pit, it will be shown on the place of stratum and its number is to be recorded wirh the sealing stratum.

Mending is another process done at the pottery yard. The sherds of a pot which are found in the same basket or in the other basket containing the pottery from the same stratum are collected together and joined. The process of joining such sherds is termed as mending. This may often complete the pot or may lead to its completeness to a major extent, there by to give an idea of its shape. As such a complete figure may be obtained in drawing. The sherds, to be joined together, should be free from earth, ash or any sort of deposit, specially their coarses or their sections should be clean and dried. The adhesive is applied on the sections of the two sherds, in required quantity, neither less nor in excess. In case it is not sufficient, the sherds will not join and if it is in excess, the excess will squeeze out on both the sides of the join and will appear ugly. After the application of the binding material, the sherds are

set together to join. They may be held in hand to set together for some time and then put in the bed of sand, thrusted in to sand themselves or support of small sticks may be given to keep them in order. Various adhesives viz, quickfix, stick fast, durofix, mendex, plybond, araldite etc, are available in the market and they may be used accordingly. For a mass scale use, the pesrepex solution in 5% vinyle acetate is advisable.

The pots complete to a major extent may be fully completed, if desired by restoration. The restoration is done with the help of plaster of paris. This is a white powder of gypeom which can be purchased from the chemical stores. The solution is prepared by adding water to it, it is applied on the portion to be restored and to keep it resting some support is given from inside. The required thickness is obtained by the repeated application of the solution. It solidifies shortly and excess plaster may be removed with knife or a mending tool, to bring it to the required shape. After it is dried, colour desired may be applied over the restored portion to match it with the rest of the pot.

This is how a pottery yard functions in an archaeological excavation.

—:o:—

COINS OF NORTHERN INDIA
(11th-12th Century)

Tribhuwan Nath Pande

The epigraphs and titeratue of the period under review reveal the names of the coius then current in Northern India. Siyadoni Inscription, recording a number of donations in favour of brahmanical deities, records assignment of an endowment, securing the daily payment of a quarter of Panchiyaka dramma to Vishnu Bhattaraka. The same inscription mentions at least twelve other names of coins:-

Dramma
Vigrahapala Dramma
Vigrahapaliya Dramma
Vigrahpalasatk Dramma
Vigrahatungiya Dramma
Sri Madadivavaraha
Sri Madadiv Varaha Dramma
Varahakaya Vimshopaka
Vigraha Dramma vimshovaka
Kapardaka
Kakini and Varataka

In Harsha Inscription of Vigraharaya we find mention of Vimshopaka and Dramma[2]. Bijapur (Jodhpur, Rajasthan) Inscription of Dhavala of Hastikundi mentions Rupaka and Vimshopaka coins[3]. Besani Inscription records the gift of 300 drammas. The amount, in the opinion of Cunningham, must have been small as a dramma (Sanskrit Dramya) was a silver coin, the representative of Greek drachma.[4] Mention of Vimshopaka coin is made in one of the inscriptions of the time of Sodhaladeva. Tarpanadighi Copper plate of Lakshmanasena mentions Kaperdaka-puranas[5] whereas another inscription of Sena dynasty mentions only puranas.[6]

It is surprising that no coins of powerful Chandella Kings such as Dhanga and Vidyadhara are known. The coinage of the dynasty starts with

the reign of Kirtivarman.[7] The Gold and Silver coins of the Chandellas are exact copies of the coins of Gangeya. V. Smith suggests that Kirtivarman Chandella adopted and introduced the coinage of Gangeya Deva after defeating Lakshmi Karna Kalchuri.[8] In Chandella copper coins we find a figure of Hanuman under a canopy. Prof. Mirashi believes that the Hanuman type was evolved in the Chandella Kingdom where the earliest reference to the worship of the monkey God is found. We also find an image of monkey god at Khajuraho.

Chalukyas of Gujrat also issued coins. We learn from the Mangrol Inscription of Kumarapala, Kadi Inscription of Bhima II and the Annavada Inscription that taxes were paid in drammas. There are epigraphic references to Bhimapriya[9] and Vihsalapriya[10] drammas. References have been made to the Silver Rupakas issued by Ajayadeva's queen Somalekha.[11] The Chalukya Inscriptions mention dramma[12] Vimshopaka,[13] Rupaka,[14] and Karshapana. Prabandhachintamani adds Nishka[15] and other two foreign coins, Dinara and Tanka.[17] Dvyashrayakavya adds Vimshatika, Bhagaka, Pana and Surpa to our foregoing list of coins.

The currency of Parmaras consisted of coins of various denominations in gold and silver. Some gold coins of the reign of Udayaditya have been discovered in Madhya Pradesh, having a legend on the obverse "Shrimad Udaya Deva."[18] Other denominations of coinage are Rupaka, Ardharupaka, Dramma and Vimshopaka[19].

Now we come to the coins of Kings of Kashmir. Rajatarangini, describing the activities of King Harsha, records that as he was fond in his amusements of Dakshinatya (Deccan) fashion, he introduced a coin type (tanka) copied from that of Karnata[20]. Cunnigham has described the actual coins to which Kalhana refers here[21]. They are of gold and bear Harsha's name. Their type is quite different from that maintained through the whole of the Hindu coinage of Kashmir. According to Cunnigham, the fact of the coins being made in imitation of those of Karnata is fully corroborated by the coins of that country[22].

Kalhana says that at the time of Harsha, the use of gold and silver money (dinara) was plentiful in Kashmir but that of copper money rare. In st-

range contrast to this statement we have the extreme abundance of Harsha's copper and brass coins[23]. General Cunnigham possessed only one Silver Coin of the reign of King Harsha[24].

In Kathasarit Sagara, we find mention of dinaras, mashas and panas[25]. Both mashas and panas are really ancient native Indian weights (16–mashas–1pana). As the pana was usually of copper and silver, it seems probable that the gold mashas only existed in fiction[26]. We hear of 8 gold mashas given as a present to the chanter of Samaveda[27] and the purchase of eight cakes for a pana[28].

REFERENCES–

1. Epigraphia Indica, Vol. 1, p. 173
2. Ibid, Vol. II, p. 119
3. Ibid, Vol. X, p. 20
4. ASI, XXI, p. 102
5. EI, Vol. XII, p.6ff, Inscriptions of Bengal, Vol.111. p. 101–103
6. Inscriptions of Bengal, Vol. 111, Insc.no. XIV, Sundarban Copper plate of Lakshmanasena. Ibid, pp. 171–72
7. N.S. Bose–History of the Chandellas, p. 182
8. IA, XXXVII, p. 147
9. EI.XI, p.59
10. Ibid, p. 58
11. Prithviraja Vijaya, canto V,V,90
12. IA, VI, p.202, EI.X, p.272
13. EI. 1, p.66; EI.X, p. 19
14. IA. XLI, p. 202–3; IA.XI, p.337
15. PCT 10
16. PCT 8
17. PCT 36
18. JASB, 1920, PI. XIII, No.2
19. EI, XIV, p.310; Tr. RAS, Vol.1, p.226; JASB, Vol. VII, p. 738, V.6, PCT 38
20. KRT, VII, V.926
21. CMI, p.34
22. Ibid. p.35

23. Stein, KRT, Vol. 11, p. 317
24. Ibid, p. 316
25. KSS (Penzer Ed.), Vol. 1, pp. 63–64
26. Ibid, F.Note, p. 64
27. Ibid, p.64
28. Ibid, p.116

—:o:—

TWO CONTROVERSIAL ASPECTS OF BHARATA'S THEATRE

Dr. Radha Vallabh Tripathi

Some features of the theatre as described by Bharata can be positively defined. There can be no controversy regarding the measurement of the three sizes of the theatre (viz. *Jyestha*, *Madhyama* and *Avara*) of the three types *Vikrista*, (Oblong), *Caturasra* (squire), *tryasra* (triangular) and also the measurement of the three main parts of the stage, viz.- *Rangapitha* (the front part), *Rangashirsha* (head of the stage) and the *Nepathyagriha* (green-room). But there are other points more debatable and controversies have been raging around them among the scholars of the Indian Theatre ever since the discovery of the *Natyashastra* of Bharata. An attempt is being made here to resolve the dispute regarding two of such controversial features of the Ancient Indian Theatre.

1- The Curtain–

There are differences of opinion regarding the position of the curtain on Bharata's stage, and also some scholars have gone to the extent of doubting the very existence of it in Bharata's plan of theatre.[1] It is true that curtain is conspicuously absent in the second chapter of the *Natyashastra*, where the types of theatre and the method of their construction have been dealt with. But Bharata refers to the curtain in the remaining chapters of his work repeatedly. It is fallacious to say, simply on the basis of it's absence in the II chapter, that Bharata's stage did not have the curtain. On the contrary, Bharata's silence about the curtain in the II chapter of the *Natyashastra* is justified, especially in view of the fact that Bharata is dealing therein with the construction of the building of the theatre, and as such, he has only taken up the features which are permanent parts of it's architecture. Reasonably, the curtain, not being a permanent part of the architecture of the theatre, is nowhere taken into consideration in the entire second chapter.

Bharata is positive regarding the existence and the use of curtain on the stage. He insists that a character should enter after the curtain has be-

en pulled aside.[2] Again out of the various items of the *Purvaranga* (the preliminaries of the performance), some are to be performed from behind the curtain and others after it has been pulled aside.[3] Therefore, the existence of a curtain on the stage of Bharata is least to be doubted, only some questions regarding it remain to be answered, viz.:

(i) The type of the curtain— Whether it was a hanging curtain, transverse curtain, a curtain parted in the middle, or a curtain to be carried by two persons at any place of the stage as is done in *Kudiyattam* or *Yakshaganam*,

(ii) The position of the curtain— Whether it was between *rangashirsha* and *nepathya* between *rangashirsha* and *rangapitha* or between the *ranga* (the stage) and the auditorium, and

(iii) The number of curtains— Whether there was only one curtain on Bharata's stage or more.

Regarding the first question, Bharata suggests that his *Javanika* is a hanging curtain, liable to be tossed aside at the entrance of an actor or actress. The verbs which both Bharata and his commentator Abhinava use with regards to this *Javanika* leave no room for any other interpretation, i.e.–

पटे चैवापकर्षिते——*Nat. XII.2*

विघाट्य वै यवनिकाम्……,, *V 12*

यवनिकायामपसारितायाम्—···—*Abhinava on above.*

All the roots— *Krish* with prefix *apa*, *Ghat* with prefix *vi* and *Sri* with prefix *vi* indicate the pulling aside of the curtain. Both Bharata and Abhinava refer to the curtain at all such places in a way to suggest it's pre-existence on the stage. The *pati* used in *Kudiyattam* or *Yakshaganam* is not a part of the stage, it is brought by two persons on it and carried away in accordance with the requirements of a performance. Such type of curtain is out of question in the plan of Bharata. Abhinava repeals all the doubts regarding the nature and situation of *Javanika* by pointing out that it is a curtain hanging statically on a specific point on the stage:–

तत्र यवनिका रङ्गपीठ-तच्छीर्षयोर्मध्ये

GOS. Ed. pt.I,p.212.

Shri Govardhana Panchal thinks that there used to be three curtains on the Bharata's stage–two each hanging on the doors of the wall of the

nepathyagriha, called *pati*, and *apati* by Bharata, and the third curtain, called *javanika*, hanging between *rangapitha* and *rangashirsha*. According to this plan, the pati and *apati* thus led entrance to the *rangashirsha*... the part, adjacent to the *nepathyagriha*. Shri Panchal sees two purposes behind this arrangement of curtains on the two doors. First, to screen the activities of the greenroom (*nepathya*) from the audience, and second, to give a dignity to the entry of main chatacters on the stage.

There is no ground for holding such an arrangement true to Bharata's concepts. Bharata nowhere points out that curtains should also be put on the two doors of the wall deviding the greenroom from the stage. Moreover, neither Bharata and his followers, nor any Sanskrit laxicon, make distinction between the words *pata*, *pati*, *apati* and *javanika*, or *yavanika*, and they have been used for only one curtain in the context of theatrical paraphernalia, i.e., the curtain between *rangapitha* and *rangashirsha*. For the reasons stated below, we fail to understand why Bharata should think of putting two additional curtains on the doors of the said wall either to screen the view of the greenroom or to add dignity to the entry of the dramatis personae. First the wall deviding the green-room from the stage, and then the *Javanika* i.e., the curtain hanging between *rangapitha* and *rangashirsha*...already concealed the view of the greenroom from the audience, and also the said doors were constructed in a shape of a turned elbow, making it difficult for an onlooker from the auditorium to grasp the inner view[4]. While most of the performance went on the *rangashirsha*, i. e. the part of the stage adjacent to the auditorium, and all the characters entered on it through *Javanika*, the entrance through the two doors of the wall of the *nepathyagriha* does not come anywhere into the picture, from the point of view of the performance before the audience.

Shri Panchal makes one more suggestion regarding the *Javanika* hanging between the *rangapitha* and the *rangashirsha*. Accordingly to him, it is neither aesthetically, nor practically conceivable to put a curtain 32 *hasta* or 48 feet long on the stage. Therefore, it may he supposed to be devided into three parts, the two of which are said to be hanging behind each of the *mattavaranis*, and the third behind the *rangapitha*.[5] I think that the suggestion is suitable to Bharata's plan, as the three parts will belong to the same curtain, parted at two places. Dr. V. S. Agrawala has, on the basis of a panel from *Ajanta*, des-

cribed how curtains were hanged during those days. Accordingly rings and one long cord were employed to hang a curtain, and the ends of the cord were tied to two pillars. The same method must have been followed to hang the curtain on the Ancient Indian Stage.

Thus, the curtain hanging behind the front of the stage, covered the orchestra group, as well as the actors waiting for their entry on the stage, and also the entire space covered by this curtain, including the *rangashirsha*, could be also called *nepathya* or *javanika*. Kalidasa has used the word *nepathyagriha* for the part of the stage covered by this curtain. In his *Malavikagnimitra*, before the show of Malavika's *Natya*, when she is in the *nepathyagriha*, and Agnimitra says that he wished he could pull aside the *tiraskarini* to see her.6 After the show is over, Malavika retires behind this *tiraskarini*.[7]

Although most of the proceedings of a performance went on of the curtain, it is evident from several references in Sanskrit dramas that the part of the stage covered by this curtain, i.e. the *rangashirsha*, was also used for presenting some specific or delicate situations, especially, the situations in which an actor was to be shown entering the stage in the sitting posture, or in an unconscious state. In the third act of *Bhavabhuti's Uttaracarita*, hearing the pathetic cry of Rama from behind the curtain, and feeling that Rama is lying unconscious somewhere, Sita hurriedly goes behind the curtain, and after that the curtain is pulled aside to make the entry of an unconscious Rama being caressed by Sita.[8] Clearly, the *rangashirsha* is being used here to present the most sentimental and touching situaion of Bhavabhuti's play, and also, for the purpose of bringing out this scene, the dramatist is also calling *rangashirsha* as *nepathya*. Again, in the VII act of this drama, in the play within the play, when the front of the stage is crowded by Rama, Lakshamana, Valmiki and a host of other characters who have gathered to witness this paly within the play , Sita emerges on the *rangashirsha* with her two sons and being supported by the goddesses *Ganga* and *Prithvi*. A number of several instances can be cited where the dramatist wants to make use of the *rangashirsha* in this way[9].

Shri Panchal believes that the pati as used in the *Kudiyattam* and several other theatres of South India was utilised to show the entry of the characters

in all such situations.[10] It is not possible to subscribe to his view for the following reasons... (i)- Bharata has nowhere mentioned the use of such type of *pati*. Had he known the method of such an entrance, he must have indicated it somewhere, (ii) If we beleive that in all such situations, the characters made their entrance by the small curtain (the *pati* of *Kudiyattam*), it will leave no room to make use of the interior part of the stage ... the *rangashirsha*... for, the entry by this small curtain will always be made on the front of the stage or *rangapitha*, and this will violate Bharata's plan, who regards the *rangashirsha* also a part of the stage meant for the purpose of acting. In the arrangement suggested by Shri Panchal, the *rangashirsha* is covered merely into a waiting-room for the actors, and a place for the orchestra. (iii) If *rangapitha* only is used for all acting purpose, it will just leave a small space of 8 × 16 *hastas*, in the *vikrishtamadhya* type, for enacting the whole play, and in some of the situations mentioned above, the stage will be too crowded, as in the VIIth act of the *Uttaracarita*, and the enactment of a difficult situation will not be carried out artistically. (iv) From the æsthetic point of view also, it will create a much better effect if such situations are enacted on the *Rangashirsha*, rather than on the *rangapitha*. In the *vikriskta-madhya* – the ideal theatre for the humans– the *rangashirsha* is on higher level from the *rangapitha*. This difference in the level of the two parts of the stage is not only suitable for the switch-over to a complicated sentimental situation, it will also help the audience in grasping the change of place, going over a distance by some character, or the presentation of two or three scenes simulteniously going on the stage. Besides the higher level of the *rangashirsha* will provide a good view in the court-scene, as in Shakuntala, act V, or in several other scenes.

Shri Panchal wants to prove the existence of a small curtain other than the *Javanika* by refering to an instance from Bhavabhuti. In his *Malatimadhava*, act VI, Makaranda points out to a '*citra-javanika*' on the stage and says that he will go behind it to change his attire, to look like Malati.[12] Now, the mere adjective 'citra' prefixed to *javanika* cannot prove the additional curtain. Bharata has mentioned the presence of *citrakas* or painters in a dramatic troup and it is very much likely that the *javanika* mentioned by him was painted and hence called '*citra-javanika*'. More-over, Bhavabhuti has refered to the '*citra-javanika*' here, in a way to suggest its pre-existence on the stage, and thus

he is refering to the *javanika* of Bharata which hangs between the *rangapitha* and the *rangashirsha*. Thus the theory of a moving curtain (of the *Kudiyattam*-type) is not tenable for Bharata's stage.

Although it is tempting to suggest, the existence of the *Kudiyattam* type of *pati* on Bharata's stage, but it should also be born in mind that on the Ancient Theatre of the South, like the *Kudiyattam*, Bharata's Javanika is generally not used. So it is more likely that unable to put up such a big curtain stretched to the whole length of 48 feet of the stage, the actors of the *Kudiyattam* substituted it by a small curtain convenienty carried wherever desired.

A peculiar direction in the *Mudrarakshasa* of Vishakhadatta, in a equally peculiar climax in the plot of the play shows interesting use of the *javanika* on the Ancient Indian Theatre. An utterly disappointed and defeated *Rakshasa* ultimately decides to yield before Canakya, his adversary, to save the life of his dear friend Candanadasa. After Rakshasa's declaration of submission, the direction for the entry of *Canakya* comes as follows:

'ततः प्रविशति जवनिकावृतशरीरो मुखमात्रदृश्यश्चाणक्यः'

("Canakya enters, his body all covered with the javanika and his face only remaining visible")

Vishakhadatta, who, besides being a great dramatist, was also a master of dramaturgy, wants to create here an interesting dramatic situation on the stage. Victorious in a most complicated political struggle between the two ministers, Canakya appears to see his opponent totally subdued. To enhance the peculiarity of the situation, the master dramatist makes him appear when his face only is visible, the remaining part of his body being covered with *javanika*. He remains in this position until he begins directly to address Rakshasa.

This situation can also be explained by *Kudiyattam* type of *javanika*, as Shri Panchal has done. But the next direction in the drama repeals any possibility of this sort of curtain, viz. :

'जवनिकामनीय उपसृत्य च'

Accordingly, Canakya himself tosses aside the curtain and comes forward. The *Kudiyattam* type of curtain is brought on the stage and carried away by two additional actors, it is not tossed aside by the main Character whose entry is to be shown. If the *javanika* hanging beween the *rangapitha* and the *rangashirsha* was parted in the middle or parted at two places as Shri Panchal

suggests, *Canakya* could have peeped out from it in the posture described by *Vishakhadatta*.

It seems therefore reasonable to conclude that there was only one *javanika* on Bharata's stage, hung between the two parts of the stage-*rangapitha* and *rangashirsha* and serving the purpose of screening the actors off the stage and the musicians, as well as of the entrance to the front of the stage.

2 The Mattavarani

Mattavarani formed a necessary part of the structure of Bharata's Theatre. There were two *mattavaranis* on both the sides of the *rangapitha*, each having four pillars and a height of 1.5 hastas.[13] Abhinava clarifies that this height of the *mattavarani* is not to be measured from the *rangapitha*, but from the gnound of the auditorium, so that both *rangapitha* and *mattavarani* come upto the same level.[14] Thus mattavarani is an addition to the *rangapitha* or the front part of the stage on doth of it's sides.

Thus, as Abhinava rightly points out, the stage becomes devided into four parts including the two *mattavaranis*. In the Sanskrit drama, there are passages, where two or three scenes are to be shown at the different places on the stage, simultaneously. In the drama *Adbhutadarpana* of Mahadeva, there is a sequence where four different scenes are presented at one time on the stage. All the four parts of the stage can be utilised for such sequence.

From the above account, the position as well as the purpose of the *mattavarani* on the stage of Bharata is clear. However, various views have been expressed about it by the modern scholars which only make it unnecessarily a complicated issue.. References to *mattavarani* seldom occur in the later works, the Sanskrit lexicons, including Amarakosha hardly take any notice of the word *mattavarani*. The *Vishnudharmottara Purona*, *Sangitaratnakara* and *sangitadamodara* and also the *shilparatna*- the later works which d scribe the theatre and deal with the topics of the drama; are silent on *mattavarani*. Abhinava is not very clear about it and cites divergent views. It appears that the *mattavarani* was in vague during Bharata's times, but it gradually went out of use and was thus completely forgotten. This is not very surprising considering the situation the *mattavarani* on Bharata's stage. It is an addtion to *rangapitha*, on both of its sides, which makes the enactment of some situations of the Sanskrit drama a

little convenient. Therefore, it must be coming in use only occassionally, where such situations occur. It's sparing use could have been the reason it was discarded from the Indian Theatre.

Among the Sanskrit dramatists, Rajashekhara was aware of the existence of the *mattavarani* and it's use on the stage. In his *Kavyamimansa*, describing the princely hall for the gethering of poets and scholars, he says that it should have eight *mattavaranis* with sixteen pillars. This is in accordance with Bharata and shows that *mattavarani* was a part of construction, always having pillars on its corners. Rajashekhara also throws some more light on it's use on the stage. In the II act of his *Viddhashalabahnjika*, where the hero is waiting for the heroine, Vidushaka suggests that they should sit for a while in the *mattavarani*

'paugandaa via kechchiram uddhjanuam chitthissamo. ta ehi, mattavarania uavisamha.'

Viddh. Calcutta ed. p. 65.

This dialogue, possibly a lapse on the part of the dramatist, i.e., reference to a section of the stage by a character of the play, indicates another use of *mattavarani*. As it was on a higher level from the *ranga pitha*, it provided a ground for the characters standing on the *rangapitha* to make them seated, if the situation in play requires it. Also, the *mattavarani* could be used when some dramaiis personae were waiting for the others to enter or when the scene is to be devided into two or more such parts, so that the characters standing at different places or to be shown invisible to each other.

The suggestion from Dr. Mankad that the *Mattavaranis* were like modern wings[16] is subject to correction. Another view advanced about the *mattavarani* is that it was used as a coverage for the protection from the notorious or disturbing elements. :

मत्तानाम् वारणाय मत्तवारणी[17]

This is quite untenable. *Mattavarani* was not a part of the theatre only, it was also constructed in the royal palaces or big houses, where there was no question of hooligans entering or creating disturbance. Further more, what sort of protection the two *mattavaranis* could have provided to the actresses, as it was just an open space, merely 1.5 hastas above the ground of the stage. Surely, the greenroom, covered with a wall, could have provided a

much better shelter during the emergency.

Shri H. R. Diwakar has given a more acceptable explanation of the term *mattavarani*. According to him when the elephants' fights were arranged, two mighty elephants were kept in two pavilions opposing each other. There used to be an open space called *vedi* in between these two pavilions. Kalidasa knew of such fights and he has refered two *mattavarana* and *vedi* in *Raghuvamsha* (XII. 93).

The pavilions in which the intoxicated elephants were kept were called *Mattavarani*. The pavilions added on both the sides of the *rangapitha* resembled these *mattavaranis*, so they were also given the same name.[18]

Shri C. D. Dalal, without given exact reference, has quoted from some lexicon, giving its another name Kapotapalika, and saying that it was made of the elephant's teeth :

गजदन्तैः कृता शाला विज्ञेया मत्तवारणी

Kapotapalika or the pigeon-house is also of the same shape, so it must have taken to be synonimous with *mattavarani*.

There are several other interpretations of Bharata's *Mattavarani*,[19] but they build up confusions arround the simple idea of the *mattavarani*, as seen above.

REFERENCES—

1- De, S.K., Curtain On Indian Theatre, Some Problems of Sanskrit Poetics, p. 153.

2. ध्रुवायां सम्प्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते ।
कार्यः प्रवेशः पात्राणाम् ...

Natyashastra, XII. 2–3

3. तानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्जवनिकागतैः ।
विघाट्य वै जवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि तु ॥

Ibid, V. 11–12

4. तच्च द्वारद्वयमापादितं सत्कूर्पराभिनत्या भवति ।

Abhinava on Natya. II. 74

5- See G. Panchal's article in Nataranga, Qly., Vol. XXV, pp. 48–51.

6. नेपथ्यगृहगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥
नेपथ्यपरिगतायाः ... *is a varient reading.*

Malavika., II. 1

7. द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम् ॥

Ibid, II. 11

8. ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः सास्रया सीतया स्पृश्यमानः
साह्लादोच्छ्वासो रामः ।

Uttararama. Act III.

9. ततः प्रविशति आसनस्था तापसी ।

Svapnavasavadatta,, I.

ततः प्रविशति संगीतरचनायां कृतायामासनस्थो राजा

Malavika. Act II.

ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च...

Shakuntala, Act V.

10- See Panchal's article in Nataranga, Qly. Vol. XXV, pp. 51–53.

11. तथा च विकृष्टमण्डपे रंगपीठापेक्षया रंगशिर उन्नतं वक्ष्यते ।

Abhinava on Natya. II. 105

समुन्नतं समं चैव रंगशीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे तून्नतं कार्यं चतुरस्रे समं तथा ॥

Natyashastra, II. 105

12. यावदितश्चित्रजवनिकानन्तर्धाय नेपथ्यं धारयामि ।

Malatimadhava, Kale's Edn., p. 138.

13- *Natyashastra*, II.67-69

14- Abhinava on *Natya*. II. 69

15- Kavyamimamsa, Baroda Ed. p. 54.

16-17- Mattavarani, H. R. Diwakar, A.I.O.C. 1956, Vol. II, part I.

18. Ibid, p. 357–364.

19. Prof. Subba Rao takes it to mean 'a line of intoxicafted elephants' made on the front side of the stage. He reads '*stamba*' in place of '*stambha*' in Bharata's description of *Mattavarani*, explaining it as a post to which an elephant is tied (*Natyashastra*, GOS, Part I, pp. 423–464.). Prof. Yajnika understands *Mattavaranis* to be a set of two side-buildings or wings (The Indian Theatre, R.K. Yajnika, chap. II, pp. 36–51). Mankad also suggests that the back parts of both *Mattavaranis* had walls of 8 *hastas* each, and they also had one side wall (Ancient Indian Theatre : Mankad, p. 16 and 39). Shri Ray Govindachand takes *Mattavarani* as the entamblature fationed on the pillars over *Rangapitha*, and accordingly its arch was supported on the wooden elephant heads, so it was called *amattavarnia*. All these views have hardly any accordance with Bharata, and they are more or less conjectures.

Kumbha and Vipradasa two later writers on Sanskrit Dramaturgy appear to have understood the *mattavarani* as *uparibhumika*, fashioned on the four pillars, two to the south and two to the north of the *rangapitha*, decorated with golden *Kalasha* ('*Bharatakosha* : R.K. Kavi, pp.869–70 and 881.)

A BUDDHIST CRITIQUE OF THE SPHOTA DOCTRINE

Dr. Karunesh Shukla

The conception of word forms the background of several systems of Indian thought. The *Samkhya*, the *Mimamsaka*, the *Advaita Vedanta*, the *Nyaya* and the *Vaishesika* systems contribute to this specific doctrine. Without going into the doctrinal position and the details of arguments put forth by authors of these systems, it may be considered that the main contention of these systems has been— whether the word or sound is eternal (*nitya*) or non-eternal (*anitya*). While the *Mimamsakas* held the sound to be eternal and as a matter of corollary, conclude that the Vedic scriptures, consisting of eternal words, are also *nity* in as much as they require no other source or cause for their production. They further maintain that the relation of word and its import or meaning is also eternal and co-genial (*nitya* and *autpattika*).[1] While the sound is eternal in nature, the *Mimamsakas* argue, it becomes manifest through various modes and actions of articulatory organs (*talvadivyapara*) which is a matter of our various pragmatic experiences.[2] This view-point has been elucidated by *Mimamsakas* through two different dictums which point out to the same process of the manifestation of sound, namely, *Kadamba-mukula-nyaya* and *Bheri-pataha-nyaya*. They maintain that while the word is essentially unproduced, its manifestation at the pragmatic level takes place in various forms, which the grammarians more aptly put as the stage of *Vaikhari* speech. Thus the words and sounds are eternal and unproduced, and the Vedic Scriptures are *Shruti* par excellence, comprising these eternal sounds defined as '*nirapeksha rava*'. and regarded as traditionally handed down to us in the form they were originally seen and visualized by the great *risis*, the seers of truth in the form of the Vedic mantras[3] and comprising these sounds the *shruti* is also regarded as *nitya* or unproduced.

The Vedantins also share the same view-point in as much as they maintain that the *shruti* are the exhaling of the Great Being, the Brahman and are not caused by any other source what so ever.[4] The Vedas are the expressions

of the speech of the Eternal Being, *Akshara Purusha.*[5] This goes to suggest the eternal character of the Vedic scriptures[6] and there by of sounds which form these scriptures.

But quite a different view is held by the adherents of the *Nyaya* and *Vaishesika* systems which share the view-point that the sounds and words are non-eternal and produced, and in this way, the Vedas too, are not eternal in character. They are the (recorded) speech of the *Ishvara* and hence their validity is established.[7] The *Nyaya Sutras* as well as the *Vaishesika sutras* contain reference to *Maheshvara* having caused the expression of Vedic scriptures, which is the main factor leading to the validity of these texts.

The *Vyakarana* System, on the other hand, holds that sound is external and becomes manifest throgh its last component phoneme in the form of '*Sphota*' or expressive power. *Patanjali* refers to *dhvani* and *sphota* which he terms as *nitya* and *avikarin.*[8] . *Sphota* represents the last component of the sequential sound which culminate in the from of a phonetic unit termed as word. This *sphota* has been termed as *nitya* or eternal and as the element expressing the word which in its own term is expressed through *nada*'[9] Word has been regarded as twofold[10] eternal and non-eternal, while *sphota* is eternal, the latter is represented by sound or *dhvani*[11]. Thus *Bhartrihari*, the famous grammarian and philosopher also observes:

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुग्रहैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥

Vakya Padiya, I, 82–84

That is just as a Vedic passage or a verse is well-fixed in the mind after the (last) repetition and is not fully grasped in each repetition. In the same way, through the previous cognitions unnameable, but favourable to the final clear cognifion, rhe form of the word, manifested by the last sound, is pereived. The word is grasped in the (final) cognition, the seeds of wlich have been sown by the sounds including the final one and which has gradually attained

maturity[13]. He further adds according to some' the sound is cognised as identical with the world (*sphota*);' others think that the sound is not perceived at all, which others still think that it is perceived as a separate identity. (VP.I.81)

This expressive power of the sound has been associated with phoneme, word and sentence alike.[14] Thus Mandan Mishra also elucidates the concept of *sphota* :

प्रयत्नभेदतोभिन्ना ध्वनयोऽस्य प्रकाशकाः ।
प्रत्येकमनुपाख्येयज्ञानतद्भावनाक्रमात् ॥
आरूपालोचितेष्वस्ति ह्यन्यथात्वप्रकाशनम् ।
तत्संस्कारक्रमाच्चापि व्यक्तं तत्त्वं प्रकाशते ॥

(*Sphotasiddhi*, Vs. 18–19)

In a later stage, this inexpressible expressive power of sound (*sphota*) has been equated to Brahman or *Shabdabrahman*[15] leading to the realization as the Supreme state of unqualified bliss.

This view–point of the grammarians representing the eternal character of word is the expressive stage, questioned by the Buddhist logicians who maintain that nothing in this world is eternal and permanent, rather everything is ephemeral.[16]

Prajnakaragupta, in his *Pramana Vartik Bhashya*, points out towards the untenability of the *sphota*-doctrine[17] on the simple ground that everything held to be eternal in this world is nothing else but an illusory experience. If we admit any form of word other than its illusory character, that may be manifested through difference, otherwise there is no way of recognising illusory cognitions.[18] No different form is expressed in a non-different way. It may be either different or non-different, but it can not be, in any case, both.[19] If it is an illusion in an illusory cognition, the very illusion is vanished.[20] If the cognition of non-illusoriness takes place in illusion, that seems to be illusion.[21] If it is argued that the *arthakriya*, in the form of the cognition of meaning caused by the word, is achieved through the expressive power(*sphota*) inherent in the words, this argument is also untenable on account of the simple reason that there is no need of any expressive power for denoting the meaning in the words, when *Sanketa* or convention is already available as an expedient for this

purpose.[22] Moreover, the latent impression inherent in the mind (*vasana*) is aroused by the cognition of word and its meaning. This is the cause of cognition of the real import of a word in a serial and sequential manner. Sound is simply a *Sahakarin*, and hence it can not be the expressive (power) of a word.[23]

If word is taken to be eternal, even after due efforts, it would not yield to the cognition of objects in the form of meaning. Why should it not be taken to convey the meaning even before (it is being pronounced)?[24]

The same view-point[25] has been elucidated by *Shantarakhsita* in his *Panjika*. He expressly states that as the sequence of phonemes and syllables is required in the pronunciation of a word, the sequence of phonemes and syllables is non-eternal, as it depends upon the will of the speaker.[26] *Sphota* is not at all required for the pronunciation of words as well as in the construction of sentences. The sequence is arranged by the speaker, hence the words are non-eternal and not of an eternal nature as conceived by the *Vaiyakarana*.[27]

Even if the *Mimamsakas* maintain that the words are manifested through sounds, the sounds being non-eternal in their character, the words manifested through them are also to be taken as *anitya*.[28]

The entire Vedic literature and its study presupposes a tradition of teachers which goes to suggest its non eternal character, just as we have in the case of other works such as *Mahabharata* etc.[29] The Vedas presuppose the authorship of human beings who are not devoid of '*dosha*,' and hence the validity of Vedic Scriptures is to be questioned.[30] The Vedas may not be taken to be *nitya* as the same are of personal origin (*paurusheya*).[31] They are neither beginningless, nor eternal and inpersonal in character as they are authored by human beings like other textual works.[32]

Shantarakshita confutes the *Mimamsaka's* view-point of the eternal character of words, sentences etc. and thereby questions the validity of Vedic scriptures.[33] Similarly he does not recognise any *sphota-tattva* in the formation or pronunciation of a word simply because the sequences that are conceived in the formation of a word are caused by human beings, and these being non-eternal, the expressive power of words too is not tenable. In the opinion of *Shantarakshita* Vedic scriptures too can not be taken as *nitya*.

The same view-point has been shared by other Buddhist authors. The *Abhidharmadipa* and other words also contain passing reference to the *sphot* - doctrine, but these works do not contain any detailed analysis of this doctrine, but refute this view-point of the grammarians from the Buddhist view-point of analysing the pragmatic truth as the state of flux.

REFERECES–

1. *cf.* औत्पत्तिकश्च शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशः तत्प्रत्यक्षं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्
M.S.I.1.5
2. Vide— *Narayana, Manameyodaya,* (*Meya*) *Shabdaprakarana*
3. *cf.* साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः (निरुक्त)
4. *cf.* अरे वाऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिसो
Brihadaranyakopanishad
5. *cf.* वाग्विवृताश्च वेदाः
Mundakopanishad;
6. नित्योऽत एव, *Vedanta Sutras*; *cf. also* शास्त्रयोनित्वात्, ibid, I. 1.3 with the comm. of Shankara
7. *cf.* तदवचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ।
8. Vyakarana Mahabhashya, Ist. Ahnika, p.2–3, 14, 18 etc.
9. cf. Kayyata's Pradipa……
तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः । *p 3*
10. एतच्चार्थस्वरूपं स्फोटोऽयमेव शब्दात्मा नित्यः ।
ये तु क्रमजन्मानोऽयुगपत्काला व्यक्तयो ध्वन्यात्मानस्ते ॥
ibid., p .4
11. द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्चेति । कैश्चिन्नित्यमिति दृष्टः कैश्चिदनित्य इति । अथवा जातिर्व्यक्तिश्च । अथवा स्फोटोध्वनिश्च ।
ibid, p. 13, VP.I, p. 141,142,145,148,168 etc.
12. Vakyapadiya, I. 82–84, Eng. Tr. by Prof. K.A.S.Iyer, pp.84 sq.
13. Ibid. I. 81:
स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते ।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैःप्रकल्पितः ॥
Prof. Iyer's Tr., p.83.

14. यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।
तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ।

Vakyapadiya, II.30

15. VP.I.1,I.112,116,117,122,123 (with Hari vritti)

16. *cf.* सर्व्वं क्षणिकं क्षणिकम

17. cf. PVB., p. 595 sq.

18. भ्रान्तरूपात् परं रूपं यदि शब्दस्य विद्यते ।
भेदेनैवावभासेत नान्यथा भ्रान्तता गति. ॥

Verse no. 43711

19. यदि भिन्नमभिन्नेन रूपेण प्रतिभासितम् ।
भिन्नमित्येव गम्येताभिन्नमेवान्यथा भवेत् ॥

Verse no. 43811

20. Ibid, vs. 439

21. Ibid, p.595 (Prose, last para)

22. cf. Ibid, vs. 440–443 (p.596)

23. सभागवासनासमागमादेवार्थप्रत्ययः तदर्थकारविकल्परूपः उपजायते । शब्दस्तु तत्र सहकारी । वासनाप्रबोधद्वारेण पारम्पर्येण जनकस्ततोऽस्य न भेदकता । शब्दस्य तु साक्षाद् अर्थक्रिया तज्ज्ञानजननं तच्च दूरादूरभेदेन स्फुटास्फुटतयोद्वेगानुद्वेगसहभावितया भिद्यत एव ।

PVB, p, 596.

24. Ibid, p. 596, 12–14

25. See, Ibid, p.596. 16–p. 597. 1–25.

26. cf. Ts, 2285

न च क्रमस्य कार्यत्वं पूर्वसिद्धपरिग्रहात् ।
वक्ता न हि क्रमं कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते ॥

27. cf. Ts, 2278–80,TSP, pp.765–66

28. Ibid, vs. 2279

29. VS.2341–45. TSP, p, 78–84

30. cf. 2365–71 sq–and else where

31. cf. VS. 2367 etc., 2406–2411, 2235–2242 sq.

32. Vide; vs. 2247 sq.

—:o:—

VEDANTA : TRADITION, PHILOSOPHY AND CONTEMPORARY SIGNIFICANCE

Dr. S. D. Mishra

The *Uttara-Mimamsa* or *Vedanta*, usually ascribed to *Vyasa* has an ancient tradition. The earliest Vedantic expression found in the Hymns of Creation (*Nasadiya Sukta*, R.V.,X.129) and other Vedic Mantras have dominated the subsequent development of this system. The period of the Upanishads spanning from the 8th to 5th Century B.C. is the second important stage of the Vedantic development in which the Upanishadic seers (*Risis*) and their students not only discussed the nature of the mystic universe, Ultimate Reality and individual self, but also discovered the Vedic truth of unity in diversity. "The reality is one, wise call it by different names."[1] The Upanishads mark the highest development of Vedic thought in philosophy and spirituality. Because of this and also because of being the concluding portion of the vast Vedic literature, the *Upanishads* are also called Vedanta, the end or the quintessence, or the fulfilment of the Vedas. Shortly, after this period, we find a condensed version of the Upanishadic teachings in Vyasa's *Brahma-sutra* and *Shrimadbhagavadgita*. The Upanishads, together with the *Brahma-sutra* and the *Gita*, constitute the three basic texts of the *Vedanta Darashana*. Thirteen centuries later, the celebrated philosopher Shankara commented on these texts and produced a highly rational and consistent thought out of them. While doing so, he founded his world-famous Advaita school, which is "the fairest flower of philosophy and religion that any country in any age has produced, where human thought has attained its highest expression and even goes beyond the mysteries which seem to be impenetrable."[2]

Ramanuja (11th Century A.D.), *Madhva* (1199–1274 A.D.), *Vallabha* (1479 A.D.), *Caitanya* (15th Century A.D.) dissented from Shankara's interpretation of the *Upanishads* and expounded the *Vishishtadvaita* (Qualified Non-dualism), Dvaita (Dualism), *Shuddhadvaita* (Pure Non-dualism), and *Acintya Bhedabheda* (Unthinkable Dualistic Non-dualism) schools of *Vedanta* respectively.

The light of *Vedanta* has not woned even in this age of scientific achievements. With its modern expositions of Swami Vivekananda, Maharshi Aurobindo, Dr. Radhakrishnan and other contemporary Vedantins, Vedanta is now a universal philosophy.

It is evident from the brief historical account, given above, that *Vedanta* is an ancient philosophical system of India and has continued unbroken for past five thousand years. To quote *Swami Ranganathananda* "In spite of its hoary antiquity, Vedanta has been young and dynamic in every past epoch of history. But its most fascinating story is only just opening up in the context of modern world conditions created by science and technology in which the thinking humanity of the whole world has become its audience."[3]

Vedanta is the science of *Brahman*, the science of all sciences.[4] The absolute reality of *Brahman* and its identity with the *atman* or the individual soul, and man's attainment of immortality through the realization of this identity are the fundamental concepts of vedanta[5]

Brahman is the Absolute of Vedanta. It is the sole Reality. "It alone was in the beginning"[6] proclaim the *Upanishads*. It has been described as having two aspects: (a) acosmic and (b) cosmic. The first is devoid of attributes and the second is endowed with them. The one is called *Nirguna* or *Para* (Supreme) *Brahman*, while the other is called *Saguna* or *apara Brahman.*

(a) Acosmic *Brahman* : *Brahman* in this aspect is unconditioned. Words cannot describe the *Nirguna Brahman* which is devoid of characteristic signs, qualities or attributes. No human means by itself is adequate to the grasp of supreme *Brahman* "from whence all speech[7] together with the mind turns away unable to reach it. It can be described only through the language of negation '*neti neti*' (no this, not this)[8] , because it is one" which cannot be seized or seen, which has no roots or attributes, no eyes or ears, no hands or feet... which is imperishable and is the source of all being.[9]

Brahman is free from all limitations. It transcends time, space and causality. *Brahman* is spaceless, because nothing is greater or smaller than It. In the words of the *Chandogya Upanishad* "*Brahman* is myself within my heart, smaller than a grain of rice, smaller than a grain of barley, smaller than a mustard seed, smaller than a canary seed. *Brahman*

is myself within the heart, greater than the earth, greater than the ether, greater than the heaven, greater than all these worlds"[10]

Brahman is free from the limitations of past, present and future, and hence timeless. It is eternal and without beginning or end. "It is the immortal light of all lights and It is that which is meditated upon by gods as longevity."[11]

Brahman is independent of causation. It is not subject to any change. It is both causeless (*akarana*) and effectless (*akarya*). "The knowing Self", says the *Katha Upanishad* " is not born, it does not die It has not sprung from anything, nothing has sprung from it. Birthless, eternal, everlasting and ancient, it is not slain, when the body is slain."[12]

The negative description of Absolute or *Brahman* should not lead us to conclude that it is a 'negative indeterminate Principle' or the *Shunya* of Buddhism. It is of the nature of *sat* (existence), *cit* (consciousness or knowledge) and *ananda* (bliss).[13]

Brahman is *sat* or existence. It is the eternal existence on which the universe exists as a mirage on the desert. *Brahman* does not exist as an empirical object, for example a pot or tree – perceived by a subject — but as absolute existence, without which the wordly objects could not be perceived to exist.

Brahman is *cit* or consciousness. This consciousness is infinite, and unlike the finite mind, is not related to any object. It is absolute consciousness which illumines or reveals the activities of the sense–organs and the mind during the states of waking and dream, as well as their inactivity in the state of dreamless sleep (*sushupti*). The consciousness of *Brahman* is ever-existence and self-luminous.

Brahman is bliss *ananda*.[14] This bliss is unalloyed. It is not to be confused with the pleasures that a man derives from an agreeable worldly object or earthly beauty. Worldly pleasure is a very small part of the bliss of *Brahman*. The bliss of *Brahman* pervades all objects. Without it a man cannot breathe. "He who is self-created is bliss. A man experiences happiness by tasting that bliss. Who could live, if that bliss did not exist in his heart ?"[15]

Sat, cit and *Ananda* – eternal existence, infinite consciousness and unalloyed bliss – are not attributes of *Brahman* but Its very nature. *Brahman* is not endo-

wed with them, *Brahman* is existence itself, consciousness itself and bliss itself. In the absolute there is no distinction between substance and attributes. Existence, consciousness and bliss refer to same entity; when one of them is present, the other two are also present. Absolute being is absolute consciousness and absolute bliss."[16]

(b) Cosmic *Brahman* or *Ishvara*: The supreme *Brahman* associated with the *Upadhi* or limitation of *maya* is cosmic.[17] It is also called *saguna Brahman* or *Ishvara* or God which accounts for the creation, maintenacnce and destruction of the universe." All beings arise from Him, live in Him and are absorbed in Him."[18] He is "the lord of all, the knower of all, the inner controller of all...the final heaven of all."[19] The *Brihadaranyaka* describes Him as one "whose body is spirit; whose form is light; whose thoughts are true; whose nature is like space; from whom all works, all desines and all tastes proceed."[20]

Ishvara is immanent and omniscient. He controls all the things from within and holds them together." He is Controller and Witness of everything. He is not only the soul of nature but also the soul of souls."[21]

The *para* (acosmic) *Brahman* and the *apara* (cosmic) *Brahman* or *Ishvara* are not fundamentally different principles. The *para Brahman,* itself which is one, transcendent and unconditioned becomes, as it were, the *apara Brahman* in association with its indescribable power, *Maya,* and appears to be many, immanent and conditioned. *Brahman,* in the former aspect, is pure consciousness and the immutable foundation of the universe, while in the latter, the omniscient and omnipresent Lord and the omnipotent creator of the universe. The first aspect is absolutely real, while the second only relatively so.

The word *'atmn'* is used predominantly in the sense of *jiva* or the individual self. The inner immortal self of all individual bodies is *atman* or *jivatman.* Being *Brahman* itself its nature, it is unattached to the body, and does not undergo the changes and afflictions of body. It is immortal.[22] It can neither be identified with the changing body nor with the conditionally existing senses or internal organ. It is also not a mere by- product of destructible matter.

Atman is identical with the supreme Brahman. The absolute is *atman* from the subjective side and *Brahman* from the objective side. In other words, *Atman* is the subject of experience and *Brahman* is the object of experience. One is microcosmic and the other is macrocosmic. Since absolute existence, absolute consciousness and absolute bliss constitute the very nature of *Jiva* and *Brahman*. Vedanta teaches their identity not only in the intutional state called *turiya*, but also in the state of waking (*jagrat*), dream (*svapna*) and sleep (*susupti*). Identity of *jiva* and *Brahman* is the key-concept of vedanta which is supported by the following sentences of the Upanishads : "This is my soul within the heart; this is *Brahman* and into It, I shall enter departing from here."[23] "I am *Brahman*."[24] "This self is *Brahman*."[25] "That Thou Art."[26]

It is explicit from the above statements of identity that man is divine and his liberation is therefore implicit in his very nature. He is the child of immortal bliss (*amritasya putrah, Svetashvatara Upanishad, 2.5*), but due to *avidya* (or ignorance), he forgets his real nature, identifies himself with the unreal, inert and mortal body and experiences bondage. On the other hand, when he dispells the darkness of ignorance, through spiritual realization, his wrong notion of identity disappears and he attains the immortal state of liberation. The goal of man's life, therefore, according to Vedanta, is self-realization, the fullest manifestation of divine within, in life and conduct. The only end of man's life is the complete manifestation of the Divine already in him. Food and clothing, shelter and security, power and knowledge, politics and society are not the ends of man's life. Science through its technology has equipped man with wealth, power and pleasure, yet he is foll of tension and sorrow, and is not inwardly satisfied. Vedanta foresaw this predicament of modern man ages ago and said :

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
(Shvetashvatara Up., 6.20)

"Men may (through their technical skill) may role up the sky like a piece of leather; still there will be no end of sorrow for them without realizing the luminous one within."

Vedanta is not a creed or dogma but a practical philosophy built upon edifice of scientific reasonings. The Vedantic conclusions are being affirmed even by the modern scientists. Sir Eddington was impressed with the immaterial nature of the world-stuff. To quote him, "I regard consciousness as fundamentals." "I regard matter as derivative of consciousness." Einstein declars "I believe in God who reveals himself in the orderly harmony of the universe" (Modern Review, Calcutta, July, 1937). Referning to this spiritual kinship between modern science and ancient Vedanta, Swami Vivekananda said in his speech at the Parliament of Religions held at Chicago in 1893 (Complete works, Vol. I, Eleventh Edition, p. 15):

"Manifestation and not creation, is the word of science today, and the Hindu is only glad that what he has been cherishing in his bosom for ages is going to be taught in more forcible language and with further light, from the latest conclusions of science."

Vedanta is impersonal in approach and universal in spirit. It is a great boon to mankind. It is a message of real peace and happiness. Its only interest is welfare of all being (*bhutahita*) and social stability (*loka-samgraha*). Its concept of unity in diversity strengthens the bond of human fellowship and universal brotherhood, which we need badly today. It is the future religion of humanity which is restless in want of peace, with all worldly possessions and happiness in its hand. In conclusion, let us salute Vedanta, which teaches the best yoga, which proclaims the unity of all existence, which promotes the happiness and welfare of all beings, and which is free from strife and contradiction:

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादो विरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥

(*Gaudapada*; *Mandukya Karika*, 4.2)

REFERENCES—

1. एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति,

R.V. I, 164 46

2. *Dilip*, May–June, 1978, p. 23
3. The appeal of Vedanta to Modern man in *Eternal Values of a Changing Society*, Bharatiya Vidya Bhavan, Bambay, Third Edition, 1971, p. 32

4. ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् (मुण्डक उपनिषद् १/१)

5. Shankara, *Gita-bhasya*, 18.13 and Anandagiri, *Gita bhasya-Tika* , 18.13

6. आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (*Aitareya upanishad, 1.1*)
आत्मैवेदमग्र आसीत् (*Brihadaranyaka upanishad, 1.4.17*)
ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् (*Maitrayani upanishad, 6.7*)

7. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (*Taittiriya upanishad, 2 4 and 2.9*).

8. *Ibid.*

9. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यदभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
(*Mundaka upanishad, 1.1.6*)

10. एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एषम आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवोज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः (*Chandogya upanishad 3.14.3*) *cf. Katha upanishad, 1.2.20*

11. तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्
(*Brihadaranyaka upanishad, 4.4.16*)

12 न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(*Katha upanishad,1.2.18.*) *cf. Gita, 2.20*)

13. सत्यं ब्रह्म सत्यं ह्येव ब्रह्म (*Brihadaranyaka vpanishad, 5.4.1*) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (*ibid, 3.9.28*), प्रज्ञानं ब्रह्म (*Aitareya upanishad 5.3*), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (*Taittiriya upanishad, 2.3.1*) and आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्
(*idid, 3.6.1*)

14. यो वै भूमा तत्सुखम्
(*Chandogya upanishad, 7.23.1*)

15. को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्
(*Taittiriya upanishad, 2.7.1*)

16. Swami Nikhilananda, *The Nature of Brahman* in *Essays in East-West Philosophy*, Hanolulu, 1951, p. 242.

17. मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्
(*Shvetashvatara upanishad, 4.10*) *cf. ibid,6.7*)

18. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति (*Taittiriya upanishad*, 3.1) *cf. Brahma-sutra*, 1.1.2

19. एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः नैनं कृताकृते तपतः
(*Brihadaranyaka upanishad*, 4.4.22)

20. *Ibid*, 3.7.8.

21. *Ibid*, 2.5.15

22. न जीवो म्रियते
(*Chandogya upanishad*, 6.11.3)

23. एष मा आत्मान्तर्हृदये । एतद् ब्रह्म । एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि ।
(*Brihadaranyaka upanishad*, 3.14.4)

24. अहं ब्रह्मास्मि
(*ibid*, 1.4.10)

25. अयमात्मा ब्रह्म
(*ibid*, 2.5.19)

26. तत्त्वमसि (*Chandogya upanishad*, 6.8.7.; 6.9.4; 6.10.3; 6.11.3; 6.12.3; 6.12.3; 6.13.3.; 6.15.3; and 6.16.3.)

—:o:—

TRAGEDY AND INDIAN DRAMA

Dr. Swami Nath Pandeya

The greatest tragedy of our literature, to tell the truth, is that it has, to its credit, no tragedy at all. While we are so affluent in other branches of literature, in the field of Tragedy which (not because Aristotle has said[1] but because it is a truth realized by universal aesthetic experience) is the noblest, the sublimest, of all poetic arts, there is almost an absolute vacuum. How poor do wc feel, like a peacock looking down at its claws, when we turn our glance from the Western tragic masters, say, from a Sophocles, or an Aeschylus or an Euripides, from a Racine, and most of all, from a Shakespeare to our dramatists ! Was it due to lack of genius ? Simply— 'No.' How can this charge be levelled against a country which has the pride to have given birth to *Bhasa*, *Ashvaghosha*, *Kalidasa*, *Bhavabhuti*, *Shudraka*, *Vishakhadatta*, *Bhattanarayana* and the like ? At least one of them could, had he tried his hand, have written things not inferior to the best creations of the greatest tragic masters of the world; I have *Bhavabhuti* in mind whose 'Uttaracharitam' is the strongest evidence in the point. Then, wasn't our heritage such as to give impetus to the production of tragedies ? A hundred times— 'No'. The irony, on the contrary, is this that no people in the world, not even the Greeks themselves, had such an inexhaustible mine of tragic profundity as we have had in the form of our great epics, the '*Ramayana*' and the '*Mahabharata*'. The entire life of *Rama* is a tremendous tragedy. The '*Mahabharata*' provides materials for any number of tragedies only if they had been attempted at being written. What then ? It was because of a different angle of view to look at human life in general. "All's well that ends well : so everything must end happily;"— this was the attitude of our poets towards life.

Bharata's '*Natyashastra*' seems to have been no less responsible for this outlook of our poets. Had not there been a single sentence in the '*Natyashastra*', the whole fate of our dramatic literature would have been otherwise, the sentence whereby he prohibits the presentation of death and killing etc. on the

stage,[2] and this dictum of his has been obeyed by later writers as a voice from above. All the dramatists with the possible exception of *Bhasa* who probably preceded him, had a divine reverence for the writer of the *Natyashastra.* In the *'Vikramorvashiyam'* of *Kalidasa,* for example, he is conducting a drama in the assembly of the gods.[3] So, how could they go against his 'commandments' and the consequence of this blind obedience is so deplorable that in their attempt to end their plays happily, they have (like the monkey in the story who faithfully cut the nose of his master in order to ward off a fly) spoilt the very effect of their works which otherwise might have been infinitely more profound and glorious. In the beginning or the middle of the plays we are swept off our feet by the rush of emotion but when we come to the close, we are dropped plumb to fall on earth with broken wings, with a sudden jerk and shock ! Contrast with these the Greek tragedies, especially the 'King Oedipus', 'Oedipus at Colonus' and the 'Electra' of Sophocles; the 'Agamemnon' of Aeschylus and the 'Media', 'Hippolytus' and the 'Electra' of Euripides; or the great masterpieces of Shakespeare, viz., the 'Othello', 'Antony and Cleopatra', 'Macbeth' and *'Lear'* or the 'Phaedra' of Racine and the like. We ascend higher and higher and after reaching the highest peak, the climacteric point, there is no questlon of descending downwards.

Nothing but arid logic could be happy at the happy ending of a play like the *'Uttaracharitam'* where we feel as if what the poet had given us so abundantly has been snatched away from us and our bucket is empty. We value an *'Uttaracharitam'* for the torrents of tears it provokes and not for its soaking up that bounteous flood at the end;[4] we value a *'Kundamala'* for the pathos it creates at the miserable lot of that innocent unlucky queen who has to suffer for no crime of her own, and not for the mirthful end where Sita proclaims that by the grace of Providence, the desire of her heart has been fulfilled, and all others express their joy to hear it.[5]

Worst of all is the case of the *'Vikramorvashiyam'* of Kalidasa at the close of which the poet has just made a mockery of this gem of a story by bringing in *Narada* with the happy tidings that a fierce battle is going on between the gods and the demons in which the gods urgently require the arms of Puruvas and hence as a reward in anticipation, he may enjoy the company of Urvashi for his whole life.[6] From this. our mind turns to that

heart-rending scene in the Rigvedic hymn where the hapless king wanders hither and thither, like a mad man, in search of his beloved and after a long long interval she suddenly appears before him; he implores her to take pity on him and give him again her most ardently wished for company, but the nymph mercilessly rejects his prayers and bluntly says that he must go back home, for she is as out of his reach as the wind.[7]

Similarly, in his '*Raghuvansha*' Kalidasa, at a stroke, butchers that fine invention of himself, viz., the story of Aja and Indumati[8] by giving a celestial life to them. The reader's heart is filled with grief at the tragic death of Indumati and subsequently of Aja lamenting for his beloved, but like an unexpected slap on the cheek, we find the pair enjoying a fairer and happier life in a far happier region.[9] Likewise, the '*Nagananda*' of *Harsha* (having for its theme the Buddhist legend of the self-sacrifice of *Jimutavahana* told in the '*Brihatkatha*' of *Gunadhya* and later in the '*Kathasaritsagara*' of Somadeva) has just escaped being a magnificent tragedy with the hero having been restored to life by Gauri.[10]

In the '*Kadambari*' of *Banbhatta*, too, by the time *Mahashveta*, being persuaded by *Kapinjala*, comes to meet her lover *Pundarika*, the poor fellow has already passed away owing to the unbearable pangs of seperation; but before the Love-in-Seperation of *Mahashveta* culminates into the Pathetic, all of a sudden a divine being issues forth from the Moon's orb and bearing away with him the dead body of *Pundarika*, proclaims that *Pundarika* and *Mahashveta* will be joined together in this very life.[11] And now, who can debar the lady from feeling as if her lover has gone on a long geographical tour ! This is how our poets have handled the tragic element in their works.

A parallel may be found in the 'Alcestis' of Euripides, a tragi-comedy that ends happily. The noble Alcestis who sacrifices her life to save that of her husband Admetus is, at the end of the play, brought back from Hades by Heracles.[12] In the 'Eumenides' of Aeschylus, too, the tragic conclusion is averted by divine intervention. Orestes, son of Agamemnon, who has avenged his father's death by killing his own mother Clytemnestra, is being pursued by the enraged Furies, but is acquitted by the goddess, Athena. But such things are very exceptional in the Greek tragedians.

In his reply to the 'happy-end' champions, Aristotle remarks: "The critics are therefore wrong who blame Euripides for following this course in his tragedies, many of which have an unhappy ending. It is, as we have said, the right and proper course; and here now is the strongest proof. On the stage at public performances such plays ... are seen to be most truly tragic; and Euripides ... must be recognised as undoubtedly the most tragic of dramatists."[13]

Thus in our literature Tragedy died without being born. To use the term in its wider sense, *Valmiki* and *Vyasa* are our greatest tragedians; to use it in the narrower; no tragedy at all has been written in Sanskrit. Now it might be asked: what about those plays of *Bhasa* in which death, viz., that of the demons such as *Kamsa*, *Charuda* and others in the '*Balacharita*', of *Dasharatha* in the '*Pratimanataikam*,' of *Valin* in the '*Abhisheka*', and of *Duryodhana* in '*Uru bhanga*' ? But, it must be kept in mind, that mere death won't do. As Aristotle has rightly observed, it is the suffering and death, through some fatal error, of a virtuous person that constitutes the real tragdy.[14] The 'fatal-error' theory of Aristotle might not be acceptable in the context of snch Shakesperean characters as Cordelia in 'King Lear;' King Duncan in the 'Macbeth,' Ophelia in the 'Hamlet' and the like, Haemon and Eurydice (Creon's wife) in Sophocles' 'Antigone', Media's children in the 'Media' of Euripides, and so on and so forth, who suffer not on account of any fault or error of their own but quite innocently; but none can deny the statement that it is only the suffering of the virtuous that invokes our tears, and not that of a Kamsa, or a Duryodhana, or a Hitler or a Mussolinie. Then, is not Shakespeare's 'Macbeth' a 'tragedy', for Macbeth is no better than a Kamsa or a Duryodhana ? But it must be borne in mind that there is a vital difference: the soul of Macbeth is torn against itself by a duel that is going on within himself. This is not the case with Kamsa and Duryodhana. Had the self-same theme been handled by some weaker hand, it might not have been a tragedy. Actually it also depends on the power of the poet's genius what he turns a thing into. By a single short speech put into the mouth of Macbeth at his last moment, Shakespeare turns this murderous villain into a magnificent hero :

Seyton—The Queen, my lord, is dead.

Macbeth—She should have died hereafter;

Tomorrow, and to-morrow, and to-morrow,
Creeps in this petty pace from day to day
To the last syllable of recorded time;
And all our yesterdays have lighted fools
The way to dusty death. Out, out brief candle ![15]
etc. etc.

Likewise, the passing away of *Duryodhana* in the *'Mahabharata'* is highly moving, for, the departing tyrant, inspite of all his previous misdeeds, wins our sympathy, and at that moment, we, with Krishna's elder brother *Balarama*, take the side of the vanquished and not of the vanquisher. In the Mahabharata whosoever falls, our sympathy runs to his aid, and in this respect, Vyasa stands unrivalled by anyother poet of the world. But every body is neither a *Vyasa* nor a Shakespeare. *Bhasa*, according to his own capacity, has given an admirable touch to the scene of Duryodhana's passing away by making his little child appear before him and insist on taking a seat, as before, on his knees; a desire which remains quite naturally, unfulfilled.[16] The effect is also hightened by the presence his old parents and his wives, his giving counsels of peace to the revengeful *Asavatthaman*,[17] and the appearance of the visions of the dead warriors at the time of his final departure.[18] But although this last scene approaches, at the most, the verge of the tragic, the entire play cannot be called a 'Tragedy' merely on this account. Similarly, *Dasharatha's* death in the *'Pratima'* gives us only a tragic scene, not a tragedy. The case of *'Karnabharam'* is peculiar. It presents a very highly tragic situation, for, although the death of the brilliant hero is outside the play, he, like Achilles, right from the beginning, is overshadowed by an inevitable death. But for a full-fledged tragedy, we will have to knock at other doors.

For this poor handling of the Tragic element by our poets, *Bharata* can be held no more responsible than Aristotle for that of those European dramatists who mistook Castelvetro for Aristotle. As is well-known, the unity of action was the only law prescribed by Aristotle for a drama;[19] of Time, he makes no rigid prescription but only gives 'a record of common practice'[20] that "tragedy endeavours as for as possible to confine itself to a single revolution of the sun, or but slightly to exceed the limit whereas the epic observes no

limits in its time of action— although at first the practice in this respect was the same in tragedies as in epics."[21] Of Place no mention has been made by him anywhere. But, misunderstanding and misinterpreting him, Castelvetro propounded, in Aristotle's name, the doctrine of the three Unities of Action, Time and Place, "the Fatal Three", to quote Saintsbury, "the Weird Sisters of Dramatic Criticism, the vampires that sucked the blood out of nearly all European tragedy .... for three centuries."[22]

Firstly, what one writer has said is not binding on others; genius is the only true guide, and it is a blasphemy against the Goddess of Poesy to set limits on her. To regard a critic as a divine law-giver is just like putting the cart before the horse, and it is hence that the real misfortune of any literature begins. Secondly, even if Bharata had to be adhered to, when he says that death should not be shown to occur on the stage, he never means that death must not occur at all. Had he meant it, he would not have given place to *Karuna* in the list of *Rasas* to be delineated by the dramatist. Like Aristotle, he has been dragged beyond his intentions. At more than one place he has made remarks which clearly imply that Bharata had not banished death from the stage altogether. To produce a few instances :

In N.S. I.58. Bharata says how his first dramatic production represented an 'altercation and tumult and *mutual cutting off and piercing* of limbs or bodies.'[23]

In N.S. I. 107, killing has been included in the list of things to be represented on the stage.[24] In N.S. VI. 62, Bharata enumerates murder as one of the Determinants and death as one of the Complimentary Psychological States of the Pathetic sentiment.[25] In N.S. VI. 64-65, he states, in quite unambiguous terms, that "the Terrible Sentiment is caused by the Determinants like hideous noise, *sight of ghosts*, panic and anxiety due to the untimely cry of jackals and owls, ... *sight of death*... etc. *It is to be represented on the stage* by Consequents such as trembling of hands .... etc. Its Complimentary Psychological States are paralysis, ... epilepsy and *death* and the like."[26] There seems to be no justification in the following remarks of Prof. Keith that the '*Natyashastra*' "rests on no logical or psychological basis, but represents merely generalisations, often hasty."[27] Where else can we find a deeper psychological

penetration than in the '*Natyashastra*' which is nothing but an admirable result of a Herculean patience in the psycho-aesthetic studies of the poet, the play, the actors and the audience ? At another place Prof. Keith observes that "the Tragic sentiment is nowhere recognised, for the term (*Raudra*), which is unhappily so rendered, is the sentiment which is based on anger, and has nothing truly tragic in it."[28] The learned literary historian forgets that the equivalent of the Tragic is not '*Raudra*' but '*Karuna*' which is based on the Permanent Psychological State of Sorrow growing from the determinants such as the death of dear ones etc., as we have seen in the relevant passages quoted from the N.S. just above. *Anandavardhana*, too, in the *Vritti* on Dh.A.I.5. says that Sorrow is the Durable Mental State of the Pathetic (or Tragic) sentiment.[29]

Moreover, simultaneously with his incidental prohibitory remark (that death etc. should not be presented on the stage), Bharat suggests that such things may be referred to in the Introductory Scenes (*Praveshakas*).[30] Here we propose to illustrate, by citing examples from some of the greatest masterpieces in the field, that tragedies of the highest type could be, and have been written without introducing death etc. 'on the stage.' The 'King Oedipus' of Sophocles, the most perfect and powerful tragedy ever written, is the strongest evidence in the point. The ill-fated King, raging mad in the anguish of grief after learning (but alas, too late !) that he had killed his own father and married (and begotten children through) her own mother, does not blind himself nor does Jocasta commit suicide on the stage, but we are informed of it by a messenger.

Mess.— Shortest to hear and tell - our glorious queen
Jocasta's dead.

Chorus- Unhappy woman : How ?

Mess.— By her own hand. The worst of what was done.
You cannot know. You did not see the sight.
Yet in so far as I remember it
You'll hear the end of our unlucky queen.
When she came raging into the house she went
Straight to her marriage-bed, tearing her hair
With both her hands .....

How after that she died I don't know,-
For Oedipus distracted us from seeing.
He burst upon us shouting and we looked
To him as he paced frantically around,
Begging us always : Give me a sword, I say,
— — — — — — — — — — — — — —

Bellowing terribly - - - - - - - - - - - -
- - - he rushed on the two doors, -
Wranching the hollow bolts out of their sockets
He charged inside. There, there, we saw his wife
Hanging, the twisted rope around her neck.
When he saw her, he cried out fearfully - - -
— — — — — — — — — — — — — — — —
Then, - - - - what happened after
Was terrible to see. He tore the broaches -
The gold chased broaches fastening her robe -
Away from her and lifting them up high
Dashed them on his own eyeballs.

etc. etc.[31]

Again, in Sophocles' other masterpiece, 'Oedipus at Colonus' we do not see the passing away of the old blind King on the stage but learn it from a messenger :

Chorus- He is gone, poor man ?
Mess.— You may be sure he has left this world.
Chorus- By God's mercy, was his death a painless one ?[32]

Hereupon, the messenger narrates the story of the old man's final departure from this world. And in both these plays the reports that we get from the messengers, of the blinding of Oedipus in the one and his passing away in the other (which has been highly praised by Longinus)[33] represents the highest pinnacle which human thought and expression can reach, higher than which nothing can be found anywhere else.

Again, in the 'Antigone' of the self-same playwright, Antigone's killing herself we learn in the above manner, i. e., from the mouth of a meseenger.—

Creon– How did she die ?

Mess.– Struck home at her own heart,

When she heard of Haemon's suffering.[34]

In Euripides' 'Medea', Medea kills her children not on the stage but inside the room bolting the door from behind; we only hear the cries of the children from within.

First Son (within)– Ah, me; what can I do ? Whither fly to escape my mother's blows ?

Second Son (within)– I know not, sweet brother mine; we are lost.[35]

In Racine's greatest tragedy, the 'Phaedra', too, the ghastly scene of Hippolytus being dragged to death by his own chariot horses startled by a monster sent from the sea in response to his father's (Theseus') prayer, is not presented on the stage but this unhappy news is conveyed to his father by Theramenes, tutor of Hippolytus.—

Theseus– . .. Theramenes, is it thou ? Where is my son ?

– – – – – – – –

Theram.– Oh, care too late

And useless ! Oh, vain love succeeding hate !

Hippolytus lives no more.

And then Theramenes narrates the story of the most tragic end of his beloved disciple, Hippolytus.–

Theramenes– Scarce had we left the gate of Troezen, he

Rode in his chariot ... etc. etc.

The ghost of this 'happy end' still haunts the Indian mind, and it makes some scholars believe that *Valmiki*, though born long before *Bharata's* advent, followed his 'rules', and ended his *'Ramayana'* happily with the safe emergence of *Sita*, by the power of her chastity, out of the ordeal and her union with *Rama* after the battle of *Lanka* was over. "Although there is beauty in the *Uttarakanda*," observes the Grand Old Man of the South, *C.Rajagopalacharya*, "I must say that my heart rebels against it. *Valmiki* had disposed this old legend through the fire-ordeal in the battle-field."[36] As to the first part of this statement it can be only said that anybody's heart can rebel against anything and there is perfect freedom for it in the literary world, but as to the second part, we beg to say that it seems to be a hasty conclusion.

There have been four persons atleast,of considerable importance,before Rajajee who do not appear to take the matter to be so, viz., *Kalidasa*, *Dinnaga*, *Bhavabhuti* and *Anandavardhana*, the first three of whom derive their themes (*Kalidasa* for the 14th Canto of the *'Raghu'*, *Dinnaga* for the *'Kundamala'* and *Bhavabhuti* for his *Uttaracharitam*) from the story of the pregnant *Sita's* banishment that forms the subject-matter of the *Uttarakanda*, and the fourth. the Creator of that Glory of Indian Criticism, the *'Dhvanyaloka'*, maintains that the end in view of the first poet was the delineation of the Pathetic Sentiment which he does by culminating the story of the *Ramayana* in the separation of *Sita* from *Rama* for ever and ever.[37]

Let these 'authorities' apart, what could prevent that supreme master of Pathos, *Valmiki*, from incorporating this heart-piercing, the finest of the fine, the noblest of the noble, story of the *Uttarakanda* into his immortal Epic ? Would not this profoundest tragedy of the *Ramayana* which has got no parallel wheresoever in the entire range of world literature for the depth of its conception, turn into a tragi-comedy, much poorer, stripped as it were of it very soul if we minus that part of it against which *Rajajee's* heart rebels ? But, as Longinus says, 'let everyone take the view which pleases him and enjoy it.'[38]

The point intended to be emphasized here is that all Great Literature has inevitably at its root the tragic element and there is no exaggeration in what *Bhavabhuti* puts into the mouth of *Tamasa* in the *Uttaracharitam*, i. e., the Pathetic is the only Sentiment, and all the rest are only its transformations (*Vivartas*).[39] And it is in this that our literature, especially our dramatic literature, cuts a very sorry figure. For it, the blame must not be flung upon *Bharata's* head, for, it was no fault of his if he was, like his Greek counterpart Aristotle, misunderstood, or more correctly speaking, 'overunderstood' by posterity. "Don't eat too much" never means "Don't eat at all !"

REFERENCES—

1. Vide *'POETICS'*, Ch. XXVI. (tr., T.S. Dorsch)

"It may be asked which of the two forms of representation is the better, the epic or the tragic. ——

If, therefore, tragedy is superior to epic in all these respects, and also in fulfilling its artistic function — ... then obviously, in achieving its ends better than epic, it must be the better form of art."

2. ना० शा०, *XVIII.21* (काव्यमाला *ed.*)—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनञ्चैव ।
प्रत्यक्षानि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥

3. विक्रमोर्वशीयम्, *II.17*—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥

4. उत्तरचरितम्, अङ्क *VII*—

रामः— सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि ।
यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम् ।
वाल्मीकिः— रामभद्र, उच्यतां किं ते
भूयः प्रियमुपहरामि ?
रामः— अतः परमपि प्रियमस्ति ?

5. कुन्दमाला, अङ्क *VI*—

सीता— प्रियं मे दिष्ट्या संवृत्तम् ।
सर्वे— (यथोचितं हर्षं नाटयन्ति ।)

6. विक्रमोर्वशीयम्, अङ्क *V*—

"त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरविमर्दो भावी ।—तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम् । इयञ्चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।"

7. ऋग्वेद, *X 95*—

"पुरूरवः पुनरस्तं परेहि
दुरापना वात इवाहमस्मि ।"

8. अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोककलोचन, *III. 14*.—

"रघुवंश अजादीनां राज्ञां विवाहादिवर्णनं नेतिहासेषु निरूपितम् ।"

9. रघुवंश, *VIII.95*—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो–

देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकचतुरया कान्तया सङ्गतोऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥

10. नागानन्द, *V.34*—

(ततः प्रविशति ससंभ्रमा गौरी)

गौरी– (मलयवतीमुद्दिश्य)–वत्से ! कथमहमलीकवादिनी भवेयम् ।

(नायकमुपसृत्य कमण्डलुजलेनाभ्युक्षन्ती–)

मिजेन जीवितेननापि जगतामुपकारिणः ।
परितुष्टास्मि ते वत्स ! जीव जीमूतवाहन ॥

(नायकः उत्तिष्ठति)

11. कादम्बरी—

"वत्से महाश्वेते ! न परित्याज्यास्त्वया प्राणाः ।
पुनरपि तवानेन सह भविष्यति समागमः । "

12- Heracles— ... I must save this dead woman, and bring back Alcestis to this house as a grace to Admetus.

13- Poetics, Ch. XIII.

14- Poetics, Ch. XIII–

"Nor again should an utterly worthless man be seen falling from prosperity into misery. Such a course ... would not arouse either pity or fear; for our pity is awakened by undeserved mis-fortune, and our fear by that of someone just like ourselves.... This is the sort of man who is not conspicuous for virtue and justice, and whose fall into misery is not due to vice or depravity, but rather to some error."

15- Macbeth, Act V, Scene V.

16. ऊरुभङ्ग, *I.41 ff.*

दुर्जयः–तात ! परिश्रान्तः खल्वहम् ।
धृतराष्ट्रः—गच्छ, पितुरङ्के विश्रमस्व ।
. . . .
राजा–पुत्र ! किमर्थमिहागतः ?
दुर्जयः—अहमपि खलु ते अङ्के उपविशामि ।

(अङ्कमारोहति)

राजा– (निवार्य) दुर्जय ! दुर्जय ! भोः ! कष्टम् । *etc.*

17- Ibid, I. 56 ff.

अश्वत्थामा—. . . . . (उपसृत्य) भोः कुरुराज ! किमिदम् ? राजा– गुरुपुत्र ! फलमपरितोषस्य ।

अश्वत्थामा—. . . .

कृष्णं सपाण्डुतनयं युधि शस्त्रजालैः . . *etc*

राजा— . . .

वयं चैवंभूता गुरुसुत ! धनुर्मुञ्चतु भवान् । *etc.*

18- Ibid, I. 65 ff.—

राजा–हन्त ! . . . परित्यजन्तीव मे प्राणाः ।

इमेऽत्रभवन्तः शन्तनुप्रभृतयो मे पितामहाः ।

एतत्कर्णमग्रतः कृत्वा समुत्थितं भ्रातृशतम् । *etc.*

19- Poetics, Ch. VIII.—

"Thus . . . the plot of a play, being the presentation of an action, must present it as a unified whole . . . . ."

20- Atkins : 'Criticism in Antiquity', Vol. I, p. 89

21- Poetics, Ch. V.

22- Saintsbury, 'Hist. of Crit.', Vol. II, p. 84.

23- Tr. M. M. Ghose.

Vide, नाटयशास्त्र, *I.58* –

तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः ।

सम्फेट-विद्रवकृताच्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥

24- *Vide*—

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः ।

क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥

25- *Vide* —

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः । स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजन-विप्रयोग-विभवनाश-वध-बन्ध . . . आदिभिर्विभावैः समुपजायते । . . व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद- . . मरण . . आदयः । अत्रार्ये भवतः–

इष्टवधदर्शनाद्वा . . करुणरसो नाम संभवति ॥ *etc*

26- *Vide*—

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको . . तस्यच ताडन-पाटन-पीडनच्छेदन-भेदन-शस्त्रसंपात-संप्रहाररुधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि । . .

नानाप्रहरणमोक्षैःशिरः कबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥

27- 'The Sanskrit Drama', p. 352.

28- Ibid, p. 354.

29. *Vide*– 'शोको हि करुणस्थायिभावः।'

30. ना० शा०–*XVIII.21*–'प्रवेशकैः संविधेयानि' ।

31- Dramas of Sophocles, tr., Sir George Young, London, 1953.

32- Ibid.

33- On the Sublime, Ch. XV—

"Sophocles has also shown himself a great master of the imagination in the scene in which the dying Oedipus prepares himself for a burial in the midst of the tempest."

34- Dr. of Soph., tr. S.G. Yound.

35- Ed. Whitney J. Oates, New York, 1950.

36- Epilogue to the English Version of his 'Ramayana', p. 295.

37. *Vide*, ध्वन्यालोक, *IV.5* (वृत्ति)

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता ।

38- On the Sublime, Ch. 44.

39. *Vide*, उत्तरचरितम्, *III. 47*—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥

THE KRAMA TANTRICISM OF KASHMIR, Vol. I, (Historical and general Sources) by Navjivan Rastogi. Ph.D., Abhinavagupta Institute of Aesthetics and Shaiva Philosophy, University of Lucknow, Published by Motilal Banarsidas, Delhi— Varanasi— Patna, First Edition, 1979, pp. xxix + 297, Price : Rs.55/-

Reviewed by Rama Shankar Mishra, Department of Sanskrit, Saket P. G. College, Faizabad.

When I took upon the task of reviewing Dr. Rastogi's work on the Kram Tantricism I was reminded of a cryptic remark from a learned friend in the top Civil Service— "Why this gentleman has laboured so much, is it really worth ?" The first, and fortunately the final, impression one forms after going the whole book is that the author has very sincerely endeavoured to touch upon all the available sources- both original and secondary- whether in print or awaiting print.

The book in hand forms the first part of the project of the two volumes- the second in the pipeline and dwells upon the genetic and historical study of the Krama System, an essential sub-school of monistic brand of Shaivistic thought of Kashmir. Very seldom one finds a sub-school of vast Tantric culture being treated in such great consistent detail. As all the students of Indology know very well that the Tantric studies have been of very recent origin, (in sense beginning with Charles Illiot and Woodroffe) that too at large intervals. There has been a lot of spurious materials to satisfy the clumsy western appetite, but sincere efforts have always been conspicuous by their rarity and depth.

The author comes direct in the line of his teacher, predecessor Dr. K. C. Pandey, who, in a sense, poineered the studies in the realm of Kashmir Shaivism opening the gates of vast flood of knowledge disseminated by the series of Kashmir Shaiva scholars and steering clear the close logical affinity between the sister currents of metaphysical and literary moovings. Dr. Rastogi carries the task further-constantly modifying, reinterpreting and ever adding new material by confining to a specialized and well demarcated area within a given larger framework. He has brought into bold relief the literary, philosophical and mystic geniuses of Kashmir, closely reflecting their reciprocal interaction and enrichment. This, he has done not by mere conjectures, but by solid evidences from all the sources he could lay his hands on.

His treatment of the growth of the Krama system, which occupies unique place in the general Tantric culture of the country marking a connecting link between the Shaiva metaphysics and Shakta esotericism and Tantric synoptic view of life, leads one to look hopefully to the projected second volume.

The book is divided into seven chapters namely, (i) Krama as a Distinct System, (ii) On the Nomenclature of the System, (iii) Krama as a Tantric System, (iv) Philosophical and Tantric Systems, (v) Different Traditions and Sub-schools, (vi) Sources and Literature and (vii) Krama's Place in the Wider Framework of Kashmir Shaivism with an eye upon its General Tantric character. The headings are such as easily initiate one into the nature and scope of the subject matter. Of all these chapters the chapter sixth is most important and essays the task of a reconstructive study of the Krama history. The work has been appended with, at the end, with five indices including one with a comprehensive tabular chronological chart and another comprising an elaborate up-to-date classified bibliography. Remaining indices incorporate name-index, work-index and subject-index. The style is lucid, analytical and matter-of-fact and the conclusions are based on principles of modern research methodology. The publisher deserves a word of praise for meticulous marvellous printing and impressive get-up. The intention of the author in presenting the text as a groundwork of the system does not seem to have been belied. I am sure the book will be received well by the desiring readers.

SUN WORSHIP IN ANCIENT INDIA by Dr. Lalta Prasad Pandey, Prof. Department of History, Himachala Pradesh University, Simla; Published by Motilal Banarsidas, Delhi; First Edition 1971; Pages. xxxi+368+31 Plates; Price: Rs. 55/-.

Reviewed by Dr. Gauri Shankar Tiwari, Deptt. of Ancient History, Culture and Archaeology, Saket P. G. College, Faizabad. (u. p.)

The book under review, a doctoral thesis of Delhi University in fact, presents some stimulating thoughts in place among the different forms of worships in the world-culture including those in India. It has however been a subject matter of controversy whether sun-worship came to India from outside or it

was already there inherent in the Indian culture. Some scholars argue that it came to India through Western Asian influences with the advent of Magis of Iranian regions who migrated to India and settled in *Saurashtra*. But those who are conversant with the ancient Indian literature know very well that the sun occupies prominent place among the solar deities of the *Vedic* age. He, "the most concrete of the solar deities", as put by *Macdonel*, "was directly connected with the visible luminous orle" (*Ved. Myth.* p. 3o). Thus it is evident that the sun-worship did not come from outside. However, it may be accepted that some changes and developments did take place in the modes of worship due to foreign influences. In the introductory chapter of the book, the author has very ably compared the forms of sun-worship in different culture of the world.

The first chapter of the book deals with the sun-worship in the pre-Vedic age. In this chapter the author on the basis of some rock paintings, has tried to establish the theory that Sun-worship was known even to the pre-Vedic people.

The second chapter of the book deals with the sun-worship in the *Vedic* age. Taking into account the sun-mythology in the *Vedic* literature and the relations among other solar deities like *Vishnu, Mitra, Varuna, Surya* etc. have been explained here. In later *Vedic* age Sun occupies a prominent place among the deities connected with sacrifices. All the factual references are quoted here in this chapter extensively.

The author has laboured much to describe the origin and mode of sun-worship in Post-Vedic period exploring widely the *Puranic, Classical, Epic* and *Buddhist* literatures. It is surprizing that the *Kalpa Sutras*, which are part and parcel of *Vedic* literature, have found their place in this third chapter.

The fourth chapter deals with the *Shunga*-period in which carved images were much in vague, and iconographic figures evidently enriched the development of Sun-worship during that age.

Due to the advent of Indo-Greeks, *Shakas* and *Kushanas* the sun-worship received further impetus in India. The art-remains and sculptures of this age evidently bear testimony to the innovations and other features added to the Sun God. The fifth chapter of the book deals only with this period.

In Indian history *Gupta*-period is supposed to be the golden age for the development of arts, literature and other allied fields. The sun-images, temples and inscriptions of this period clearly show a marked tendency of developing phase of sun-worship in the country. The sixth chapter of the book deals extensively with *Gupta*-period and onwards, and brings forward several unknown historical facts.

The second part of the book, i.e. from chapter VII to XII, contains the description of the centres of sun-worship in Ancient India. In northern India, *U.P.*, *Punjab*, *Haryana* and *Kashmir* have been the great centres of sun-worship. In central India *Madhya Pradesh* occupies the prominent place among the centres of Sun-worship through the ages.

Four appendices at the end of the book add to the richness of the book. The *Sanskrit* texts taken from some iconographic works, and some extracts from relevant inscriptions have been reproduced in the first two appendices. The third deals with the solar fasts as described in the *Bhavishya Purana*, while a list of some ancient Indian solar temples have been added in the fourth appendix. An exhaustive bibliography and word-index added at the end of the book make it comprehensive.

Thus apart from some minor discrepancies, the book presents valuable source of information and may be helpful to them who want to work on Indian culture and mythology.

नवाष्टकमालिका— अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र, संस्कृत-विभाग, प्रयागविश्वविद्यालय, इलाहाबाद; वैजयन्त प्रकाशन, द्रोणीपुर, जौनपुर; पृष्ठ सं० ५ + ४०; मूल्य तीन रूपये मात्र।

समीक्षक—श्री रमा शंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०).

नवोदित कविहृदय तथा विद्वान् अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र की 'नवाष्टकमालिका' स्तोत्र-प्रधान कृति है। रचना में नौ स्तोत्र हैं, जो मरन्दमाधुरीस्तवनम्, स्तनन्धयक्रन्दनम्, आशुतोषाराधनम्, सृष्टिमूलस्तवनम्, पुरुषोत्तमप्रीणनम्, दुकूलचौरचरितम्, पिशाचभञ्जनम्, मधुराभिधानम् और मङ्गलायतनगीतम्-शीर्षकों में निबद्ध हैं। अन्त में 'आत्म-निवेदनम्' में अपने जीवन के मार्मिक अंशों को, लगता है राहत पाने के लिये, पाठकों तक पहुँचाया गया है।

संस्कृत-साहित्य में स्तोत्र काव्यों के प्रणयन की एक स्वस्थ परम्परा रही है। भक्ति में आत्म-निवेदन का मार्ग हृदय के कल्मष को धोकर उसे निर्मल बना देता है। नवाष्टकमालिका

का कवि यह स्वीकार करता है कि 'संकटापन्न क्षणों में विवेकी पुरुष का संतप्त, प्रर्धषित एवं आहत मन ग्राहग्रस्तगजेन्द्र बनकर अपने इष्टदेव के लिये क्रन्दन करने लगता है। ब्रह्माण्ड का कण-कण देवमय है, ईश्वरमय है। उसके समक्ष आत्मनिवेदन ही वह मार्ग है, जो हृदय को शान्ति दे सकता है।' मन की ग्रन्थियों को उद्घाटित करने में कवि की भाषा सरस, भावानुकूल तथा काफी व्यञ्जक है।

इन स्तोत्रों में सहज और निश्छल अभिव्यक्ति के लिये डा० मिश्र सचमुच बधाई के पात्र हैं। भावुक हृदय श्री मिश्र की अन्तः पीड़ा का दृश्य 'आत्मनिवेदनम्' के अन्तिम श्लोक में दिखाई पड़ता है—

'नाकांक्षा कविकर्मणि प्रवचने नाल्पोऽनुषङ्गोऽथवा
गार्हस्थ्येऽभिरुचिर्न वृत्तिरुरसो वार्ताक्रमेऽपि ध्रुवम्।
रुद्राणीचरणाम्बुजाङ्कपतिते चित्तद्विरेफेऽधुना
क्वारामः क्वनु मल्लिका क्व मलयः क्वासौ मधूकद्रुमः॥'

अर्यान्योक्तिशतकम्— अभिराज डा० राजेन्द्र मिश्र; वैजयन्त प्रकाशन, द्रोणीपुर, जौनपुर; पृष्ठ सं० ४१; मूल्य तीन रूपये।

समीक्षक—श्री रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)।

डा० मिश्र संस्कृत अन्योक्ति विधा के सिद्धहस्त विद्वान् लगते हैं। संस्कृत-साहित्य में अन्योक्तियों के उद्भव और विकास पर उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया है। इस कृति को उनके इसी प्रयास की ठोस उपलब्धि कहा जाना चाहिये। अन्योक्ति, काव्य की वह व्यञ्जक विधा है जिसमें कवि को समाज के शोषक तत्त्वों पर व्यङ्ग्य करने की व्यापक छूट होती है। वह अपने परितः परिवेश की कुरीतियों पर तो चोट करता ही है साथ ही उनकी निस्सारता की ओर संकेत करते हुये कुछ सुझाव भी देता है। डा० मिश्र ने सामान्य जीवन में प्रायः घटित होने वाले अनेक प्रसंगों पर व्यङ्ग्य करने का प्रयास किया है। कवि पर हिन्दी-संस्कृत के कवियों की स्पष्ट छाप दीखती है, किन्तु कवि अनेक स्थलों पर अधिक से अधिक मौलिक होने की चेष्टा की है।

रचना 'वर्गों' में बिभाजित है जिनके क्रमशः विबुधवर्गः, मानववर्गः, पशुवर्गः, विहगवर्गः, प्राणिवर्गः, विटपिवर्गः-प्रकीर्णवर्गः, आदि नामकरण हैं। अन्त में 'कविपरिचयः' के अन्तर्गत कवि अपना परिचय देता है। इसके अतिरिक्त रचना की भूमिका में भी एक लम्बा सा 'कविवंशवर्णनम्' शीर्षक उपलब्ध है। लगता है कि कवि संस्कृत कवियों की प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत अपना परिचय न देने की भूल के प्रति सतर्क है। वैसे हमें विश्वास है कि हमारी पीढ़ी श्री मिश्र जी के सुकोमल तथा भावुक कवि-पक्ष को कभी भूल नहीं सकेगी।

पुस्तक की साज-सज्जा कवि-हृदय के अनुरूप है। हमें विश्वास है कि सुधी-जन पुस्तक को पसन्द करेंगे।

साहित्य-मञ्जरी– पं० श्री बटुक नाथ शास्त्री खिस्ते, भूतपूर्व साहित्य-विभागाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; प्रकाशक-शारदा प्रकाशन संस्थान, शारदा भवन, डी ३६/४४, अगस्त्य कुण्ड, वाराणसी; प्रथम संस्करण, १९७७; पृ० क–ग + १–६ + १३३, मूल्य १० रुपये मात्र।

समीक्षक–डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, साहित्य-विभाग, लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली।

संस्कृत-साहित्य के साम्प्रतिक मूर्धन्य विद्वानों और कवियों में अग्रणी पं० श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते की उपर्युक्त कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध १९ लेखों का संग्रह है। यह कृति अपनी विशिष्टता के कारण ही 'उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी' के पुरस्कार का वरण करने में सक्षम हुई है।

प्रस्तुत 'साहित्य-मञ्जरी' में संकलित १९ निबन्धों में ९ निबन्ध महाकवि कालिदास से सम्बद्ध हैं तथा शेष १० में ७ काव्यशास्त्रीय पक्ष के एवं ३ आगमिक रहस्य के उद्घाटक हैं।

कालिदास विश्व के साहित्यकारों के कण्ठहार हैं, इसीलिये उनके सहस्रों पक्षों का परिशीलन प्रस्तुत हुआ है। किन्तु आदरणीय खिस्ते जी का अनुशीलन 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' वाली उक्ति को चरितार्थ करता है। आपने काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारों– मम्मट, विश्वनाथ, महिमभट्ट आदि की दृष्टि में शास्त्रीय-विवेचन को प्रस्तुत करने वाले विषयों को विमर्श का केन्द्र बनाया है तथा उनकी शाब्दिक-जटिलता को शिथिल करते हुए तथ्यातथ्य को पुरस्कृत किया है। विद्वज्जगत् की प्रस्थापनाओं में जैसे– 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' उक्ति प्रसिद्ध है, वैसे ही आपने 'मेघदूते काव्यरत्ने, कालिदासो विशिष्यते' की स्थापना की है। ऐसी स्थापना की पुष्टि के लिए निर्दिष्ट तर्क-प्रतर्क आपकी गहन-साहित्यावगाहनता का परिचय सहज दे रहे हैं। 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वं' जैसी उक्ति की वास्तविकता को संदिग्ध बनाने में सहायक आपका दूसरा लेख 'बाणः कालिदासमनुहरति' उन अन्तरङ्ग तत्त्वों को क्रमशः उजागर करता है, जिन्हें कालिदास की रचनाओं से प्राप्त प्रेरणा द्वारा प्रसूत मानने में तनिक भी शङ्का नहीं रहती। 'मम्मट–कालिदासयोर्विचारवीचयः' शीर्षक वाले लेख में लेखक ने कालिदास की रचनाओं में मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्यदोषों का सप्रमाण खण्डन कर उनका मण्डन किया है। इसी प्रकार विश्वनाथ द्वारा उद्भावित दोषों की भी शास्त्रीय परीक्षा करके उनकी भूषणता व्यक्त की है। टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा कालिदास की रचनाओं में प्रदर्शित तथा अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विचारसरणि पर अलंकार–दोषों का विवेक भी प्रस्तुत है। महिमभट्ट ने भी कालिदास की उक्तियों में दोषों को दिखाया है। उसका उद्धार भी श्री खिस्ते जी ने बहुत ही मार्मिक ढंग से किया है।

'कालिदास-कृतिषु मन्त्रविद्याः', 'विद्गगनचन्द्रिकाकारः कालिदासः' तथा 'कविकुलगुरोः स्थिरभक्तियोगः' ये तीन लेख प्रायः नितान्त नवीन दृष्टि को पुरस्कृत करते हैं। ऐसे विषयों पर प्रायः नहीं लिखा गया है। पैतृक-सम्पदा के रूप में उपलब्ध तन्त्रशास्त्रीय एवं योगशास्त्रीय मर्म का उद्घाटन करते हुए आचार्य श्री खिस्ते जी ने कालिदासीय साहित्य के अध्येताओं के लिए एक नवीन पथ इनके माध्यम से प्रशस्त किया है।

द्वितीय शृंखला के लेखों में यहाँ- शब्दार्थयोः सम्बन्धः, दोषदृष्टिः, काव्यस्य सत्यत्वम्, वक्रोक्ति-वैभवम्, रसगङ्गाधरे द्वितीयकाव्यलक्षणम्, अर्थः सहृदयश्लाघ्यः—जैसे काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का साक्षात्कार कराने में समर्थ लेख संगृहीत हैं।

ग्रन्थ के अन्त में—त्रैपुर-दर्शनम्, आगम-परिचयः तथा स्पन्दब्रह्म-विमर्शः संज्ञक तीन लेख आगमों से सम्बद्ध हैं। प्रथम लेख में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना में अनुरक्त आचार्यों द्वारा अभिव्यंजित शाक्त-दर्शन के विचारों को 'त्रिपुरारहस्य' के ज्ञान खण्डगत विमर्श से संवलित किया गया है। यह उक्त दर्शन का परिचायक लेख है।

आगमों का परिचय कराने वाला द्वितीय लेख-'आगम' शब्द की व्यापकता, आगमों की प्रवृत्ति, आगमों में अधिकारी-भेद और आगमों का स्वरूप-भेद प्रस्तुत करता है। संक्षेप में आगमों का परिचय प्राप्त करनेवालों को यह लेख वास्तविक तथ्यों से परिचित करायेगा।

अन्तिम लेख प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की परिसीमा में पर ब्रह्म के स्वरूप का आख्यायक 'स्पन्द' तत्त्व क्या है? इस प्रश्न को समाहित करता है। माया, शक्ति,ऊर्मि, चिति, संवित्, कुण्डलिनी, कला, नित्या और प्रतिभा आदि विभिन्न शब्दों से व्यपदिष्ट 'स्पन्द' की महिमा सरलता से ज्ञात हो सके तथा दार्शनिक जटिलता से निकल कर पाठक वस्तुतत्त्व को पहचान सके, तदर्थ यह प्रयास है।

सूर-काव्य-मीमांसा— डा० हौसिलाप्रसाद सिंह; एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०; हिन्दी-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद; प्रकाशक—मूलचन्द एण्ड ब्रदर्स, चौक, फैजाबाद; प्रथम संस्करण, १९७९; पृष्ठ १५ + ३७४; मूल्य पचीस रूपए मात्र।

समीक्षक—डा० त्रिभुवन सिंह, रीडर, हिन्दी-विभाग; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)

हिन्दी-साहित्य में सूर-काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो सूर को आधार मानकर अब तक अनेकानेक ग्रन्थों, शोध-ग्रन्थों एवम् स्फुट निबन्धों का अबाध निर्माण हुआ है किन्तु सर्वांगीण समीक्षा की दृष्टि से वे सभी ग्रन्थ सम्यक् रूप से पूर्ण नहीं है। सूर जैसे महाकवि केवल वर्तमान के लिए ही नहीं, अपितु युग-युगान्तर के लिए न केवल स्थानगत बल्कि सभ्यता-संस्कृति, कला एवम् सौन्दर्य के सार्वभौमिक प्रेरणा-स्रोत हैं। ऐसे महाकवि को आलम्बन बनाकर लिखे गए ग्रन्थ भी सार्वजनीन एवम् सार्वकालिक महत्त्व के होने चाहिए। कृष्ण का कृष्णत्त्व सूर की वाणी में निहित है। उस वाणी का सम्यक् साक्षात्कार एवम् उसकी सारगर्भित समालोचना 'सूर-काव्य-मीमांसा' में उपलब्ध है। यह ग्रन्थ सूर-समालोचना की समस्त उपलब्धियों को अन्तस् में समेटे है।

यह ग्रन्थ पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में सन्दर्भ संकेतिक हैं जो शोध की दृष्टि से विशेष उपादेय हैं। ग्रन्थ के अन्त में उपकरण ग्रन्थों की तालिका भी है। अध्यायों का विभाजन एवम् उसकी विषय-सामग्री समीक्षा के परम्परागत रूप तक ही सीमित न होकर तात्त्विक विवेचना के सभी मानदण्डों का प्रत्यक्षीकरण कराता है। सूर का जीवन-वृत्त एवम् रचनाएं, सूरसागर का वर्ण्य विषय और श्री मद्भागवत, भक्ति और दर्शन, काव्य रस, सौन्दर्य और रहस्य-

बोध, पात्र और चरित्र-चित्रण, संस्कृति और समाज, भ्रमरगीत, वाग्विदग्धता, व्यंग्य और विनोद, गीति तत्त्व और प्रकृतिपर्यवेक्षण,सूर का राम काव्य,सूर सारावली और साहित्य लहरी,शब्द-मीमांसा, काव्य-भाषा और शिल्प, प्रभाव तथा उपलब्धि इस समीक्षा ग्रन्थ के विवेच्य विषय हैं। विचार-भाषा एवम् शैली का सामञ्जस्य ग्रन्थ की उपादेयता एवम् सर्वग्राह्यता का सुलभ प्रमाण है। ग्रन्थ की साज-सज्जा आकर्षक एवम् मुद्रण निर्दोष है। प्रस्तुत ग्रन्थ छात्रों, शोध-छात्रों एवम् विद्वानों के लिए उपादेय बनेगी, ऐसा मेरा अभिमत है।

मत्कुणायनम्— (व्यङ्ग्य काव्यम्)– डा० शिव प्रसाद भारद्वाज, शास्त्री, एम० ओ० एल०, पी–एच० डी०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न; प्राध्यापक, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु भारत भारती शोध संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर, प्रकाशिका–श्रीमती भगवान देवी भारद्वाज, ई०–१, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स, ऊनामार्ग, होशियारपुर; पृष्ठ सं० १८।

समीक्षक— श्री गंगा प्रसाद, कुर्मी मंदिर, प्रमोद वन, अयोध्या, फैजाबाद (उ० प्र०)।

'मत्कुणायनम्' एक लघु व्यङ्ग्य काव्य है जो हिन्दी विधा की दोहा-चौपाई शैली में संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इस काव्य में तीन आह्निक हैं, जिसमें प्रथम और द्वितीय तो दोहा और चौपाई में तथा तृतीय संस्कृत के अनुष्टुप् छन्द में प्रणीत है। डा० भारद्वाज ने मत्कुण (खटमल) के प्रतीक से साम्प्रतिक स्थितियों पर मार्मिक व्यङ्ग्य करने की चेष्टा की है। यह व्यङ्ग्य अधिकतर राजनीति तथा सामाजिक व्यवस्थाओं से सम्बद्ध है। भाषा बहुत ही ललित, प्रवाहपूर्ण तथा व्यङ्ग्य प्रधान है। मत्कुण को आलम्बन बनाकर संस्कृत काव्य में हास्य पद्य भी लिखने की परम्परा यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है—

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ तु हरिश्शेते मन्ये मत्कुणशंकया॥

पुस्तक की रोचकता असंदिग्ध है।

हूण-पराजयम्-- (ऐतिहासिकं नाटकम्,—डा० शिवप्रसाद भारद्वाज; प्रकाशक- डा० शिव प्रकाश भारद्वाज, ई–१, यूनिवर्सिटी क्वार्टर्स, ऊनापुर, होशियारपुर; पृष्ठ सं० ५४; मूल्य छः रूपये।

समीक्षक-- श्री गंगाप्रसाद, कुर्मी मन्दिर, प्रमोदवन, अयोध्या, फैजाबाद (उ०प्र०)।

'हूण-पराजयम्' एक ऐतिहासिक नाटक है। संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों की अपनी एक परम्परा रही है। चूँकि संस्कृत भाषा का सम्प्रति व्यावहारिक जीवन में अधिक उपयोग नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी ये नाटक अपनी पुरानी विधा को संजोये हुये अपनी परम्परा को गतिशील बनाये हुये हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में जिस रंगमंच का वर्णन मिलता है उसमें अब काफी

परिवर्तन की आवश्यकता है। उक्त नाटक में डा० भारद्वाज ने एक अभिनव प्रयोग करने का प्रयास किया है। रंगमंच की दृष्टि से भी यह नाटक बहुत ही उपयोगी है। इस नाटक में तीन अंक हैं। 'जय हे। जय जय भारत हे'! सुमधुर तथा सुगेय नान्दीपाठ से नाटक का प्रारम्भ होता है। सूत्रधार और पारिपार्श्वक के कथोपकथन से कथावस्तु का अवतरण होता है। नाटक के बीच में परम्परावद्ध श्लोकों की रचना के साथ नये गीत-छन्दों में इतिवृत्त का निबन्धन किया गया है। इससे मंचन और भी मनोरंजक हो सकता है। 'जय जय भारत हे। कोटिकोटिजनकण्ठसुभृतरव-नित्य गीत-गौरव ! पुण्यस्तव'- नेपथ्यगीत के साथ नाटक समाप्त होता है। इस तरह के नाटक-लेखन से संस्कृत नाट्य साहित्य को एक नया जीवन मिल सकता है। संस्कृत साहित्य में मौलिक सर्जन की आवश्यकता को देखते हुये डा० शिव प्रसाद भारद्वाज का 'हूण पराजयम्' एक स्वागत योग्य कृति है।

वैश्वानर (काव्य)— मृत्युञ्जय उपाध्याय, बंगीय हिन्दीपरिषद्, १५, वंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता–१२, मूल्य बीस) रूपये (सजिल्द)।

समीक्षक— डॉ० हौसिलाप्रसाद सिंह; एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०; स्नातकोत्तर हिन्दी–विभाग, साकेत पी० जी० कालेज, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)।

श्री मृत्युञ्जय उपाध्याय आठवें दशक के एक चर्चित कवि हैं। "वैश्वानर" आठवें दशक के अन्तिम वर्ष में 'बंगीय हिन्दी परिषद्' द्वारा प्रकाशित हिन्दी की मिथकीय काव्य परम्परा में एक और श्रेष्ठ रचना के रूप में स्वागतयोग्य कृति है। भारतीय चिन्तन के एक चिरन्तन अनुभूति पर आधारित यह काव्य कृति खण्डकाव्यों व महाकाव्यों की वर्जनाओं को तोड़कर लिखी गयी है। इसका कथ्य एक ऐसा पौराणिक इतिवृत्त है जो भारतीय मनीषियों को बराबर उद्वेलित करता रहा है। यथार्थ जीवन की अतल गहराइयों में उतरकर ही कोई कवि उन सत्यों को पकड़ पाने में सक्षम हो सकता है जिसे 'समय का सत्य' कहते हैं। लगता है कोई एक युग-पीड़ा कवि को एक लम्बे अर्से से मथती रही है जो इस कृति के रूप में प्रकाश में आयी है। श्री उपाध्याय जी एक अर्से से कलकत्ता में रह रहे हैं। कलकत्ता का परिवेश ही ऐसा मोहक है जो किसी भी रचनाकार को जीवन की सच्चाई में उतरने का आमन्त्रण देता आया है। 'वैश्वानर' के कवि का मिथकीय प्रयोग काफी सधा हुआ है। आदमी की सच्ची मेधा का परिचय, विषम परिस्थितियों में ही मिलता है। पूरी पुस्तक जैसे आदमी की अपनी एक सम्यक् समीक्षा हो। बानगी के तौर पर देखें—

'कौन यह पेट में धंसा हुआ सिर। फैला हुआ मुँह। जलती हुई आँखें। चमकती हुई दाढ़ें। आ रहा है। बाहें फैलाये। पर्वतों को कुचलता। दिशाओं को निगलता। नक्षत्रों को मसलता। आ रहा है। बाँहें फैलाये। षडयन्त्र है श्वपच। तेरा ज्ञान, विज्ञान। तेरा धर्म। तेरी संस्कृति। षड्यन्त्र है मेरी हत्या का। दोष है समय के सत्य की उपेक्षा। दोष है मिथ्या-धर्म, कर्म अहम् की रक्षा। दोष है संशय का जीवन। स्वयं को झुठलाना। आत्मा को फुसलाना।

आत्मघात। सबसे बड़ा दोष आत्मघात। मैं हूँ अभावों का पुत्र।'

पुस्तक की छपाई व गेटअप काफी आकर्षक है। मूल्य कुछ अधिक अवश्य है। किन्तु काव्य–कृतियों के महत्त्व की परम्परा में 'वैश्वानर' एक अच्छी कृति सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से यह पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय तथा अध्येताओं के लिए पठनीय है। कवि को इस अच्छी रचना के लिए हार्दिक बधाइयाँ।

आचार्य विद्यानन्द प्रणीत प्रमाण-परीक्षा-- डा० दरबारी लाल कोठिया; पूर्व रीडर, काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी, द्वारा सम्पादित; प्रकाशक- वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट, चमेली कुटीर, १/१२८ डूमरांव कालोनी, अस्सी, वाराणसी; उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत तथा सम्मानित; पृष्ठ सं० १५+१२२+६७; मूल्य १० रूपये।

समीक्षक-- पं० रामनारायण त्रिपाठी, अध्यक्ष, प्राच्य संस्कृत-विभाग, लखनऊ वि०वि०, लखनऊ।

डा० दरबारीलालकोठियामहोदयेन सम्पादिता आचार्यविद्यानन्दप्रणीता 'प्रमाण-परीक्षा' मयाऽवलोकिता। न्यायशास्त्रमर्मज्ञेन सम्पादकेन पुस्तकस्यास्य महतीं प्रस्तावनां प्रस्तुत्य समुपयोगित्वे महानुपकारो व्यधायि। प्रथमतस्तु तार्किकशिरोमणिनाऽचार्येण लघुकायेऽस्मिन् ग्रन्थे निजसिद्धान्तापेक्षितान् सर्वान् न्यायनयान् निवेश्य स्वेतरसकलदार्शनिकमतानि साधु समीक्ष्य प्रमाणस्य लक्षणमङ्गानि च परीक्ष्य तत्संख्यां विषयं फलञ्च निर्णीय अन्वर्थमुखेन निरमायि। ग्रन्थोऽयं जैनप्रमाणशास्त्रे सारल्येन प्रवेष्टुमभिलषतां छात्राणाम् अल्पीयसा श्रमेण विवसनप्रमाणतत्त्वबुभुत्सूनां दर्शनान्तरबुधां सामान्यजिज्ञासूनां कृतेऽतीवोपयुज्यते। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' न्यायात् प्रमेयपदार्थानवगन्तुं प्रमाणशास्त्रस्यावश्यकता महत्ता सर्वविदिते विनेदं तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम्।

सम्पादनप्रक्रियाऽस्य महती समीचीना लिखित-मुद्रितविभिन्नपुस्तकैः पाठशुद्धिं विधायावबोधनाय पादटिप्पण्यां पाठभेदानप्युपन्यस्य विषयानुसारमनुच्छेदं झटिति विषयज्ञानाय कतिपयाक्षरद्वारा तत्तन्निर्दिष्टविषयान् सँसूच्यादौ विषयसूचीं चोपस्थाप्य सर्वथोपकरोति।

विंशत्युत्तरशतपृष्ठात्मिकायां सारगर्भितायां प्रस्तावनायाम् आदौ ग्रन्थ-तद्भाषा-शैली-प्रयोजन-विषय-तद्विभागान् सम्यक् परिचाय्यानन्तरं महता श्रमेण प्राचीनानां जैनदार्शनिकानां कुन्दकुन्द-गृद्धपिच्छ-समन्तभद्र-सिद्धसेन-पूज्यपाद-अकलङ्क-विद्यानन्द-माणिक्यनन्दि-देवसूरि-हेमचन्द्र-प्रभृतीनां प्रमाणविषयकं मतं दर्शनान्तरमतोल्लेखपूर्वकं साधु विमृश्य विचिन्त्योपन्यस्तम्। येन प्रमाणज्ञानपाटवमातनोति विनेयहृदयेषु सहजतयैषा प्रस्तावना। अनन्तरं सम्पूर्णस्य ग्रन्थस्यानुवादः सरलया सुगम्यया प्रौढया मातृभाषया सन्निहितः। सोपि पादटिप्पण्या समलङ्कृतः सूचीस्यूतश्च यो जिज्ञासूनां हिताधायकोऽनायासेनैव विषयान् परिचाययति पाण्डित्यञ्च प्रोद्दीपयति प्रकुरुते सम्पादकज्ञानगौरवप्रकाशम्।

आशासे प्रकरणस्यास्योपयुक्तसामग्रीसङ्कलितस्योपयोगिता समादरश्च बुधजनेषु द्राग् भवितारौ नूतनरीत्या सम्पादितमिदं पुस्तकं सत्वरमेव प्रचारप्रसारत्वे लप्स्यते।

प्रौढमनोरमाशब्दरत्नयोर्विचारभेदानां युक्तायुक्तत्वसमीक्षा- डा० सुधीर नारायण ठक्कुर, व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य, साहित्यरत्न, विद्यावारिधि; प्राप्तिस्थान-५/४८, त्रिपुराभैरवी, वाराणसी; उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत तथा सम्मानित; पृष्ठ स० अ-थ + २२२, मूल्य ११ रूपये ।

समीक्षक-- प० रामनारायण त्रिपाठी, अध्यक्ष, प्राच्य संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ।

डा० सुधीरनारायणठक्कुरप्रणीतं राष्ट्रप्रदत्तवित्तसाहाय्येन प्रकाशितं स्वनामधन्यानां प्रातःस्मरणीयानां श्रीमतां श्रीकरपात्रस्वामिमहाभागानां शुभाशंसनेन सम्बलितं प्रौढमनोरमाशब्दरत्नयोर्विचारभेदानां युक्तायुक्तत्वसमीक्षानामकं शोधप्रबन्धात्मकं पुस्तकं मे दृष्टिगोचरतां नीतम् ।

नाम्नैव स्वविषयं प्रकाशयदिदं पुस्तकं प्रौढपाण्डित्यरसिकानां शाब्दिकानां मध्ये स्वयमेव स्वोपयोगितां ख्याति । प्रसिद्धमेतद् यद् व्याकरणं षट्सु वेदाङ्गेषु प्रधानाङ्गं मुखं सर्वविद्योपकारकं 'काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्' इति । सम्प्रति व्याकरणशिक्षणविधौ शब्दसाधुत्वविषये भट्टोजीदीक्षितनिर्मिता सिद्धान्तकौमुदी सर्वत्र समादृता, इति न केषाञ्चिदविदितमस्ति । तस्या एवार्धाङ्गत्वेन तेन ग्रन्थकृता तद्विषयपूर्त्यै प्रौढमनोरमाख्या तट्टीका व्यरचि । यस्या व्याख्यानं ग्रन्थग्रन्थिस्फोरणपूर्वकं क्वचन ग्रन्थकाराभिमतं युक्तयुक्त्या निरस्य स्वाभीष्टं संसाध्य प्रौढतरं शब्दरत्नाभिधेयं श्रीहरिदीक्षितेन व्यधायि । अतो बहुषु स्थलेषु मूलग्रन्थकारटीकाकारयोश्च मतभेदो जातः, 'तत्र किं युक्तं किमयुक्तम्' एवंविधस्य समीक्षणस्य महती आवश्यकता । यस्याः पूर्तिः श्रीमता ठक्कुरेण भूरिपरिश्रमेण ग्रन्थममुं निर्माय सम्पादिता । ग्रन्थस्यास्य निर्माणे ग्रन्थकृता प्रायः पाणिनीयव्याकरणनिकायग्रन्थाँस्तद्विचाराँश्च बहुषु स्थलेषु समुपयोज्य तथावश्यकतानुसारमपाणिनीयव्याकरणग्रन्थाँस्तद्विचाराँश्चोपन्यस्य मतभेदस्थलानि बहुशो विमृश्य स्वकीयदृष्ट्या युक्तायुक्तत्वं समीक्ष्य निभालिता शाब्दिकगवेषणापद्धतिः सम्यक्तया ।

पुस्तकमिदं प्रौढपाण्डित्यजिज्ञासूनां वैयाकरणानां कृते महद्धिताधायकं सर्वथोपकरिष्यतीति विश्वसिति ।

'बाल-समस्या' विशेषांक- १९८० : संपादक-मण्डल– डा० सरयूप्रसाद चौबे, श्री राजनाथ शर्मा एवं श्री विनोदकुमार अग्रवाल; प्रकाशक– साहित्य परिचय मासिक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा; पृष्ठ- लगभग २००; मूल्य- १२/-, पुस्तकालय संस्करण (सजिल्द) २०/- ।

समीक्षक— श्री गौरीशंकर पाण्डेय, प्रशिक्षण–विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)

अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष के महत्त्व और बालकों के विकास एवं उनकी शिक्षा से संबंधित समस्याओं की गम्भीरता को स्वीकारते हुए 'साहित्य-परिचय' मासिक ने अपनी पूर्व-परम्परा का सफल निर्वाह करते हुए प्रस्तुत बारहवाँ विशेषांक पुष्प सज-धज के साथ प्रकाशित किया है । राष्ट्रो-

न्नयन में वस्तुतः बालकों का सर्वाङ्गीण विकास महनीय भूमिका अदा करता है। उन्हीं पर किसी भी देश तथा जाति का भविष्य निर्भर करता है और सच पूछिए तो वे ही देश की धरोहर होते हैं। अतएव उनकी विभिन्न समस्याओं का सम्यक् अध्ययन एवं उनका सामयिक तथा समुचित समाधान आवश्यक है। मुझे प्रसन्नता है– साहित्य-परिचय ने अपने आलोच्य विशेषांक द्वारा बालसमस्या-जगत् को बारीकी से समझने और अनुसारतया समस्याओं को निराकृत करने के उपायों को सुझाने का भरपूर प्रयत्न किया है। इसके कतिपय लेख, सूक्ष्मता से यदि देखा जाय, तो ऐसी योजना और विधि के निर्माण और अनुपालन की ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा भारतीय बालकों को देश के वातावरण में, देशीय साधनों और उपकरणों द्वारा शिक्षित तथा विकसित किया जा सकता है। यह और भी अच्छी बात है।

मेरा विश्वास है– विशेषांक से शिक्षक, प्रशिक्षक, अभिभावक, शिक्षा-प्रशासक, समाज-शास्त्री, शिक्षा-मनोवैज्ञानिक, शिक्षा-दार्शनिक तथा मनो-चिकित्सक आदि सभी शिक्षा-प्रेमीजन यथेष्ट लाभान्वित होंगे।

अद्वैत वेदान्त में आभासवाद– डा० सत्यदेव मिश्र; रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, बिड़ला तकनीकी एवं विज्ञान संस्थान, पिलानी (राजस्थान); प्रकाशक- श्रीमती इन्दिरा मिश्र, १८९ सी, बिद्याविहार, पिलानी (राज०); प्रथम संस्करण, १९७९; पृ०सं० VIII+II+३२०; मूल्य ६० रूपये मात्र।

समीक्षक– श्री रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद(उ०प्र०)

जीव और उसके व्यावहारिक स्वरूप की विवेचना के समय हमारे समक्ष सम्प्रदायत्रय— प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद और अवच्छेदवाद– दिखाई पड़ते हैं जो क्रमशः पद्मपाद, सुरेश्वर तथा वाचस्पति मिश्र से सम्बद्ध हैं। इनमें प्रथम दो प्रज्ञानाद्वैत के संस्थापक आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य हैं।

पद्मपाद के अनुसार जीव, अन्तःकरण पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब है, सुरेश्वर के अनुसार जीव, अन्तःकरण पर चिदात्मा का आभास है तथा वाचस्पति के मत में जीव, अन्तःकरण के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य है।

यह ग्रन्थ शाङ्कर वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में आभासवाद का पहला विशद और समीक्षात्मक अध्ययन है। दर्शनशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० सत्यदेव मिश्र ने अपने इस ग्रन्थ में उपनिषदों से आभासवाद की उत्पत्ति सिद्ध करते हुए शङ्कर, सुरेश्वर, सर्वज्ञात्मन्, आनन्द-गिरि तथा विद्यारण्य प्रभृति अद्वैताचार्यों के आभास-प्रस्थानों का विविक्त और प्रामाणिक निरूपण प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थ को सात अध्यायों में निबद्ध किया गया है। प्रथम अध्याय दर्शनशास्त्र के उद्गम की पृष्ठभूमि से प्रारम्भ होकर उपनिषद् के स्वरूप और प्रतिपाद्य विषय पर चर्चा करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र को अवच्छेद, प्रतिबिम्ब और आभास का समर्थक कहकर

विश्रमित होता है । द्वितीय अध्याय में शाङ्कर ग्रन्थों में अवच्छेद की शब्दावली, प्रतिबिम्ब की शब्दावली तथा आभास की शब्दावली पर चर्चा के साथ आभास की शब्दावली के परिसर में जगज्जीव और ईश्वर का निरूपण प्रस्तुत किया गया है । तृतीय अध्याय सुरेश्वराचार्य प्रतिष्ठापित आभास-प्रस्थान के विशद विवेचन तथा बन्धन निवृत्ति के उपाय के सविस्तार वर्णन से आपूरित है । चतुर्थ अध्याय में सर्वज्ञात्ममुनि सम्मत आभास-प्रतिबिम्ब-समन्वयवाद पर आशातीत प्रकाश डाला गया है । पंचम और षष्ठ अध्याय क्रमशः आनन्दगिरि तथा विद्यारण्य सम्मत आभास-प्रस्थान पर चर्चा करता है। सप्तम अध्याय प्रत्यभिज्ञादर्शन के परिवेश में आभासवाद के समीक्षात्मक विवेचन के साथ उपसंहार को प्राप्त करता है । ग्रन्थ के अन्त में शब्दानुक्रमणिका का अकारादि क्रम प्रशंसनीय है । शब्दानुक्रमणिका के बाद ग्रन्थानुक्रमणिका सम्बद्ध है, जिसे देखकर लेखक का पाण्डित्य तथा अगाध अध्ययन सहज सिद्ध हो जाता है ।

मुद्रण-सम्बन्धी नाममात्र की कमियों के बावजूद यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के अध्येताओं और अनुसन्धानकर्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा– ऐसा मेरा विश्वास है ।

वैदिक संस्कृति और दर्शन – डा० विश्वम्भर दयाल अवस्थी; एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच०डी०, डी०लिट्; अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, अतर्रा पोस्टग्रैजुएट कालेज, अतर्रा, बाँदा, (उ०प्र०); प्रकाशक– सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, ६९, नया बैरहाना, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण, १९७८; पृष्ठ सं० २८८; मूल्य ५० रूपये; उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत ।

समीक्षक— श्री रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद ।

वस्तुतः वेद विश्व की प्राचीनतम दैवी कृति है । वेद ही सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, दर्शन आदि का स्रोत है । मानव सभ्यता के विकास-क्रम की धरोहर वेदों में निहित है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में वेदों के साथ उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि साहित्य का भी योगदान रहा है । भारतीय दार्शनिक चिन्तन-सरणि के मूल यद्यपि उपनिषद् हैं, तथापि उनके बीज संहिताओं में ही सुरक्षित हैं ।

ग्रन्थ का प्रारम्भ महर्षिकल्प डा० मुन्शीराम शर्मा की लघु भूमिका से होता है, जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय संस्कृति का समुचित विकास ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय से ही हो सकता है तथा यह सब कुछ व्रत और दीक्षा पर अवलम्बित है ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया गया है । प्रथम भाग संहिता, चरण, मन्त्र, देवता, ऋषि, रचना-काल, वैदिक भाषा तथा ब्राह्मणग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय में निबद्ध है। द्वितीय भाग भारतीय संस्कृति के प्रमुख वर्ण्य विषयों से समृद्ध है । इसमें सात अध्याय हैं जो क्रमशः भारतीय संस्कृति, संस्कार, अवतारवाद, आचार और धर्म, वर्णाश्रम-व्यवस्था, पुनर्जन्म और परलोक तथा साधनामार्ग से संवलित हैं । भारतीय आर्ष साहित्य पर आस्था और विश्वास उत्पन्न करने वाला

अध्याय पुनर्जन्म और परलोक से सम्बद्ध है। ग्रन्थ का तृतीय भाग वैदिक दर्शन पर प्रकाश डालता है, जिसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं— दर्शन की विशेषताएँ; वेदप्रतिपादित दार्शनिक भावना; जीव, ईश्वर, जगत् का स्वरूप, ऋतम् का सिद्धान्त; माया, मोक्ष और उसके साधन; मधुविद्या, नाचिकेताग्नि तथा प्राणविद्या। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत ऋग्वेद-मन्त्रद्रष्टा ऋषि, आर्यों का आदि देश, सिन्धु सभ्यता, अनार्य, सोमरस, पुरोहित, गो, गंगा आदि वर्ण्य विषय हैं। सबसे अन्त में संस्कृत और हिन्दी से सम्बद्ध सहायक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई है, जिससे लेखक के गहन अध्ययन का प्रमाण मिलता है।

'सरस्वती प्रकाशन मन्दिर' भी बधाई के योग्य है क्योंकि अपनी सीमा में पुस्तक को काफी शुद्धता के साथ प्रकाशित करने का प्रयास उसने किया है। पुस्तक का मुखपृष्ठ बहुत ही आकर्षक है। हमें विश्वास है कि भारतीय संस्कृति और भारतीय दर्शन के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन– डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य; सम्पादक– डा० गोकुलचन्द्र जैन, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; प्रकाशक– मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, १/१२८, डुमराँव कालोनी, अस्सी, वाराणसी, (उ०प्र०); प्रथम संस्करण, १९८०; पृष्ठ सं. २९+५४४; मूल्य ७५ रूपये।

समीक्षक– श्री रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, फैजाबाद (उ०प्र०)

जैन-दर्शन और प्रमाण-परीक्षा से सम्बद्ध प्रस्तुत विशालकाय प्रस्थान-ग्रन्थ की समीक्षा करने के निमित्त ज्यों ही मैंने दुस्साहस किया, ग्रन्थ के अन्तः मुखपृष्ठ पर एक सौम्य, अगाध पाण्डित्य मण्डित, कल्पनातीत विनम्रता की प्रतिमूर्ति, सात्विक परिधान युक्त चित्र पर दृष्टि पड़ी। ग्रन्थ की समीक्षा का साहस समाप्त हो गया। व्यक्तित्व से ही ग्रन्थ की मौलिकता स्पष्ट हो रही थी। अब तक तो पत्राचार से ही 'विद्या ददाति विनयम्' की उक्ति को डाक्टर साहब चरितार्थ कर रहे थे और सम्प्रति तो चित्र से प्रत्यभिज्ञान के समय किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति हो चली है। अस्तु,।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट' का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। तत्पश्चात् डा० श्रीचन्द्र जैन संगल के औपचारिक 'प्रकाशकीय' के बाद सम्पादक डा० गोकुलचन्द्र जैन का 'सम्पादकीय' डा० कोठिया की विद्वता और प्रतिभा का ज्ञान कराने में पर्याप्त सामर्थ्य रखता है। सम्पादकीय के अन्तर्गत 'डा० दरबारीलाल कोठिया और उनका अवदान' शीर्षक में सम्पादक ने डा० कोठिया के संक्षिप्त जीवन-परिचय के साथ, उनकी कृतियों, मानद सेवाओं, मानद उपाधियों और सम्मान की ओर संकेत किया है। डा० कोठिया की कृतियों को देखने से वे एक विद्वान् की सीमा से बाहर महर्षि तथा आर्ष व्यक्तित्व से समलंकृत प्रतीत होते हैं। अध्यात्मकमलमार्तण्ड, न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, शासनचतुर्स्त्रिंशिका, स्याद्वादसिद्धि, प्राकृतपद्यानुक्रमणी, प्रमाणप्रमेयकलिका, समाधिमरणोत्साहदीपक, द्रव्यसंग्रह, जैन तर्कशास्त्र में अनुमानविचार, प्रमाण-

परीक्षा तथा समीक्ष्य ग्रन्थ उनकी दैवी प्रतिभा के प्रमाण हैं। डा० कोठिया के दार्शनिक ग्रन्थों को देखने से वे 'दार्शनिक जगत् के एकमात्र सारस्वत चक्रवर्ती' परिलक्षित होते हैं। सम्पादक के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की दो गुनी सामग्री अभी प्रकाशन-योजना में है। बैठा था समीक्षा लिखने ग्रन्थ की; समीक्षा होने लगी डाक्टर साहब की, जो वेदान्त के ब्रह्म की भाँति वाणी और लिपि की सीमा से परे हैं।

परिशिष्ट को लेकर ग्रन्थ २५ विश्रामों में विश्रान्ति ले रहा है, जो क्रमशः जैनदर्शन आगम-शास्त्र-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आचार्य कुन्दकुन्द का प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन, आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण, तत्त्वार्थसूत्र में न्यायशास्त्र के बीज, तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा, स्वामी समन्तभद्र और जैनदर्शन को उनकी देन, निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र, नागार्जुन और समन्तभद्र, दिग्नाग और समन्तभद्र, कुमारिल और समन्तभद्र, धर्मकीर्ति और समन्तभद्र, गन्धहस्तिभाष्य, देवागम आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डकश्रावकाचार की प्राचीनता पर अभिनव प्रकाश, रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति है। रत्नकरण्डक-टीका और उसके कर्ता का समय, आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चयटीका, आचार्य विद्यानन्द और उनकी अपूर्व देन, आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, माणिक्यनन्दि और उनका परीक्षामुख, अभिनवधर्मभूषण और उनकी न्यायदीपिका, नरेन्द्रसेन और उनकी प्रमाणप्रमेयकलिका तथा परिशिष्ट शीर्षकों में निबद्ध है। परिशिष्ट (१) में प्रस्तुत ग्रन्थ के शीर्षकों के समय-समय पर नाना पत्रिकाओं में प्रकाशन का विवरण दिया गया है तथा परिशिष्ट (२) में जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र विषयक विशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थ की सूची प्रकाशन के साथ प्रस्तुत की गई है, जिससे जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र के अनुसन्धित्सुओं को विशेष लाभ हो सकता है।

ग्रन्थ में वर्णित विषयों की गहनता की समीक्षा करना मेरी सीमा के बाहर है। वस्तुतः यह ग्रन्थ जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र का विश्वकोश है। सम्पादक के शब्दों में यह ग्रन्थ 'अर्धशताब्दी से अधिक दीर्घकालव्यापी उनके अनुसन्धान कार्यों का यह एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो भारतीय विद्या की विशिष्ट विधा जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र के अनुसन्धित्सुओं के लिए दुर्लभ सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध होगा'।

ग्रन्थ के शुद्ध प्रकाशन और गेट-अप की मोहकता की जितनी प्रशंसा की जाय, कम ही है। डा० कोटिया स्वयं में जैनधर्म और दर्शन की साक्षात् मूर्ति हैं। उनके विषय में 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कहकर समीक्षा का उपसंहार करना ही समीचीन प्रतीत हो रहा है।

Navarasamanjara and **Suryodaya Kavyam** by *Narahari* and *Hari* respectively; Edited and published by Dr. P. G. Lalye, Prof. and Head of the Deptt. of Sanskrit, Osmania University, Hyderabad; Pages 81+92; Price : Rs. 25/-.

Reviewed by Sri Rama Shankar Mishra, Deptt. of Sanskrit, Saket P. G. College, Faizabad (U. P.)

It is really a creditable work on part of Dr. P. G. Lalye who, after his continued efforts succeeded in borrowing these two manuscripts from the

Bharata Gunavardhaka Samstha, Hyderabad and *Andhra Pradesh Marathi Sahitya Parishad, Hyderabad* respectively for their publication. These manuscripts will, no doubt, attract the mind of Sanskrit scholars for their brilliant handling of the subjects. *Navarasamanjari* is on *Alankara Shastra* while *Suryodaya Kavyam* is in form of a narrative poetry in *Champu*-Style. The learned editor has simply presented the texts without any comment whatsoever.

Navarasamanjari is a work on *Alankara Shastra.* Its author is some *Narahari*, who appears a court-poet of *Nadamurtri*, who according to some Historians ruled over *Bijapur* during the period 1582 to 1627. The book is divided into six *Ulhasas* dealing with all aspects of *Alankara Shastra.* The first *Ulhasa* is in praise of his preceptor *Ibrahim* who took interest in every branch of fine arts and was really a versatile genius. Second chapter deals with types of *Nayaka-Bheda* while third and fourth are on *Nayika-Bheda.* The fifth discusses *Rasas* and its origin. In the last sixth chapter *Sri Narahari* gives a detailed account of various *Bhavas.* The manuscript is really a piece of research and may prove boon for scholars who really intend to work in Sanskrit rhetoric and its tradition.

The next manuscript bears the title of *Suryodaya Kavyam* or *Khandesari-Lila-Vilasa.* The colophon gives the name of the writer as *Hari.* The book is a narrative in *Champu-Style.* The poet appears to be impressed with the story of *Suratha* and *Samadhi* as told in *Devi-Mahatmya* of *Markandeya-Purana.* The story is of some *Surya*, the son of *Jnanaraja* and *Ambika.* *Surya* was a brilliant scholar of many *Shastras.* He was a devotee of *Khandesari-devi* and as per story he had, actually. seen *Devi* in her visible form. The content of the text appears to be in orthodox-style, yet is attractive in its presentation of various valuable thoughts on *Yoga*, *Jyotish* and *Tantra.* Basically its genre seems to be spiritual in poetic form.

Scholars, interested in research work, will, no doubt, get sufficient materials and they should, really, work into it. Commentary on the texts further will unveil some more facts but one should wait till then.

As a matter of fact, despite some minor mistakes in printing, the editor deserves an appreciation for his risk and endeavour to bring out these unpublished manuscripts at his own cost even in this time of extreme dearness.

श्रीहर्ष प्रणीत नाटिकायें : एक सांस्कृतिक अध्ययन–श्री अशोक पाराशर, एम० ए० (संस्कृत), एम० फिल०, राजस्थान वि० वि० जयपुर, प्रकाशक–अजयकुमार अजीत कुमार, जमुना डेरी, सोडाला पुलिस चौकी, अजमेर रोड, जयपुर, प्रथम संस्करण, जनवरी १९८०, पृष्ठ सं० १६०, मूल्य १२·५० रूपये ।

समीक्षक–श्री रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत महाविद्यालय फैजाबाद

नाट्य की सुकुमार विधा के रूप में हम नाटिकाओं का दर्शन करते हैं । श्रीहर्ष नाटिकाओं के प्रणयन में वस्तुतः 'निपुण कवि' हैं । कम समय में सहृदयों को अत्यधिक रंजित करने की सामर्थ्य नाटिकाओं में ही है । श्री पाराशर ने स्तर के अनुकूल विषय का चयन किया है ।

लेखक के लघु प्रावकथन के बाद सम्पूर्ण पुस्तक पाँच अध्यायों में आबद्ध है । प्रथम अध्याय कवि-परिचय तथा द्वितीय ग्रन्थ-परिचय से प्रारम्भ होता है । तृतीय अध्याय में भारतीय संस्कृति पर चर्चा है । चतुर्थ अध्याय कई उपशीर्षकों में निबद्ध है; जैसे–समाज रचना, सामाजिक दशा, नारी एवं विवाह, शिक्षा, धार्मिक दशा, आर्थिक दशा तथा कला–कौशल आदि । पाचवें अध्याय में तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का चित्रण किया गया है । अन्त में उपसंहार शीर्षक में श्री-हर्ष के समय, समाज, धर्म, संस्कृति और राजनीतिक अवस्था पर चर्चा की गई है । लगता है कि पूरी की पूरी पुस्तक का सारांश यहाँ प्रस्तुत किया गया है । सबसे अन्त में सहायक ग्रन्थों की सूची संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी-भाषा-क्रम में उपलब्ध है ।

लेखक का यह लघु शोध-प्रबन्ध वास्तव में प्रकाशन के योग्य था । पुस्तक का गेट अप अच्छा है । पुस्तक के कबर के पृष्ठ भाग में लेखक का विशाल परिचय पुस्तक की गंभीरता को कुछ शिथिल कर रहा है । पुस्तक का मुद्रण समय के अनुसार सन्तोषजनक है । हमें विश्वास है कि श्रीहर्ष पर कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी ।

आवश्यक सूचनायें

१– 'कोसल' जर्नल के लिए शोध-पत्र, टिप्पणी, ग्रन्थ–समीक्षा या सूचना हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेजी भाषाओं में से किसी में भी प्रेषित की जा सकती है।

२– फुलस्केप कागज के एक ओर स्पष्ट रूप से टंकित शोध-पत्र की दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक हैं।

३– शोध-पत्र सामान्यता १० पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए।

४– शोध-पत्र में उपयोग किये गये ग्रन्थों के संस्करण और पृष्ठादि का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५– शोध-पत्र में प्रयुक्त ब्लाक का व्यय भार लेखक को ही वहन करना पड़ेगा।

६– जर्नल के लिये प्राप्त शोध-पत्रों की सूचना तुरन्त भेजी जायगी और प्रकाशनार्थ स्वीकृति की सूचना दो मास के अन्दर चली जायगी। इससे अधिक विलम्ब होने पर लेखक को चाहिए कि वे सम्पादक से पूछताछ कर लें।

७– सम्पादक मंडल को जर्नल के लिए प्राप्त शोध-पत्रों को स्वीकृत-अस्वीकृत करने तथा सम्पादित करने का पूरा अधिकार होगा।

८– प्रत्येक शोध-पत्र के लेखक को जर्नल के अंक की एक प्रति, जिसमें उसका लेख प्रकाशित होगा, दी जायगी; किन्तु शोध-पत्र की १५ अनुमुद्रितियों के अतिरिक्त अनुमुद्रितियों की माँग पर प्रकाशन–भार [रु० १५/०० प्रति पृष्ठ की दर से] वहन करने पर ही दी जा सकेगी; इसके लिए वे सम्पादक से सम्पर्क करें। टिप्पणियों और ग्रन्थ-समीक्षाओं के लेखकों को जर्नल की एक प्रति निःशुल्क मिलेगी।

९– समीक्षार्थ प्रेषित ग्रन्थ की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

१०– ग्रन्थ-समीक्षाओं के प्रकाशनार्थ स्वीकृति–अस्वीकृति का अधिकार सम्पादक मंडल को होगा।

११– जर्नल के लिए शोध-पत्र और पत्रादि इस पते पर भेजना चाहिए-सम्पादक, 'कोसल', दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध, १२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद-२२४००१ (उ० प्र०)

घोषणा—पत्र

समाचारपत्र- रजिस्ट्रीकरण (केन्द्रीय) नियमावली, १९५६ के नियम ८ (१) के अधीन प्रकाशितव्य स्वामित्व-सम्बन्धी तथा अन्य विवरण ।

(पारूप-चार)

१ प्रकाशन का स्थान— दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध,
१२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद— २२४००१

२ प्रकाशन की कालिकता— षाण्मासिक

३ मुद्रक (१) नाम—डा.हौसिलाप्रसाद सिंह (दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध की ओर से)
(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— हिन्दी-विभाग, के. एस. साकेत पी. जी. कालेज, फैजाबाद
(अवध प्रिंटिंग प्रेस, रिकाबगंज, फैजाबाद में मुद्रित)

४ प्रकाशक (१) नाम— डा. गौरीशंकर तिवारी (दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध की ओर से)
(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, के. एस. साकेत पी. जी. कालेज, फैजाबाद

५ सम्पादक (१) नाम— श्री रमाशंकर मिश्र
(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— संस्कृत-विभाग, के. एस. साकेत पी. जी. कालेज, फैजाबाद

६ स्वामी का नाम और पता— दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध,
१२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद—२२४००१

मैं गौरीशंकर तिवारी, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये हुये ब्यौरे मेरे पूर्णतम ज्ञान और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(ह०) गौरीशंकर तिवारी
प्रकाशक
(दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध की ओर से)

वसन्त पञ्चमी,
सम्वत् २०३७
फरवरी ९, १९८१ ई०

Advisory Board

1. Acharya Vishvanath Prasad Mishra, Prof., Deptt. of Hindi, Banaras Hindu University, Varanasi.
2. Dr. A. C. Banerjee, Prof. and Head, Deptt. of Sanskrit, Gorakhpur University, Gorakhpur.
3. Dr. Bishvanath Banerjee, Prof. and Head, Deptt. of Sanskrit, Vishvabharati, Shantiniketan.
4. Dr. Gopikamohan Bhattacharya, Prof. and Head, Deptt. of Sanskrit, Kurukshetra University, Kurukshetra.
5. Dr. Lalta Prasad Pandey, Prof. Deptt. of History, Himachala Pradesh University, Simla.
6. Dr. Ram Lochan Singh, Vice Chancellor, Meerut University, Meerut.
7. Dr. Ram Singh Tomar, Prof. and Head, Deptt. of Hindi, Vishvabharati, Shantiniketan.
8. Dr. Sudhakar Pandey, Head, Deptt. of Ancient History, Culture and Archaeology, Sagar University, Sagar.
9. Dr. Satya Vrat Singh, Ex. Vice Chancellor, Sampurnanand Sanskrit, Vishvavidyalaya, Varanasi.
10. Dr. Sita Ram Jaiswal, Ex. Prof. and Head, Deptt. of Education, Lucknow University, Lucknow.
11. Dr. Tribhuvan Singh, Reader, Deptt. of Hindi, Banaras Hindu University, Varanasi.
12. Dr. Vikramaditya Rai, Ex. Prof. and Head, Deptt. of English, Banaras Hindu University, Varanasi.